श्री सिद्धिचन्द्र-उपाध्यायविश्वित अन्तिम्याणितिहरू

* प्रकाशक *

श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट

श्री सिद्धिचन्द्र-उपाध्यायविरचित भान्चन्द्रगणिचरित

🔆 प्रकाशक / प्राप्ति स्थान 🛠

दुकान नं. ५, बद्रिकेश्वर सोसायटी, C/o. श्री चंद्रकांतभाई संघवी ८२, नेताजी सुभाष रोड, मरीन ड्राइव, कनासानो पाडो, पाटण, (उ.गु.) ई रोड, मुंबई-४०० ००२. फोन : (०२७६६) २३१६०३

श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट

विज्ञप्तिकम्....

आपना करकमलमां उपस्थित उपाध्यायश्री सिद्धचंद्रगणिविरचित 'भानुचन्द्रगणिचिरत्र'ना पुनर्मुद्रण प्रसंगे, आनंद अने हर्षनी ऊर्मि अनुभवीए छीए ... अकबरना वखतमां थयेल श्री भानुचंद्रगणिना प्रसंगोनुं चार सर्गात्मक अत्रे कथन छे ... ऐतिहासिक ग्रंथ तथा काव्यापेक्षाए आनु मूल्यांकन छे ...

जैनसहित्यपरंपरामां साहित्यविषयक घणों भाग चरित्रग्रंथों काव्यादिमय छे...कारण द्रव्यानुयोगनी प्रधानता छतां प्रभूत जनभोग्य तो धर्मकथानुयोग ज बने छे...सर्व जीवोने धर्म प्रति वाळवामां आ धर्मकथाओं, चरित्र ग्रंथों ज प्रबळ भाग भजवे छे अने ए ग्रंथों जनसमूह सुधी पहोंचे ए घणी अगत्यनी बाबत बनी रहे छे.

प्रस्तुत ग्रंथनुं संपादन श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई (B.A., L.L.B., एडवोकेट, हाइकोर्ट, मुंबई) ए कर्युं छे. आ उपरांत जैन गुर्जर कविओ भाग १ थी ५, जैन साहित्य संक्षिप्त इतिहास आदि ग्रंथोना तेओ लेखक पण छे. आ ग्रंथ आजथी ६२ वर्ष पूर्वे सींधी जैन ग्रंथमाला, अमदावाद कलकत्ता द्वारा प्रकाशित थयेल...आजे जूज मात्रामां ज उपलब्ध थतो आ ग्रंथ (आवतीकाले अनुपलब्ध न बनी जाय) एवा ज एक उमदा हेतुथी पुनर्मुद्रित थइ रह्यो छे...आ प्रसंगे पूर्वसंपादक अने पूर्वप्रकाशक प्रत्ये कृतज्ञतानी लागणी व्यक्त करीए छीए

'ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्षः' मां प्रथम ज्ञान मूक्युं. 'पढमं नाणं तओ दया' इत्यादि शास्त्रपाठो द्वारा ठेर ठेर ज्ञाननो अपूर्व महिमा गवायो छे. आ ज्ञाननो अनुयोग प्रभुवीर शासनना अंतिम आचार्य दुप्पसहसूरि सुधी अविच्छिन्नपणे वहेतो राखवानी जवाबदारी आपणा सौनी छे. अने ए माटे ज आजथी २५ वर्षो पूर्वे प.पू.आचार्य भगवंत श्री हेमचंद्रसूरिजीनी प्रेरणा अने मार्गदर्शन हेठळ आ कार्य उपाडायुं...अद्यावधि २६५ थी अधिक ग्रंथोनी ४५०/४५० जेटली नकलो जिनशासनना विविध ज्ञान भंडारोमां भेट अपाय छे. हजी पण आ कार्य चालु ज छे. श्रुतिधष्टायिका श्री सरस्वती देवी अमोने आ कार्यमां सहायता बक्षे ए ज अभ्यर्थना सह....

लि... श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट

ट्रस्टीओ चंद्रकुमार बाबुमाइ जरीवाला ललितकुमार रतनचंद कोठारी पुंडरिकमाइ अंबालाल साह

गुरुराज को सदा मोरी वंदना

अशिष अश्वाति श्रेश्वाति श्रेश्वाति विवाकर परमगीतार्थ आचार्यदेव
श्रीमद् विजयजयघोषसूरी श्ररजी महाराजा

३५ प्रेरक-मार्गदर्शक ¾ वैराग्यदेशनादक्ष प.पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजयहेमचंद्रसूरि म.

भावपूर्ण अनुमोदना

श्री सिद्धिचन्द्र - उपाध्याय विरचित
"श्रानुबन्द्रगणिबरिद्धा" ना प्रकाशननो संपूर्ण लाभ
परमशासनप्रभावक पूज्यपाद् आचार्यदेव श्रीमद्
विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराजानी दिव्यकृपाथी
"श्री त्रिभुवनतारक तीर्थाधिराज चातुर्मास
आराधक समिति, पालीताणा" तरफथी
ज्ञाननिधिमांथी लेवामां आवेल छे.

समितिना ज्ञाननिधिना आ सदुपयोगनी भूरि भूरि अनुमोदना करीए छीए !

> लि... श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट (मुंबई)

श्रुतसमुद्धारक

- ৭. भाणबाइ नानजी गडा, मुंबइ. (प.पू. गच्छाघिपति आचार्यदेव श्रीमद्विजय मुवनभानुसूरीश्वरजी म.सा. ना उपदेश्वथी)
- २. शेट आणंदजी कल्याणजी, अमदावाद.
- श्री शांतिनगर श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ, अमदावाद.
 (प.पू. तपसम्राट आचार्यदेव श्रीमदिवजय हिमांशुसूरि म.सा.नी प्रेरणाथी)
- ४. श्री श्रीपाळनगर जैन उपाश्रय ट्रस्ट, वालकेश्वर, मुंबइ, (प.पू. गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचंद्रसूरि म.सा. नी दिव्यकृपा तथा पू. आचार्यदेव श्रीमद्विजय मित्रानंद सू. म.सा. नी प्रेरणाथी)
- ५. श्री लावण्य सोसायटी श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ, अमदावाद. (प.पू. पंन्यासजी श्री कुलचंद्रविजयजी गणिवर्यनी प्रेरणाथी)
- ६. नयनबाळा बाबुभाइ सी. जरीवाळा हा. चंद्रकुमार, मनीष, कल्पनेञ्ज (प.पू. मुनिराज श्री कल्याणबोधि विजयजी म.सा. नी प्रेरणाथी)
- ७. केश्ररबेन रतनचंद कोठारी हा. ललितभाइ (प.पू. गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयघोषसूरीश्वरजी महाराजनी प्रेरणाथी)
- ८. श्री श्वेतांबर मूर्तिपूजक तपगच्छीय जैन पौषधशाळा ट्रस्ट, दादर, मुंबइ.
- ९. श्री मुलुंड श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ, मुलुंड, मुंबइ. (आचार्यदेव श्री हेमचंद्रसूरि म.सा. नी प्रेरणाथी)
- १०. श्री शांताकुझ क्षे. मूर्ति. तपागच्छ संघ, शांताकुझ, मुंबइ. (आचार्य देव श्री हेमचेंद्रसूरि म.सा. नी प्रेरणाथी)
- १९. श्री देवकरण मूळजीगाइ जैन देरासर पेढी, मलाड (वेस्ट), मुंबइ. (प.पू. मुनिराज श्री संयमबोधि वि. म.सा. नी प्रेरणाथी).
- 9२. संघवी अंबालाल रतनचंद जैन धार्मिक ट्रस्ट, खंमात. (पू.सा. श्री वसंतप्रभाश्रीजी म. तथा पू.सा. श्री स्वयंप्रभाश्रीजी म. तथा पू.सा. श्री दिव्ययशाश्रीजी म. नी प्रेरणाथी मूळीबेननी आराधनानी अनुमोदनार्थे)
- 9३. बाबु अमीचंद पनालाल आदीश्वर जैन टेम्पल चेरीटेबल ट्रस्ट, वालकेश्वर, मुंबई-४०० ০০६. (पू. मुनिराज श्री अक्षयबोधि विजयजी म.सा. तथा पू. मुनिराज श्री महाबोधिविजयजी म.सा. तथा पू. मुनिराजश्री हिरण्यबोधिविजयजी म.सा.नी प्रेरणाथी)
- १४. श्री श्रेयस्कर अंधेरी गुजराती जैन संघ, मुंबइ. (पू. मुनि श्री हेमदर्शन वि. म. तथा पू. मुनिश्री रम्यघोष वि. म. नी प्रेरणाथी)
- 94. श्री जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ, मंगळपारेखनों खांचो, शाहपुर, अमदावाद. (प.पू. आचार्यदेव श्री रुचकचंद्रसूरि म. नी प्रेरणाथी)
- १६. श्री पार्श्वनाथ श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ, संघाणी स्टेट, घाटकोपर (वेस्ट), मुंबइ. (पू. कल्याणबोधिव म. नी प्रेरणाथी)
- १७. श्री नवजीवन सोसायटी जैन संघ, बोम्बे सेन्ट्रल, मुंबइ. (पू. मुनिराज श्री अक्षयबोधि वि. म. नी प्रेरणाथी)
- 9८. श्री घाटकोपर जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ, घाटकोपर (वेस्ट), मुंबइ (वैराग्यदेशनादक्ष पू.आ. श्री हेमचंद्रसूरि म.सा. नी प्रेरणाथी)
- ৭९. श्री कत्याणजी सोमागचंद जैन पेढी पिंडवाडा (राज.) (सिद्धांतमहोदधि स्व. आचार्य श्री विजय प्रेमसूरीश्वरजी म. ना संयमजी-वननी अनुमोदनार्थे.)
- २०. श्री आंबावाडी श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ, अमदावाद (पू. मुनि श्री कल्याणबोधि वि. म. नी प्रेरणाथी)
- २१. श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजिक संघ, वासणा, अमदावाद. (पू. आचार्य श्री नररत्नसूरि म. ना संयमजीवननी अनुमोदनार्थे पूज्य तपस्वी रत्न आचार्य श्री हिमांशुसूरीश्वरजी म.सा.नी प्रेरणाधी)
- २२. श्री प्रेमवर्धक आराधक समिति, धरणिधर, देरासर, पालडी, अमदावाद. (पू. गणिवर्य श्री अक्षयबोधिविजयजी म. नी प्रेरणाथी)
- २३. श्री महावीर जैन श्वे. मूर्तिपूजक संघ, पालडी, अमदावाद, श्वेठ केश्रवलाल मूळचंद जैन उपाश्रय. (प.पू. आचार्य श्री राजेन्द्रसूरि महाराजनी प्रेरणाथी)
- २४. श्री माटुंगा जैन क्षेता. मूर्तिपूजक तपगच्छ संघ एन्ड चेरिटीझ, माटुंगा, मुंबइ.
- २५. श्री जीवीत महावीरस्वामी जैन संघ, नांदिया. (राजस्थान) (पू. गणिवर्य श्री अक्षयबोधिविजयजी म.सा. तथा मुनिश्री महाबो-धिविजयजी म.सा. नी प्ररणाथी)
- २६. श्री विशा ओश्रवाळ तपगच्छ जैन संघ, खंभात. (वैराग्यदश्चनादश्च प.पू. आचार्य देव श्री हेमचंद्रसूरि म.सा. नी प्रेरणाथी)
- २७. श्री विमल नाथ जैन देरासर आराधक संघ, बाणगंगा, वालकेश्वर, मुंबइ-४०० ००६.
- २८. श्री पालिताणा चातुर्मास आराधना समिति. (परम पूज्य वैराग्य देशनादक्ष आचार्य देव श्रीमद् विजय हेमचंद्रसूरीश्वरजी महाराज साहेबना संवत २०५३ना पालिताणा मध्ये

चातुर्मास प्रसंगे थयेल ज्ञानद्रव्यनी ऊपजमांथी)

- २९. श्री सीमंघर जिन आराधक ट्रस्ट, एमरल्ड एपार्टमेन्ट, अंधेरी (इ.), मुंबइ. (प्रेरक मुनिश्री नेत्रानंदविजयजी)
- ३०. श्री धर्मनाथ पोपटलाल हेमचंद जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ, जैन नगर, अमदावाद.
- 39. श्री कृष्णनगर जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ, सैजपुर, अमदावाद. (प.पू. आचार्य विजय हेमचंद्रसूरीश्वरजी म.सा. ना कृष्णन-गर मध्ये संवत २०५२ना चातुर्मास निमित्ते प.पू. मुनिराज श्री कल्याणबोधिविजय म.सा. नी प्रेरणाथी)
- ३२. श्री बाबुगाइ सी. जरीवाळा ट्रस्ट, निझामपुरा, वडोदरा-३९० ००२. (प्रेरक - मुनि श्री कल्याणबोधि विजयजी म.)
- 33. श्री गोडी पार्श्वनाथजी टेम्पल ट्रस्ट, पुना. (पू. गच्छाधिपति आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयघोषसूरीश्वरजी म.सा. तथा पू. मुनिराज श्री महाबोधिविजयजी म.सा. नी प्रेरणाथी)
- ३४. श्री संखेश्वर पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मंदिर ट्रस्ट, भवानी पेठ, पुना. (पू. मुनिराज श्री अनंतबोधि विजयजी म.सा.नी प्रेरणाथी)
- ३५. श्री रांदेर रोड जैन संघ, सुरत. (पू.पं. श्री अक्षयबोधि विजयजी म.सा. नी प्रेरणाथी)
- ३६. श्री क्षेताम्बर मूर्तिपूजक तपागच्छ दादर जैन पौषधशाळा ट्रस्ट, आराधना भुवन, दादर, मुंबइ. (मुनि श्री अपराजित वि. म. नी प्रेरणाथी)
- ३७. श्री जवाहर नगर जैन श्वे, मूर्ति. संघ, गोरेगाम, मुंबइ. (पू.आ. श्री राजेन्द्रसूरि म.सा. नी प्रेरणाथी)
- ३८. श्री कन्याशाळा जैन उपाश्रय, खंभात. (पू.प्रवर्तिनी. श्री रंजनश्रीजी म.सा., पू.प्रवर्तिनी श्री इंद्रश्रीजी म.सा. ना संयमजीवननी अनुमोदनार्थे प.पू. सा. श्री विनयप्रभाश्रीजी म.सा. तथा प.पू.सा. श्री वसंतप्रभाश्रीजी म.सा. तथा प.पू. साध्वीजी श्री स्वयंप्रभाश्रीजी म.सा. नी प्रेरणाथी)
- ३९. श्री माटुंगा जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक तपागच्छ संघ एन्ड चेरीटीझ, माटुंगा, मुंबइ. (पंन्यास प्रवर श्री जयसुंदरिवजयजी गणिवर्यनी प्रेरणाथी)
- ४०. श्री संखेश्वर पार्श्वनाथ थे. मूर्ति. जैन संघ, ६० फुट रोड, घाटकोपर (इ.) (पू.पं. श्री वरबोधिविजयजी गणिवर्यनी प्रेरणाथी)
- ४१. श्री आदिनाथ श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ, नवसारी. (प.पू.आ. श्री गुणरत्नसूरि म.ना शिष्य पू. पंन्यासजी श्री पुण्यरत्निव-जयजी गणिवर्यनी तथा पू. पं. यशोरत्नविजयजी गणिवर्यनी.
- ४२. श्री कोइम्बतुर जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक संघ, कोइम्बतुर.
- ४३. श्री पंकज सोसायटी जैन संघ ट्रस्ट, पालडी, अमदावाद. (प.पू.आ. श्री भुवनभानुसूरि म.सा. नी गुरुमूर्ति प्रतिष्ठा प्रसंगे थयेल आचार्य-पंन्यास-गणि पदारोहण दिक्षा वगेरे निमित्ते थयेल ज्ञाननिधिमांथी)
- ४४. श्री महावीरस्वामी जैन श्वेतांबर मूर्तिपूजक देरासर, पावापुरी, खेतवाडी, मुंबइ. (प्रेरक मुनिश्री राजपालविजयजी तथा पं. श्री अक्षयबोधि वि. म.)
- ४५. श्री हीरसूरीश्चरजी जगदगुरु श्वेतांबर मूर्तिपूजक जैन संघ ट्रस्ट, मलाड (पूर्व), मुंबइ.
- ४६. श्री पार्श्वनाथ क्षे. मूर्ति पूर्ण जैन संघ, संघाणी एस्टेट, घाटकोपर (वेस्ट), मुंबइ. (प्रेरक गणि श्री कल्याणबोधिविजयजी म.)
- ४७. श्री मरीन ड्राइव जैन आराधक ट्रस्ट (मुंबइ).
- ४८. श्री सहस्रफणा पार्श्वनाथ जैन देशसर उपाश्रय ट्रस्ट, बाबुलनाथ मुंबइ. (गणिवर्य अपराजित विजयजीना शिष्य मुनि श्री सत्त्वभूषण विजयजीनी प्रेरणाथी)
- ४९. श्री गोवितया टेंक जैन संघ मुंबइ (पू. आचार्यदेवथी हेमचंद्रसूरि म.ना श्रिष्य गणिवर्य श्री कल्याणबोधि विजयजी म. नी प्रेरणाथी)
- ५०. श्री धर्मनाथ पोपटलाल हेमचंद जैन श्वे. मू. पू. संघ जैन नगर अमदावाद (पू. मुनि श्री सत्यसुंदर वि. नी प्रेरणाथी)
- ५१. रतनबेन वेलजी गाला परिवार, मुलुंड मुंबइ (मुनि श्री रत्नबोधि वि. नी प्रेरणाथी)
- ५२. श्री विमल नाथ जैन देशसर आराधक संघ बाणगंगा, वालकेश्वर, मुंबइ-६. (प्रेरक पू.आ. हेमचंद्रसूरि म.)
- ५३. श्री वाडीलाल साराभाइ देरासर ट्रस्ट, प्रार्थना समाज, मुंबइ (मुनि श्री राजपालविजयजी तथा पंन्यासेजी श्री अक्षयबोधिविज-यजी गणि)
- ५४. श्री प्रीन्सेस स्ट्रीट, लुहार चाल जैन संघ (प्रेरक-गणि कल्याणबोधि वि.म.)
- ५५. श्री धर्मञ्चाति चेरिटेबल ट्रस्ट, कांदीवली (इ), (प्रेरक: पू. मुनिश्री राजपालविजयजी म.सा., पू.पं. श्री अक्षयबोधिविजयजी म.सा.)
- ५६. पू.सा. श्री सुर्ययसाश्रीजी म., तथा पू. सा. श्री सुस्रीतयसाश्रीजी म. ना पार्ला इस्टमां थयेल चातुर्मासनी आवकमांथी ।
- ५७. श्री प्रेमवर्धक देवास श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन संघ, देवास (अमदावाद) ।

श्री जिनशासन आराधना ट्रस्ट-मुंबइ द्वारा प्रकाशित थयेला ग्रंथोनी सूचि

- जीवविचार प्रकरण सटीक दंडक प्रकरण ४५.
 न्यायसंग्रह सटीक
- धर्मसंग्रह सटीक भीग-१
 धर्मसंग्रह सटीक भाग-२
- ५. धर्मसंग्रह सटीक भाग-3
- ६. जीवसमास टीकानुवाद.
- ७. जंबुद्वीप संग्रहणी सटीक
- ८. स्याद्वादमंजरी सानुवाद
- ९. संक्षेप् समारादित्य केवळी चरित्र
- बृहत्सेत्रसमास सटीक
- बृहत् संग्रहणी सटीक
- १२. बृहत् संग्रहणी सटीक
- १३. चेइयवंदण महाभास१४. नयोपदेश सटीक
- १५. पुष्पमाळा (मूळ अने अनुवाद)
- ५५. पुष्पमाळा (मूळ अन अनुवाद १६. महावीर चरियं
- 9६. महावीर चरियं १७. मिल्लनाथ चरित्र
- १८ वासूपूज्य चरित्र
- १९. शांतसुधारस सटीक
- १९. शातसुधारस सटा
- २०. श्राद्धगुण विवरण २१. तत्त्वज्ञान तरंगिणी
- २२. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र पर्व ३/४
- २३. त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र पर्व ५/६
- २४. अष्टसहस्त्री तात्पर्य विवरण
- २५. युक्तिप्रबोध
- २६. विशेषणवतीवंदनप्रतिक्रमण अवचूरी
- २७. प्रव्रज्या विधान कुलक सटीक
- २८. चैत्यवंदन भाष्य (संघाचार भाष्य सटीक)
- २९ वर्धमानदेशना पद्य (भाग-१ छाया साथे)
- ३०. वर्धमानदेशना पद्य (भाग-२ छाया साथे)
- ३१. व्यवहार शुद्धि प्रकाश
- ३२. अनेकान्त व्यवस्था प्रकरण
- ३३. प्रकरण संदोंह
- ३४. उत्पादादिसिद्धि प्रकरण स्टीक
- ३५ अभिधान व्युत्पत्ति प्रक्रिया कोश भाग-१
- ३६ अभिधान व्युत्पत्ति प्रक्रिया कोश भाग-२
- ३७. प्रश्नोत्तर रत्नाकर (सेनप्रश्न)
- ३८. संबोधसप्तति सटीक
- ३९. पंचवस्तु सटीक
- ४०. श्री जंबुस्वामी चरित्र
- ४१. श्री सम्यकत्व सप्तित सटीक
- ४२ गुरु गुण षटत्रिंशत्षटत्रिंशिका सदीक
- ४३. स्तोत्र रत्नाकर
- ४४. उपदेश रत्नाकर

- ४५. उपदेश रत्नाकर
- ४६. श्री विमलनाथ चरित्र
- ४७. सुबोधा सामाचारि
- ४८ . शांतिनाथ चरित्र ग्रंथ
- ४९. नवपद प्रकरण सटीक भाग-१
- ५०. नवपद प्करण सटीक भाग-२
- ५२. श्राद्ध प्रकरण वृत्ति
- ५४. विजयप्रशस्ति भाष्य (विजयसेनसूरि चरित्र)
- ५५. कुमारपाळ महाकाव्य सटीक (प्राकृतद्वयाश्रय)
- ५६. धर्मरत्न प्रकरण सटीक भाग-१
- ५७. धर्मरत्न प्रकरण सटीक भाग-२
- ५८. उपदेश पद भाग-१
- ५९. उपदेश पद भाग-२
- ६०. श्राद्धदिनकृत्य भाग-१
- ६१. श्राद्धदिनकृत्य भाग-२
- ६२. पार्श्वनाथ चरित्र
- ६३. विचार रत्नाकर
- ६४. उपदेश सप्ततिका
- ६५. देवेन्द्र नरकेन्द्र प्रकरण
- ६६. पुष्प प्रकरण माळा
- ६७. गुर्वावली
- ६८. पुष्प प्रकरण माला
- ६९ नेमिनाथ महाकाव्य
- ७०. पांडव चरित्र भाग-१
- ७१. पांडव चरित्र भाग-२
- ७२. पार्श्वनाथ चरित्र गद्य
- ७३. हीर प्रश्नोत्तराणि
- ७४. धर्मविधि प्रकरण
- ७५. सुपार्श्वनाथ चरित्र भाग-१
- ७६ देवधर्म परीक्षादि ग्रंथो
- ७७. सुपार्श्वनाथ चरित्र भाग २-३
- ७८. प्रकरणत्रयी
- ७९. समताशतक (सानुवाद)
- ८०. उपदेशमाळ-पुष्पमाळा
- ८१ पृथ्वीचंद्र चरित्र
- ८२. उपदेशमाळा
- ८३. पाइयलच्छी नाममाला
- ८४. दोढंसो सवासो गाथाना स्तवनो
- ८५. द्विवर्ण रत्नमाला
- ८६. शातिभद्र चरित्र
- ८७. अनंतनाथ चरित्र पूजाष्टक
- ८८. कर्मग्रंथ अवचूरी

- ८९. उपमिति भव प्रपंच कथा भाग-१
- ९०. धर्मबिन्दु सटीक
- ९१. प्रशमरति सटीक
- ९२. मार्गणाद्वार विवरण
- ९३. कर्मसिद्धि
- ९४. जंबुस्वामी चरित्र अनुवाद
- ९५. चैत्यवंदन भाष्य सानुवाद
- ९६. गुणवर्मा चरित्र सानुवाद
- ९७. सवासो दोढसो गाथा स्तवनो
- ९८. द्वात्रिंशद्वात्रिंशिका
- ९९. कथाकोष
- १००. जैन तीर्थ दर्शन
- १०१. जैन कथा संग्रह भाग-१
- १०२. जैन कथा संग्रह भाग-२
- १०३. जैन कथा संग्रह भाग-३
- १०४. रयणसेहर निवकहा सटीक
- १०५. आरंभसिद्धि
- १०६. नेमिनाथ चरित्र गद्य
- १०७ मोहोन्मुलनम् (वादस्थानम्)
- १०८. श्री भुवनभानुं केवली चरित्रं (अनुवाद)
- १०९ . श्री चंद्रप्रभस्वामी चरित्र (अनुवाद)
- ११०. आपणा ज्ञानमंदिरो
- १११. प्रमालक्षण
- ११२. आचार प्रदीप
- ११३. विविध प्रश्नोत्तर
- ११४. आचारोपदेश अनुवाद
- ११५. पट्टावली समुच्चय भाग-१
- ११६ . पट्टावली समुच्चय भाग-२
- 99७. रत्नाकरावतारिका अनुवाद भाग-9
- ११८. रत्नाकरावतारिका अनुवाद भाग-२
- ११९ . चैत्यवंदन चोवीसी तथा प्रश्नोत्तर चिंतामणी
- **१२०. दानप्रकाश (अनुवाद)**
- १२१. कत्याणमंदिर लघुशांति सटीक
- १२२. उपदेश सप्ततिका (टीकानुवाद) पुस्तक
- १२३. प्रतिक्रमण हेतु (पुस्तक)
- **१२४. जैन कुमारसंभव महाकाव्य**
- १२५. देवचंद्र स्तवनावित ' १२६. आनंदकाव्य महोदधि भाग-१
- १२७ श्री पर्यंत आराधना सूत्र (अवचूरी अनुवाद साथे)
- १२८. जिनवाणी (तुलनात्मकदर्शन विचार)
- १२९ . प्रश्नोत्तर प्रदीप ग्रंथ
- **930. प्राचीन कोण श्वेताम्बर के दिगम्बर** ?

	(गुजराती)
939.	• • •
932.	• • • • • • • • • • • • • • • • • • • •
	तत्त्वामृत (अनुवाद) त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र पर्व-२
130. 934.	
13ξ.	
930.	जैन कथा संग्रह भाग-५
936.	जैन कथा संग्रह भाग-६
939.	जैन धर्म भक्ति कंचनमाळा (सानुवाद)
980.	जैन धर्म भक्ति कंचनमाळा (सानुवाद)
	भाग-२
9 89.	श्री मोक्ष पद सोपान
	(चौद गुणस्थानकनुं स्वरुप)
१४२.	
	(पर्वतिथि माहात्म्य पर)
983.	, , o ,
988.	
984.	
ave	(प्राचीन जैन इतिहास सहित) नयमार्गदर्शन याने सातनयनुं स्वरुप
9४६. 9४७.	महोपाध्याय श्री वीरविजयजी महाराजन्
100.	चरित्र
98८.	मुक्ति गार्गदर्शन याने धर्मप्राम्तिना हेतुओ
१४९.	चेतोदूतम्
940.	
949.	
942.	
943.	नंदिसूत्र सटीक (बीजी आवृत्ति)
948.	
944.	•
	दशवैकालिक सटीक
946.	दशवैकालिक सटीक
94८.	ओघनिर्युक्ति सटीक
948.	पिंडनिर्युक्ति
9 ξο.	
१६ १. १६२.	आवश्यक सूत्रनी टीका भाग-२ आवश्यक सूत्रनी टीका भाग-३
983.	आवश्यक, सूत्रनी टीका भाग-४
988.	
984.	आवश्यक सूत्रनी टीका भाग-२
٩٤٤.	आवश्यक सूत्रनी टीका भाग-३
986.	आवश्यक सूत्रनी दीपिका भाग-१
٩६८.	*
१६९.	
01	

९७०. उत्तराध्ययन सटीक भाग-०

	उत्तराध्ययन सटीक भाग-२
१७२.	उत्तराध्ययन सटीक भाग-३
903.	जंबुद्वीप प्रज्ञप्ति भाग-१
908.	
964.	
9७६ .	जीवाजीवाभिगम सूत्र भाग-२
900.	
9७८.	आचारांग दीपिका
१७९ .	भगवती सूत्र भाग-१
9८०.	
9८9.	भगवती सूत्र भाग-३
१८२.	पन्नवणा सूत्र सटीक भाग-१
9८३.	पन्नवणा सूत्र सटीक भाग-२
928.	ऋषिभाषितसूत्र
924.	हारिभद्रीय आवश्यक टीप्पणक
	सूर्यप्रज्ञप्ति सटीक
	आचारांग दीपिका भाग-१
9८८.	सूत्रकृतांग दीपिका
१८९.	ठाणांग सटीक भाग-१
	ठाणांग सटीक भाग-२
	अनुयोगद्वार मूळ
१९२.	
983.	
988.	सूत्रकृतांग सटीक भाग-१
984.	सूत्रकृतांग सटीक भाग-२
१९६ .	भगवती सूत्र
१९७ .	कत्यसूत्र प्रदीपिका
98८.	
१९९ .	आनंद काव्य महोदधि भाग-३
₹00.	श्री श्रुतज्ञान अमीधारा
२०५. २०२	उत्तराध्ययन सूत्र-मूळ उपधान विधि
	हीरस्वाध्याय भाग-१
.508°	
२०५.	चैत्यवंदनादि भाष्यत्रयी (विवेचन) भोजप्रबंध
२०६ . २०७ .	
२०८.	श्री वस्तुपाल चरित्र (भाषान्तर) श्री योगबिंदु सटीक
२०९.	गुरु गुण रत्नाकर काव्यम्
	जगदगुरु काव्यम्
	योगद्रष्टिसमुच्चय (अनुवाद)
२१२.	
	प्रमाण परिभाषा
	प्रमेय रत्नकोष
	जैन स्तोत्र संग्रह भाग-२
२१६.	<u> </u>
. 7.	(4)

```
२१७. नवस्मरण (इंग्तीश सार्थ सानुवाद)
२१८. आठ द्रष्टिनी सज्झाय
२१९. आंगमसार (देवचंद्रजी)
२२०. नयचक्रसार (देवचंद्रजी)
२२१ गुरुगुणषटित्रिशिका (देवचंद्रजी)
२२२. पंचकर्मग्रंथ (देवचंद्रजी)
२२३. विचारसार (देवचंद्रजी)
२२४. श्री पर्युषण पर्वादिक पर्वोनी कथाओ
२२५. विमळ मंत्रीनो रास
२२६. बृहत् संग्रहणी अंतर्गत यंत्रोनो संग्रह
२२७. दमयंती चरित्र
२२८. बृहत्संग्रहणी यंत्र
२२९. जैन स्तोत्र संग्रह
२३०. श्रीयशोधर चरित्र
२३१. श्रीचंद्रवीरशुभादि कथा चतुष्टयम्
२३२. विज्यानंद अभ्युदयम् महाकाव्य.
२३३. जैनधर्मवरस्तोत्र-गोधूलिकार्थ-
      सभायमत्कारेति कृतित्रितयम्
२३४. अनेकार्थरत्नमंजूषा
२३५. सिरिपासनाहयरियं
२३६. सम्यकत्व कौमुदी (भाषांतर)
२३७. विमलनाथ चरित्र (सानुवाद)
२३८. जैन कथा रत्नकोष भाग १ (अनुवाद)
२३९. जैन कथा रत्नकोष भाग २ (अनुवाद)
२४०. जैन कथा रत्नकोष भाग ३ (अनुवाद)
२४१. शत्रुंजय तीर्थोद्धार (अनुवाद)
२४२. जैन स्तोत्र तथा स्तवन संग्रह साथे
२४३, वस्तुपाल चरित्र
२४४. सिद्धप्राभृत सटीक
२४५. सुक्तमुकतावली
२४६. नलायनम् (कुबेरपुराणम्)
२४७. बंधहेतूदयत्रिभंगी प्रकरणादि
२४८. धर्मपरीक्षा
२४९. आगमीय सूकतावल्यादि
२५०. जैन तत्वसार सटीक
२५१. न्यायसिद्धांत मुकतावली (प्रभाटीका)
२५२. हैमधातुपाठ
२५३. नवीन पूजा संग्रह
२५४. सिद्धचक्राराधन विधि वि. संग्रह
२५५. प्रमाणनयतत्वालोकालंकार (साव.)
२५६ . तत्वार्थाधिगम सूत्र (गुजराती)
२५७. विचार सप्ततिका सटीक + विचार
       पंचाशिका सटीक
२५८. अध्यात्मसार सटीक
२५९. लीलावती गणित
```

INTRODUCTION.

I. JAINA PRIESTS AT THE COURT OF AKBAR.

Of all the emperors that wielded their sway over India, Aśoka and Akbar deserve our deepest respect and special notice for the catholicity of their attitude towards religions, other than their own. An extract from one of Aśoka's numerous edicts is given below with a view to enable the reader to gauge the breadth of vision and the spirit of religious toleration that animated its author:—

"That creeds differ from one another in certain basic principles is quite true. But this is all the more reason why the adherents of a faith should, while, of course, remaining faithful to their own creed, treat other faiths dispassionately and try to learn from them things which, they think, are lacking in their own faith. Setting high a faith simply because one happens to be its follower, and crying down all others simply because others follow them, would most certainly do more harm than good to one's one faith. Dogged adherence and dogmatic ways of thinking are the cankers that eat away the spiritual body of a religion and reduce it to a clod of earth. One may, by all means, loyally put into practice the tenets of one's faith; but, at the same time, he may, to his own advantage and to that of his faith, respect and treat with toleration and sympathy, the tenets of other faiths. One should treat other faiths exactly as one wishes others to treat one's own faith. The common ideal of all religions is the spiritual upliftment and peace of human beings. What harm is there if there are divers ways of reaching the same ideal?"

A muslim by birth, Akbar's mind was broad enough not to look upon Islām as the only religion that would dispel all the darkness obstructing the spiritual progress of mankind. He wanted to find out a common ground on which all faiths would agree. It was one of his ambitions to found a faith acceptable to all human beings. Once he said:—

"Although I am the master of so vast a kingdom and all the appliances of Government are to my hand, yet since true greatness consists in doing the will of God, my mind is not at ease in this diversity of sects and creeds; and apart from this outward pomp of circumstance, with what satisfaction in my despondency, can I undertake the sway of empire? I await the coming of some discreet man of principle, who will resolve the difficulties of my conscience". ("The Sayings of His Majesty" Aine Akbari Vol. III. P. 386).

Maxmuller calls Akbar the first student of comparative religion. Fired with the zeal to provide a common faith for all, he first studied and discussed the doctrines of Islām with the help of Ulemās. Next, he gathered around him a select group of persons, who had drunk deep at the fountains of other faiths—Hinduism, Jainism, Zoroastrianism, Christianity and other faiths.¹ Reason rather than anything else was his guiding star in his quest of truth, which would be acceptable to all. He once said, "(1) The superiority of man rests on the jewel of reason. It is meet that he should labour in its burnishing, and turn not from its instruction; (2) A man is the disciple of his own reason. If it has naturally a good lustre, it becomes itself his director, and if it gains it under the direction of a higher mind, it is still a guide." (Aine Akbari Vol. III p. 382).

The result of his inquiry into, and study of, the tenets of various faiths was little short of a revelation to him. He found that the common principle running through all the faiths was the quest of truth-eternal truth about the purpose lying behind the creation, in the broadest sense of the term. He also found that all the faiths were nothing but strenuous efforts to mould human behaviour in such a way that it would be in tune with the infinite, and that all the faiths represented the undying desire of Man to see his way through the tangled cobweb of this universe. Some faiths had gone far on the way to this final discovery, while others lagged behind; but all unflinchingly aimed at the same thing. No sooner did this truth dawn upon him, than he proclaimed complete religious toleration throughout the length and breadth of his mighty empire. It was the corner stone on which he strove to build the edifice of a World Faith. He earnestly believed that it would make the world happy and contented, and would bring lasting peace to one and all. At least, this belief made him the mightiest and the most beloved monarch.

The days of Islamic superiority and despotic fanaticism were over. He frankly admits:—"Formerly, I persecuted men in conformity with my faith, and deemed it Islām. As I grew in knowledge, I was overwhelmed with shame. Not being a Muslim myself, it was not meet to force others to become such. What constancy is to be expected from proselytes on compulsion?" (Aine Akbari Vol. III. p. 384).

Early in 1573 A.D. the Ibādatkhānā or "The House of Worship" was built. Religious

¹ Abul Fazal says:—"With the magnanimity which distinguishes him and with his wonted zeal, he continues his search for superior men, and finds a reward in the care with which he selects such as are fit for his society". (Aine Akbari Vol. I, P. 154 Ain. 72 The manner in which His Majesty spends his time).

debates and discussions were carried on there about three years by the Ulemās of rival schools of Islāmic theology. Abul Fazl says that by 1578 A. D., representatives of many creeds had gathered there to join the discussions. "Sufi philosopher, orator, jurist, Sunni, Shia, Brāhman, Jati, Siurā, Chārvāk, Nazarene, Jew, Satr (Satran), Zoroastrian and others enjoyed exquisite pleasure." (Akbarnāmā Vol. III, p. 365 Beveridge's edition). The term "Jati" (Sanskrit equivalent "Yati") in the above extract, refers to Jaina (not Buddhist) ascetics or monks; and the term "Seurā" (Sanskrit "Švetāmbara", Prakrit "Seyam ara") means "Švetāmbara Jainas". Chalmers, however, mistranslated them as "Jains, Buddhists". Elliot and Dowson (authors of "History of India as told by its own Historians") took Chalmer's interpretation as correct. This, in its turn, led Von Noer.

(author of "The Emperor Akbar") to infer wrongly:—"It may be concluded with not too slight probability that there were Buddhists at Fattepur" (Beveridge's translation I, 327, note). The fact, on the other hand, is that there is not a tittle of evidence to the effect that any Buddhist ever attended these religious debates or that Akbar ever came in touch with a Buddhist scholar. Abul Fazl, as he himself admits, failed to learn anything about

Buddhism because Buddhism was almost extinct in India in those times.

INTRODUCTION.

Badaoni, a staunch Muslim historian, while summarising the reasons, which led Akbar to renounce the Islām says:—"The Principal reason was the large number of learned men of all denominations and sects, that came to his Court from varions countries, were granted private audiences. His Majesty heard the opinion of each one, especially of non-Muslims, retaining that which appealed to his reason and rejecting everything else. As a result of this, a faith based on some elementary principles traced itself on the mirror of his heart; and out of the various influences that were brought to bear on His Majesty, there grew gradually as an outline on a stone, the conviction in his heart, that there were sensible men in all religions, and abstemious thinkers and men endowed with miraculous powers, among all nations."

He further states: -"Moreover Sumanis" (S'ramanas — Jaina ascetics) and Brāhmans

Abdul Fazal has referred to S'vetāmbaras as Sewra while taking brief notices of nine schools:—Nyāya, Vaišeṣika, Mīmānsā, Vedānta, Sānkhya, Pātanjala (Yoga), Jaina, Bauddha, Nāstika (Chārvāka)—see pp. 172 to 218 Aine Akbari Vol. III wherein Jaina School is treated at pp. 188 to 210. At the end of that notice he says:—'The writer has met with no one who had personal knowledge of both (Śvetāmbara and Digambara) orders and his account of the Digambaras has been written as it were in the dark, but having some acquaintance with the learned of the Śvetāmbara order, who are also known as S'eurā, he has been able to supply a tolerably full notice.'

³ Mr. W. H. Lowe, M. A. has also translated Al Badaoni. In Vol. II p. 264, the translation of the above-quoted extract is given. It begins "And Samanas and Brahmins" etc. Mr. Lowe in the foot-note, says that the term "Samanas" means "Buddhist monks". We have, however, already shown that no Buddhist monk ever visited the Court of Akber. Blochman, writing about the same word, says in a foot-note, "Explained in Arab dictionaries as a sect in Sind, who believed in the transmigration of souls (Tanāsukh), Akbar, as will be seen from the following, was convinced of the doctrine of the transmigration of souls, and therefore rejected the doctrine of resurrection." We know that this interpretation of the term is not quite correct. "Samanis" and "Samanas" are the corrupt Prakrit forms of

managed to get frequent private audiences with His Majesty. They surpass other learned men in their treatises on morals and on physical and religious sciences; they have reached a high degree of perfection in their knowledge of the future, in spiritual power and human perfection. Consequently, they laid down proofs, based on reason and testimony, of the truth of their own religion, and of the fallacies of others; and they inculcated their doctrines so firmly, and so skilfully represented things as quite self-evident-things which otherwise require consideration-that to raise a doubt in His Majesty's mind about the truth of their doctrines was more difficult than crumbling a mountain to dust or tearing asunder the heavens above" (Blochman Al Badaoni p. 256).

"Hence His Majesty cast aside the Islamic revelations regarding resurrection, the day of judgment, and all the details connected with it, as also all ordinances based on the tradition of our Prophet. The doctrine of the transmigration of the souls especially took a deep root in his heart, and he approved of the saying:—There is no religion in which the doctrine of transmigration has not taken firm root."

It is now definitely proved that the terms "Jati" and "Sewrās" used by Abul Fazl, and the term "Samanis" in Badaoni's work, refer to the monks and members of the Jaina Svetāmbara sect. The Jaina monks, thus played a prominent part in the discussions and debates at the Ibādatkhānā, and had a powerful hold over the mind of the emperor. Modern European historians took little notice of this-may be quite unintentionally. It was the late great Jaina scholar, Chimanlal Dahyabhai Dalal, M. A., who drew their attention to this, by writing, under the nom de plume "C" an article on "Hīravijaya Sūri or the Jainas at the Court of Akbar," which was published in Jaina S'āsana, Divāli Issue (Benares), of S. Y. 1910, Vira Sam. 2437 (pp. 113 to 128). This article constituted the principal authority for Dr. Vincent Smith when he wrote on the influence of Jains on Akbar, in his authoritative work, "Akbar, the Great Mogul". (Later editions). His article, "The Jain Teachers of Akbar" (Bhandārkar's Commemoration Vol. pp. 265 to 276), is also largely based upon the same.

Mr. Dalal says:—"It is true that the religious side of Akbar's character has received disproportionate amount of attention; nevertheless, it is very interesting to see how that mighty figure achieved a quite herculean task of not only satisfying his subjects professing various creeds and religions, but making them believe that he was a follower of their faith. The Christians believed that he was a Christian, the Parsis that he was a Parsi, while the Hindoos thought that he was a Hindoo. His religious policy thus excites our great admiration".

"Akbar's religion was an eclectic one; as he was an earnest seeker after truth, he took it from wherever (whatever source) he found it. In the following pages it is shown what he took from Jainism—non-killing of beings (non-violence), compassion

the Sanskrit term "S'ramana". Now, the term "S'ramana" is applicable to Jaina, as well as to Buddhist monks; but as no Buddhist monk ever visited the Court of Akbar, Badaoni must have therefore used the terms to mean Jaina monks only.

towards all living beings, abstaining to a certain extent from flesh-eating, belief in re-incarnation and in the theory of Karma; and how he favoured it by (his) handing over its religious places to its followers and honouring its learned professors".

A marvellous array of conquests over almost all parts of India was one of the many glorious achievements of Akbar. His plan of bringing under his sceptre the whole of India had met with a large measure of success. By the end of the 18th year of his rule, in 1574 A. D., his sway extended over North-Western, Central and Western India (Gujarāt conquered in 1573 A. D.), and over the Punjāb and Kābul. The end of 1574 A. D. witnessed the annexation of Bengāl and Behār; and in 1575 A. D., his mighty hand descended over Orissā. According to Badāoni, "many years previous to 983 H. E. (1576 A. D.), the emperor had gained in succession remarkable and decisive battles... No opponent was left in the world". It was about this time that the Emperor got the Ibādatkhānā built at Fatehpur. Men of learning, men well versed in the doctrines of their own faiths, religious fanatics and liberal-minded philosophers, in short, men interested in religious problems, gathered there in large numbers, and carried on discussions and debates over which the Emperor, not unoften, presided. Thereafter he suppressed several rebellions here and there (Malleson, "The Emperor Akbar" p. 115 and onwards).

Abul Fazl says in his Aine Akbari (Vol. I, p. 537):—"I shall now speak of the sages of the period and classify them according to their knowledge, casting aside all differences of creed. His Majesty, who is himself the leader of the material and the ideal worlds and the sovereign over the external and the internal, honours five classes of sages as worthy of attention....The first class, in the lustre of their star, perceive the mysteries of the external and the internal, and in their understanding and the breadth of their views, fully comprehend both realms of thought....The second class pay less attention to the external world; but in the light of their hearts they acquire vast knowledge; (i. e. they understand the mysteries of the heart). The third class do not step beyond the arena of observation and possess a certain knowledge of what rests on testimony (Philosophers and theologians). The fourth class look upon testimony as something filled with the dust of suspicion, and handle nothing without proof (Philosophers). The fifth class are bigoted, and cannot pass beyond the narrow sphere of revealed testimony.

In the list of these learned men, we come across the names of three Jainas, viz., Hariji Sūr, Bijai Sen Sūr, and Bhānchand; they are no others than Hīra-Vijaya Sūri, Vijaya-Sena Sūri, and Bhānucandra Upādhyāya. Hīra-Vijaya Sūri is placed in the first class, while Vijaya-Sena Sūri and Bhānucandra— with whom we are concerned here, are placed in the fifth class.

1. Hīra Vijaya Sūri.

After his return from Kābul in 1582 A. D. Akbar heard that there was in Gujarāt a Jaina Monk, named Hīra-Vijaya Sūri, who was richly endowed with striking qualities of head and heart and who led a life of saintly purity. Always eager to come into

contact with such learned and holy persons, he sent two Mewrās to Ahmedābād, with a firmān, ordering Sāhebkhān, the governor of Gujarāt, to ask the monk to proceed towards his Court. Sāhibkhān informed the leading Jainas of Ahmedābād of this imperial invitation. A deputation of Jainas waited upon the Ācārya at Gandhār. He readily accepted the invitation thinking that much good might come out of his visit to the emperor. In a short time he reached Ahmedābād where he was received by Sāhibkhān who offered him money, conveyances, horses and other means of comfort. He politely thanked him for his offer, but at the same time refused to accept them on the ground that Jaina monks were prohibited from accepting any such means of physical comfort, by their religious tenets. From Ahmedābād, he started on foot towards Āgrā, visiting village after village, and town after town on his way, preaching the gospel of Lord Mahāvīra to the people. On his reaching Āgrā, he was accorded a royal reception.

It was Abul Fazl who escorted the Ācārya to his palace. A discussion took place between the two, specially on the questions of resurrection and redemption. Hīra Vijaya Sūri made it crystal clear to Abul Fazl that a man's happiness or misery in his present life was the result of his actions meritorious or wicked done previously during his present or former life or lives. This struck at the root of the idea of all human beings rising from their graves on the Day of Judgment to hear the Divine Decrees from the Almighty, who would administer to them even—handed justice according to the way they led their lives. The idea of a personal God thus was a superfluity. Abul Fazl was mightily impressed with his lucid way of explaining things, and at once took him to the Emperor, who, hearing that the holy man had come all the way on foot in conformity with the rules of his Order, greeted him with much pleasure and respect. In the talk that ensued, the Ācārya explained to the emperor what he had already explained to Abul Fazl, about the nature of Supreme Deity, that of a true preceptor-master and true religion. He also laid great stress upon the imperativeness of leading a pure and holy

⁴ Mewrās-Mewrāhs are natives of Mewāt and are famous as runners. They bring from great distances with zeal anything that may be required. They are excellent spies, and will perform the most intricate duties. They are one thousand of them. Aine Akbari Vol. I, p. 252.

⁵ Sāhibkhān-Shihāb Khān (Shihābu-d-din Ahmed Khān) No. 20 Aine Akbari Vol. I, p. 332. A relation and friend of Akbar's fostermother, formerly the governor of Malva, then financial minister in 1569 A. D. for a short time, was the Viceroy of Gujarāt from 1577 to 1583 or 1584 A. D., who also as a revenue expert continued to develop the arrangements made by Todarmall in revenue settlement of Gujarāt. It was he who sent the Sūri Hīra-Vijaya to the Court of Akbar.

^{6.} Subāh of Gujarāt-"Its length from Burhānpur to Jagat (Dwārkā) is 302 Kos; its breadth from Jālor to the port of Daman 260 Kos and from Edar (Idar) to Kambhāyat (Cambay) 70 Kos. On the East lies Khāndes; to the North Jālor and Edar; to the South, the port of Daman and Kambhāyat, and on the West, Jagat which is on the sea-shore. The staple crops are Jowāri and Bājrah, which form the principal food of the people....From the numerous groves of mango and other trees it may be said to resemble a garden. From Pattan to Barodāh which is a distance of a 100 Kos, groves of mango yield ripe and sweet fruit. Fine figs grow here and musk-melons are delicious in flavour. The grapes are only moderate in quantity; flowers and fruit in great plenty." A. A. II, p. 239. Its Sarkārs were of Ahmedābād, Pattan North, Nādot (Nāndod) North, Baroda South, Bahroch (Broach) South, Chāmpāner, Surat, Godhrā and of Sorath.

life devoted unflinchingly to the good of all beings. Then he dwelt upon the five great vows observed by all Jaina monks, viz. non violence, truth, non-acceptance of anything without its being offered, celibacy and non-possession. Then Akbar requested him to read his future from the position of the stars, but the sage replied that he could not comply with that request because Jaina monks, were forbidden by their religion to read any one's future or to make prediction.

The impression that the Ācārya made on the emperor was profound, and as a token of his admiration for him he offered him a large number of religous books, an offer which the monk at first was disinclined to accept but which he accepted when pressed by the importunities of Abul Fazl and Thānsing. A library was opened at Āgrā and all these books were placed there under the charge of Thānsing.

After the monsoon of 1582 A. D. the Emperor had another audience with the Acārya at Abul Fazl's palace. This time he offered him a large sum of money, horses, elephants and other things; but the sage politely refused the offer saying that a Jaina monk was never to accept any such thing pertaining to material comfort from any one. When pressed by the emperor to ask for something for him and thus to afford him an opportunity of being useful to him in some way, the sage requested him to release all the prisoners, to set free all the caged birds, and to prohibit the slaughter of animals at least during the eight days of Jaina holidays known as Paryuṣaṇa. The Emperor readily complied with this request of the sage and instantly issued orders prohibiting animal slaughter for not only 8 but 12⁷ days. This order was later on extended to the Naoroz day. Fishing was prohibited at the lake Dāmara⁸, a large lake stretching over 12 Yojanas near Fatehpūr Sīkrī. The Emperor took a vow to refrain thenceforward from hunting⁸, a favourite pastime of his.

In June 1584 A. D. (S. Y. 1641 first Aṣādha) the title Jagadguru (World Precepter) was conferred upon the Acārya. In celebration of this auspicious occasion, birds encaged on the banks of Dāmara were set free. In conformity with the wishes of

⁷ i. e. from the 10th of the dark half of Śrāvaṇa to the 6th of the bright half of Bhādrapada (while 8 days of Paryuṣaṇa begin from the 12th of Śravaṇa Vadi and end on the 4th of Bhādrapada Śudi with Śvetāmbara Jainas).

⁸ Dāmara-Dābar apparently should be Dāīr, four Kos from Fatehpūr Sikri-See Badāoni Lowe p. 174.

⁹ As to hunting Akbar said "Although hunting suggests analogies of State Policy, nevertheless the first consideration is to be sparing in the destruction of life." (Aine Akbari III p. 399, The Sayings of Akbar). Sometimes he indulged in hunting for the reasons of State. "He always makes hunting a means of increasing his knowledge, and besides, uses hunting parties as occasions to inquire, without having first given notice of his coming, into the condition of the people and the army. He travels incognito and examines into matterr referring to, taxation, or to Sayūrghūl lands, or to affairs connected with the household. He lifts up such as are oppressed, and punishes the oppressors. On account of these highes reasons His Majesty indulges in the chase, and shews himself quite enamoured of it." Abul Fazl Ai. Ak. Vol. I, p. 282.

the emperor, the title "Upādhyāya" was conferred upon Śānticandra. The Sūri passed the monsoons of 1584, 1585 and 1586 A. D. at Āgrā, Abhirāmābād (Ibrāhimābād-then about 12 miles from Fatehpūr Sīkrī and not Allāhābād as wrongly supposed by some) and Āgrā respectively. Then he left Āgrā for Gujarāt, leaving Śānticandra at the Court. (Țhe details given above are extracted from Hīra-Saubhāgya-Mahā-Kāvya. Readers desirous of having a full account should consult that work, Jagadguru Kāvya and Krpā-Rasa-Kośa all in Sanskrit; other sources of information are Hīravijaya Rāsa (in Gujarāti) by Rṣabhadāsa, and the inscriptions in Sanskrit at Satrunjaya, especially the long record (No. XII Epi. Indica Vol. II Ch. 6, J. B. R. S. August 1844, No. 12 Jīnavijaya II) containing 67 verses composed by Hemavijaya and inscribed in A. D. 1593 at the Ādinātha temple¹⁰), and at Vairāt (Bairāt) in Jaipur State inscribed in Śaka 1509-A.D. 1587 (No. 379 Jīnavijaya II).

2. S'ānticandra Upādhyāya.

Santicandra is the author of a panegyric on the Emperor. The work is composed in Sanskrit, and is entitled $Krp\bar{a}$ -rasa-Kosa (Treasury of the merciful deeds of the Emperor). He used to recite these verses in the presence of the Emperor, who always held a high opinion about him. When Santicandra started for Gujarāt in 1587 A. D., the Emperor issued firmāns prohibiting the slaughter of animals, and proclaiming the abolition of the Jaziā tax (a tax levied on Hindus). For six months out of the year, animal-slaughter was prohibited. These six months consisted of the previous 12 days which included 8 days of Paryuṣaṇa, the Naoroz day, all Sundays, days of Sophian, Id, equinoxes, the month of his birth, days of Mihira, the month of Rajab, and the birth-days of his sons.¹¹

In support of this, we find in Al-Badaoni, p. 321 (Blochman):—"In these days (991 H. E. - 1583 A. D. and thereafter) new orders were given. The killing of animals on certain days was forbidden, as on Sundays, because this day is sacred to the Sun; during the first eighteen days of the month Farwardin; the whole month of Aban (the month in which His Majesty was born) and on several other days, to please the *Hindus*. This order was extended over the whole realm, and capital punishment was inflicted on every one who acted against the command. Many a family was ruined." ('and his property confiscated'. Lowe).

The term "Hindu" in the extract above means "Jainas", because Jainas only made endeavours to preach and practise the prevention of animal-slaughter.

- 10 In one of the inscriptions (No. 118 Epi. Indica Vol. II Ch. 6) Buhler misread साम for साथ and then stated that Hīravijaya belonged to the Sāfa race. This wrong statement was quoted by V. Smith in his article, "The Jain Teachers of Akbar" Bhand. Com. Vol. p. 273. This mistake should, however, be corrected. Hīravijaya Sūri was an Osvāl Baniā before he became a Jaina Sādhu.
- 11 Vide verses 273 and 274 of the 14th Chapter of $II\bar{\imath}ra$ — $Saubh\bar{a}gya$ — $Mah\bar{a}k\bar{a}vya$:— श्रीमत् पर्युपणादिना रिविमिताः सर्वे रिवेवांसराः सोफीयानदिना अपीदिद्वसाः संक्रान्तियसाः पुनः। मासः स्वीयजनेदिनाश्च मिहिरस्यान्येऽपि भूमीन्दुना हिन्दुम्लेच्छमहीपु तेन विहिताः कारुण्यपण्यापणाः॥२७३॥ तेन नवरोजदिवसास्तानुजजन् रजवमासदिवसाश्च। विहिता अमारिसहिताः सलतास्तर्यो घनेनेव॥२७४॥

Akhar fasted during these days. Abul Fazl says:—"During the time of these fasts, His Majesty abstained altogether from meat, as religious penance, gradually extending the several fasts during a year over six months and even more, with a view to eventually discontinuing the use of meat altogether". (Aine Akbari Vol. I, p. 200).

Mr. Vincent Smith, in his "Akbar" p. 167, says:—"Akbar's action in abstaining almost wholly from eating meat and in issuing stringent prohibitions resembling those of Asoka, restricting to the narrowest possible limits the destruction of animal life, certainly was taken in obedience to the doctrine of his Jain teachers".

Santicandra went to Gujarat, leaving Bhanucandra in his place.

3. Bhānucandra.

Bhānucandra and his pupil Siddhicandra continued to stay at Court during the remaining part of Akbar's life and during the rule of Jahāngir also. Bhānucandra had accompanied Akbar to Kāśmir. While the Emperor was strolling on the banks of the lake named Jayanal Lankā, he requested him to abolish the tax which was then levied on Jaina pilgrims to Mount Satrunjaya. The Emperor graciously complied with his request. An imperial firmān was issued making grant of the Hill to Hīra-Vijaya Sūri, and it was despatched to him in 1592 A. D. A detailed account of Bhānucandra will be given later on when we come to the contents of the present work which is nothing but his biography.

4. Siddhicandra.

He was a favourite and talented pupil of Bhānucandra. A handsome youth and a great scholar of Sanskrit and Persian, he made a profound impression upon Akbar. He performed 108 avadhānas (i. e. attending to 108 things at a time), a marvellous feat of memory. The Emperor, much pleased and highly impressed with this, conferred upon him the title "Khush-faham" (a man of sharp intellect). He is the author of the present work. More details about him will be given later on.

5. Vijaya-Sena Sūri.

During the monsoon of 1592 A. D. (S. Y. 1649 Hindi) Hīra-Vijaya Sūri was residing at Rādhanpur. It was there that he received the imperial firmān making him the grant of Mount Satrunjaya. He also received an imperial call from Lāhore, to send his pupil Vijaya-Sena Sūri there as Akbar wanted to meet him. In response to the call, he directed his pupil to start for Lāhore and to pay a visit to the Emperor there. After the monsoon was over, Vijaya-Sena on Mārgasīrşa S'ukla 3rd S. Y. 1649 (Monday 27th November 1592 A.D.) started for Lāhore and reached it on the 12th day of the bright half of Jyeştha S. Y. 1650, (Thursday 31st May 1593 A.D.). One of his pupils, Nandivijaya by name, performed eight avadhānas-attending to eight things at a time. The emperor, favourably impressed with the performance, conferred upon him the title "Khush-faham" (a man of sharp intellect).

2

Some non-Jainas told Akbar that the Jainas did not believe in God. Upon this, the Emperor requested Vijaya-Sena Sūri to hold a debate at his Court with the learned brāhmins, on the subject of the existence or otherwise of God. The debate was duly conducted, and Vijayasena, quoting chapter and verse from the scriptures, marshalling facts and arguments based upon sound logic, gave a lucid exposition of the Jaina view of God, and convinced and silenced the Brāhmins once for all. On another occasion the Sūri convinced the Emperor of the necessity of prohibition of the slaughter of cows, bulls, she-buffaloes and he-buffaloes, and of repealing the unedifying law which empowered the State to confiscate the property of those persons who died heir-less, and of capturing prisoners as hostages. Convinced of the harmful nature of these things, the Emperor issued firmāns prohibiting all these things.

At the instance of the Emperor, the Sūri conferred the title "Upādhyāya" upon Bhānucandra. On this occasion, Abul Fazl gave 600 Rupees and 108 horses in charity. Pleased with Sūri's ability to score success over Brāhmins in the debates at the Court, the Emperor conferred on him the title 'Savāi Hiravijaya Sūri' (i. e. in a way superior to even his master Hīra-Vijaya Sūri). He spent two monsoons at Lāhore. When he departed for Gujarāt, imperial firmāns about the prohibition of animal-slaughter, confiscation of property, and the capture of prisoners as stated above were presented to him. He started for Gujarāt in 1596 A. D. By the end of that year, Hīra-Vijaya Sūri died at Unā in Kāthiāwar. [A detailed account of Vijaya Sena Sūri will be found in:—Vijaya-prasasti Kāvya a work in Sanskrit which is virtually his biography; 6th Chapter of Vijayadeva—Sūri-Māhātmyam; inscriptions of S. Y. 1656 (No. 454 Jinavijaya II), S. Y. 1659 and 1661 (Nos. 913 and 1121 Buddhi. II), S. Y. 1662 and 1664 (Nos. 511 and 512, Jina. II), S. Y. 1666 (No. 406 Buddhi. II).]

All the five Jaina teachers mentioned above belonged to Jaina Śvetāmbara Tapā Gaccha and hailed from Gujarāt. For them the readers are referred to C's article 'Hīravijaya Sūri or the Jainas at the Court of Akbar' and V. Smith's article 'Jain Teachers of Akbar' and his book 'Akbar the Great Mogul'. One prominent Jaina teacher with whom Akbar came into contact, was a member of the Jaina Śvetāmbara Kharatara Gaccha. His name was Jinacandra Sūri. European scholars do not seem to have taken any notice of him. That is all the more reason why we shall dwell upon him along with his pupil Mānasinha at some length below.

6-7. Jina-candra Sūri and Jina-simha Sūri.

In 1591 A. D. Akbar was at Lähore. There he heard that Jinacandra Süri was also a great Jaina teacher. So he called Mantri Karmacandra, a lay member of the Kharatara Gaccha, and asked him everything about the preceptor. An imperial firman was given to him inviting the holy man to the Court. The Süri received the firman at Cambay. He immediately started. At Jalor, he passed the monsoon. In Magsar of S. Y. 1648, (November 1591 A. D.) he started for Lähore and reached it on the 12th day of the bright half of Fagan of S. Y. 1648. (Monday 14th February 1592 A. D.). It was "Id" day of the year. Karmacandra escorted him to the Court.

11

The Emperor had a private audience with him, in which he expressed his delight at the promptness with which the Sūri had responded to his invitation. He requested him to be present at his Court whenever religious debates and discussions were held. He further said that all his desires were fulfilled and he wanted the Sūri's blessings to the effect that his heart might always remain filled with compassion and that his son also might be of an equally compassionate nature. At his request the Sūri passed the monsoon at Lāhore. Seeing that the Emperor respected him highly, the people called him "Bade Guru" (Great teacher). One day the Sūri heard that the temples near Dwārkā were demolished by Navarang Khān. He thereupon requested the Emperor to protect all the Jaina temples. Akbar is alleged to have issued a firmān proclaiming the Grant of Satrunjaya and other Jaina holy places to Karmacandra Mantri. A firmān to the same effect, bearing the imperial seal, was sent to Ājam Khān i. e. Khān-i-Āzam alias Mirza Ajiz Kokāh (Ilāhi 36 i. e. 1592 A. D. S. Y. 1649 Hindi).

Before starting on his expedition to Kāśmir, the Emperor called the Ācārya and had his "dharmalābha" (religious blessings). At that time he issued a firmān prohibiting slaughter of animals for further 7 days from Āṣādha S'ukla 9th to 15th. It was despatched to all his 11 Subahs (Governors). At the request of Akbar, Mānasinha, a favourite disciple of Ācārya, with Dungara (Harṣaviśāla) and others of his pupils accompanied him to Kāśmir, so that he might have religious talks whenever he so desired. It was at the instance of Mānasimha, that Akbar prohibited fishing in all the lakes of Kāśmir. After the death of the ruler of Kāśmir, it was resubjugated. Akbar returned to Lāhore (29th December 1592 A. D.; S. Y. 1649 Pauṣa Śudi 6th Friday).

Akbar then conferred the title "Yuga-Pradhāna" (Supreme in the Age) on Jinacandra Sūri, and the title "Acārya" on Mānasimha, whose name was changed to Jinasimha Sūri. The occasion was celebrated with great eclat on Fāgan S'ud 2, S. Y. 1649, (Friday 23rd February 1593 A. D.) by Karmacandra, who was encouraged and supported by the Emperor himself. Fishing and animal-slaughter were prohibited in Cambay for one year, and in Lāhore animal-slaughter was prohibited on the day of the festival. (From Karmacandra Vamśa Prabandha a Sanskrit poem composed by Jayasoma Upādhyāya at Lāhore in S. Y. 1650, Vijaya-daśami (Tuesday

¹² Navrangkhān-was a son of Kutbuddin Muhammad Khān. When Akbar left Ahmedābād in charge of Khān-ī-Āzam, Navrang Khān was commissioned to go forward to Khambhāyat against Muhammed Hussein Mirza who rebelled and had gone there from Deccan and ultimately was defeated. His father was in possession of Broach fort. (Al Badāoni pp. 167, 173 and 341). In 1591-92 A. D. news was received that Muzaffar (of Gujarāt) had taken refuge at Jagat (north latitude 22° 15 'last longitude 69° 1'-the site of the temple of Dwarka, at the western extremity of the peninsula of Kathiawar). The Viceroy (of Ahmedābād Mirzā Aziz Kokaltāsh 1588 to 1592 A. D.) at once sent Navrang Khān and others (other commanders Mirāt-i-Ahmadi) with an army in pursuit. On reaching Jagat (thes) commanders took the place and established a mosque. Mirāt-i-Ahmadi-History of Gujarāt by Bird p. 420-421) it was found that Muzaffar had already left for a village owned by a Rajput named Sewa Wadhel, who while fighting gallantly with Naurang Khān was slain (Bom, Gaz, History of Gujarāt p. 272). Jagat was also called Dwārkā (Aine Ak, Vol. II, p. 248).

9th October 1593 A. D.) and Sanskrit commentary thereon and Gujarati Karmacandra V. Prabandha by his pupil Gunavinaya both composed in S. Y. 1656 and 1655).

The firman given to Jinacandra Sūri was lost or misplaced. Upon this his pupil Jinasimha Sūri applied to the Emperor for another firman. Akbar readily granted on 31st Khurdad, Elāhi 49 (1605 A. D.), referring therein to the firmans granted to Hīra-Vijaya Sūri and to Jinacandra Sūri, prohibiting the slaughter of animal and flesh-eating during the 12 days including Paryuṣaṇa, and during the seven days from Āṣādha S'ukla 9th to 15th ("Sarasvati", June, 1912, a Hindi monthly). (For a detailed account see Nāhtās' Hindi book entitled 'Yugapradhāna Śri Jinacandra Sūri').

* * *

II. OTHER JAINA TEACHERS AT THE COURT OF AKBAR.

We have finished the accounts of great Jaina teachers at the Court of Akbar. Now we shall deal with some minor Jaina teachers who visited the Royal Court.

8. Padmasundara.

Padmasundara was a Jaina monk¹⁸ staying at Āgrā. Akbar had formed a high opinion of him and had great regard for him. It is said that on one occasion Akbar made the following remarks about him while talking with Hīra-Vijaya Sūri:—"There lived some time ago a learned man named Padmasundara. He was my dear friend. He had studied at Benares. Once a proud brahmin pandit began to style himself 'Pandita-Rāja'. Thereupon Padmasundara challenged him to a debate in which he utterly vanquished him. Unfortunately, he died after some time, leaving me in constant sorrow. I have preserved all his manuscripts and scriptures in my palace, because I found that his pupils were not worthy enough to receive so rich a heritage. It is my wish that you accept this collection as a gift from me" (Hīra-Saubhāgya-Kāvya Ch. 14, Verses 91 to 94).

9. Nandivijaya.

Nandivijaya was a pupil of Vijayasena Sūri, and had accompanied him to the Court of Akbar, at Lāhore. He performed eight avadhānas at the Court, where many feudatory kings and amīrs were present. The Emperor who was highly impressed with the performance, conferred on him the title "Khush-faham" (a man of sharp

¹³ It is stated in Nagapuriya Tapa Gaccha Pattavali:—"Padmasundara belonged to that Gaccha. He had very friendly relations with Akbar. He vanquished a brahmin pandit in a debate. On that occasion Akbar gave him many presents including a palanquin. He also got a religious halting place erected for him at Agra." Read also f. n. 488 in my Gujarati work "A Short History of Jaina Literature."

intellect) as stated above. (The incident is mentioned in the present work and in Vijaya-Prasasti-Kāvya). When Vijayasena Sūri left Akbar's Court, Nandivijaya was kept at the Court in his place.

10. Samayasundara.

It was from Lāhore that Akbar started on his second expedition to Kāśmir, on Thursday 10th August 1592 A. D. and encamped outside the City, in the garden of Rājā Sri Rāmadāsa. A Court was held there, which was attended by prince Salim, several vassal kings, learned brāhmins and pandits. Jinacandra Sūri, with his pupils, one of whom was Samayasundara, attended the Court on invitation. There Samayasundara read out to the Emperor a work composed by him. It was "Aṣtalakṣi". He explained to the Emperor that there was in it a short sentence consisting of three simple sanskrit words (राजानो ददते सौंख्यम्) which could be interpreted in eight hundred thousand ways. He and Guṇavīnaya were invested with the title of Upādhyāya when the title of Yugapradhāna was granted to Jinacandra Sūri by Akbar as stated above.

For Samayasundara see my Gujarāti essay on him read at Bhāvnagar Gujarāti Sāhitya Parisad published in Jaina Sāhitya Samsodhaka Vol. II, Nos. 3 and 4 p. 21 and see also Ānanda-Kāvya-Mahodadhi Vol. VIII; and further vide my 'Short History of Jaina Literature' paras 847 and 864.

The above work Aṣta-lakṣi alias Anekārtha-Ratna-Manjuṣā is printed and published in Seth Devchand L. Jaina Pustakoddhāra Fund Series. No. 81.

'संवित १६४९ प्रमिते श्रावणग्रुक्त १३ दिने संध्यायां कश्मीरदेशविजयमुद्दिश्य श्रीराजश्रीरामदासवाटिकायां कृतप्रथमप्रयाणेन श्रीभक्तब्बर्पातशाहिना जलालद्दीनेन अभिजातसाहिजातश्रीसिलेमसुरत्राणसामन्तमण्डिलिकराजराजिविराजितसभायां अनेकविधवेयाकरण-तार्किक-विद्वत्तमभट्टसमक्षं अस्पद्गुरुवरान् [युगप्रधान] खरतर-भट्टारकश्रीजिनचन्द्रस्रीश्वरान् आचार्यश्रीजिनसिंहस्रिप्रमुखकृतमुखसुमुखशिष्यवातसपरिकरान् असमानसन्मानबहुदानपूर्वं समाहूयायमष्टलक्षार्थी प्रन्थो मत्पार्श्वाद् वाच्यांचकेऽवकेण
चेतसा । ततस्तदर्थश्रवणसमुत्पन्नप्रभृतनूतनप्रमोदातिरेकेण संजातिचत्तचमत्कारेण बहुप्रकारेण श्रीसाहिना बहुप्रशंसापूर्वं पठतां पाठ्यतां सर्वत्र
विस्तार्यतां सिद्धिरस्तु' इत्युक्तवा च खहस्तेन गृहीत्वा एतत् पुस्तकं मम हस्ते दत्ता प्रमाणीकृतोऽयं प्रन्थः। अतः सोपयोगित्वाद्
श्रीसाहिमपि समुद्दिश्यार्थमाह—राजा श्री अकब्बरः नोऽसम्भ्यं सौख्यं सुखं ददते प्रजानामिति।

According to 'An Indian Ephemeris' by Pilläi S'ravana S'ukla 13 S. Y. 1649 corresponds with Thursday 10th August 1592; while Beveridge in his translation of Akbarnāmā puts dates of July 1592 A. D. for Akbar's expedition & halt at Rāmbāri as under:

"On 24th (Tir), 4th July 1592 H. M. set off to Kāshmīr and his first stage was this same garden (of Rām Dās called Rāmbāri). On the 27th, 300 little stars fell from west to east. The Indian astronomers represented that if the first stage exhibited such an appearance, they should return and set out again at a chosen hour. The Shāh and the Shāhzādā were obliged to go back (to Lahore)" Vol. III p. 942. Thereafter "On 12 Amardād, 22nd July 1592, inspite of clouds of rain and the opposition of men, he set out. On the 17th he advanced from Rāmbāri". Ibid p. 943.

V. Smith correctly places Akbar's start for Kās'mir in August 1592 and that bears out Samayasundara's date of 10-8-1592 for Akbar's halt at Rāmbāri.

¹⁴ From Samayasundara's own version in the same book:—

11. Harsasāra.

He was a monk belonging to the Kharatara Gaccha. He had once an interview with Akbar. 15

12. Jayasoma.

Jayasoma once scored a victory at a debate conducted at the Court of Akbar. He was a member of Kharatara Gaccha and was invested with the title "Pāthaka" on the 2nd of Fāgan S'ud, S. Y. 1649; The reader will remember that on the same day Akbar had conferred the title "Yuga-Pradhāna" on Jinacandra Sūri, and the title "Ācārya" on Mānasimha at Lāhore. Both these also were members of the Kharatara Gaccha.

13. Sādhukīrti.

In the presence of many learned men at the Court of Akbar, Sādhukirti vanquished a proud disputant, in a debate held on the subject of a Jaina religious ceremony, called "Pauṣadha". Akbar, thereupon, conferred on him the title "Vadīndra". 17

A perusal of the foregoing pages will make it evident to the reader that many Jaina teachers both of Tapā and of Kharatara groups, attended constantly the Court of Akbar. Chief among them, persons who vastly influenced the mental and spiritual outlook of Akbar—were Hīravijāya Sūri, Vijayasena Sūri and Bhānucandra Upādhyāya. All the three were members of the Tapā Gaccha. From S. Y. 1639 onwards some Jaina teachers or others stayed at his Court. Hīravijaya Sūri explained to him all the principal tenets of Jainism, and he always inspired the highest respect for himself. Since then, the Jainas exercised far greater influence upon his habits and mode of life than did the Jesuits. The tax levied on the pilgrims to the Satrunjaya Hill was abolished; all the Jaina holy places were placed under the control of the Jainas themselves. It was at the bidding of his Jaina teachers that Akbar gave up flesh-eating and prohibited the killing or encaging of birds and animals. (Vide p. 406, A Short History of Muslim Rule in India, 1st Ed. pp. 406-7 by Prof. Ishvarprasad).

¹⁵ Vide a verse in the colophon of Sangrahani Bālāvabodha by his pupil Šivanidhāna a copy of which is in Bikaner Brhat Jnāna Bhandāra:—

श्रीमद्कब्बरसाहेमिलनाद् विस्तीर्णवर्णकीत्तिभरः। वाक्यतिवद् गुरुरिइ सिकयमुख्यो हर्षसारगणिः॥

¹⁶ Vide verses in the colophon of Khanda-pras'asti Kāvya Vrtti, composed in S. Y. 1641, by his pupil, Gunavinaya (No. 1182, Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts, R. A. Society, by Prof. Velankar). Gunavinaya says at the end of his commentary on Jayasoma's Karmacandra Vamsa Prabandha composed in S. Y. 1656:—"श्री जयसोमगुरूणां शाहि सभारूक्ष विजयसम्हानाम्". For further particulars about Jayasoma, vide my "Short History of Jaina Literature" paras 844, 863, 865, 896.

¹⁷ शाहाक ब्यरपादशाहपरिषन्मध्ये विदां साक्षिकं कृत्वा वादमखर्वगर्वचिरतं निर्जित्य दुर्वादिनम् । आविष्कृत्य च नित्यपौषधविधानेत्यक्षरं द्यागमे "वादीन्दं" विरुदं नृपादिचराष्ट्रमे समं कोविदैः ॥

^{—47}th Verse of the colophon of धातुरलाकर धातुपाठवृत्ति alias क्रियाकरपलता composed in S. Y. 1680 by Sādhukīrti's pupil Sādhusundara (Pet. 5th report 156-160).

Pinheiro, a Portuguese priest, stated in a letter from Lāhore dated 3rd September, 1595, "He (Akbar) follows the sect of the Vertei (Sanskrit-Vratis-Jainas)."

Mr. Vincent Smith rightly states:—"Akbar never came under Buddhist influence in any degree whatsoever. No Buddhist took part in the debates on religion held at Fatchpur Sikri, and Abu-l-Fazl never met any learned Buddhist. Consequently, his knowledge of Buddhism was extremely slight. Certain persons who took part in the debates and who have been supposed erroneously to have been Buddhists, were really Jains from Gujarāt. Many Jains visited the imperial Court or resided there at various times during at least twenty years from 1578 to 1597 A. D. and enjoyed ample facilities for access to the Emperor."

"The potency of the influence exercised by Jain teachers on the ideas and policy of Akbar has not been recognised by historians. No reader of the works of Elphinstone, Von Noer or Malleson would suspect that he listened to the sermons of the Jain holy men so attentively that he is reckoned by Jain Writers among the converts to their religion, or that many of his acts from 1582 A. D. on-wards were the direct outcome of his partial acceptance of the Jain gospel. Even Blochman failed to perceive that three of the most learned men of the time, enumerated in Abu-l-Fazl's long list, were eminent Jain gurus or religious teachers, namely Hira Vijaya Sūri, Vijaya Sena Sūri, and Bhānucandra Upādhyāya. The first of them the most distinguished of the three, and credited by Jain authors with the honour of having converted Akbar (to Jainism), is placed by Abu-l-Fazl along with twenty others, including Saikh Mubaraka, in the first of the five classes of the learned-among the select few who "understand the mystery of both the worlds." The other two also were the most influential persons who initiated the Emperor to the significance of Jain doctrines.

"Akbar's action in abstaining almost wholly from eating meat and in issuing stringent prohibitions resembling those of Aśoka, restricting to the narrowest possible limits the destruction of animal life, certainly was taken in obedience to the doctrine of his Jain teachers."

"The Emperor granted various favours to the Jain community. Abu-l-Fazl made use of his opportunities (of coming into close contact with Jain priests) to compile an exacellent and generally accurate account of the Svetāmbara sect, by gleaning information from the various learned men of that community, especially from Hīra Vijaya Sūri*. He failed to come across any learned member of the Digambara sect, and consequently observed that his account of the Digambara peculiarities has been written as it were in the dark." (Vide "Akbar the Great Mogul"; and also the article, "Jain Teachers of Akbar" in Bhandārkar Com. Vol. pp. 275 and 276).

^{*} Rather from Bhānucandra Upādhyāya.

¹⁸ Ain. Tr. Jarrett Vol. III, p. 270.

III JAINA TEACHERS AT THE COURT OF JAHANGIR.

Sekhooji-prince Salim-was the eldest son of Akbar, by his Rājput wife, Jodhbāi, the princess of Jodhpur. He was born under very auspicious circumstances—a child of so many prayers, vows and pilgrimages, a darling of all the inmates of the palace, and consequently, a spoilt child. At the age of 36, he ascended the Mogul throne at Āgrā, and assumed the lofty title "Nuruddin Mohammad Jahāngir Pādsāh Gāzi."

He had every desire to follow the foot-steps of his illustrious father. He believed in religious toleration and always desired to treat the religious teachers of his father with high respect. Just treatment of his subjects was one of his most cherished ideals. He was, however, a man of very quick termperament, and was easily excitable. These defects of temperament combined with his passionate addiction to vices never allowed him to come to the level of his father.

Rev. Tarry, who stayed in India between 1617 and 1619 A. D., says in his Voyage to East India—"Jahangir's temperament is composed of extremes; for, sometimes he was barbarously cruel, and at other times, he would seem to be exceedingly fair and gentle....All religions are tolerated and their priests held in good esteem."

Jaina documents afford ample testimony to the fact that he revered the Jaina teachers at his Court and that on the whole, he treated the Jaina order with sympathy. In spite of this, however, some incidents show that on some occasions, in a fit of passion, he treated some of the Jaina priests rather cruelly. For instance, as related in this work, he asked its author Siddhicandra, who was a Jaina Priest and was vowed to celibacy, to marry. He issued the order at a time when he was heavily drunk. When Siddhicandra politely but firmly refused to comply with this absurd command, he, in a paroxysm of rage, dismissed him from his Court, and also issued a general order for the banishment of all Jaina priests from his kingdom. When his anger subsided, and he was able to think clearly, he withdrew the order as quickly as he had issued it. Under the stress of the same emotion however, he is said to have written down the following remarks about the Jainas—remarks, which in no way should be taken as representing his attitude towards them in his saner moments:—

"The sect of the Sewrās (Śvetambara monks) exists in most of the cities of India, but is especially numerous in Gujarāt. As the Banyāns are the chief traders there, consequently the Sewrās also are plentiful. Besides making idol-temples for them, they (the Banyās) have also built houses for them to dwell in and to worship in. In fact, these houses are the head-quarters of sedition. The Banyāns send their wives and daughters to the Sewrās who have no shame or modesty. All kinds of strife and audacity are perpetrated by them, I, therefore, ordered that the Sewrās should be expelled, and I circulated firmans to the effect that wherever there were Sewrās in my empire, they should be turned out" (Tūzuk-i-Jahāngīrī or Memoirs of Jahāngir Vol. I, P. 438, translated by Rogers).

The reader can see that most of the statements made above in defence of his unreasonable and arbitrary order of banishment, as an outcome of intoxication and a fit of anger, are in absolute contravention of facts.

Mr. Vincent Smith, in his "Akbar" states:—"Jehangir, a strange mixture of opposites, was equally capable of intense love and devilish cruelty. He, when safely established with his court at Allahbad, far removed from parental supervision, abandoned himself without restraint to his favourite vices, consuming opium and strong drink to such an extent that his naturally fierce temper became ungovernable. The most fearful penalties were inflicted for trivial offences; pardon was never thought of and his adherents were struck dumb with terror. A news-writer convicted of a plot against the Prince's life was flayed alive while Salim calmly watched his long-drawn agony".

During his reign, he took strong and drastic action against any one, if he had the slightest suspicion that the person in question was acting or speaking against him. Arjuna, the fourth Sikh High Priest, was ordered to be executed by him for political reasons. Manasimha (Jinasimha Sūri of Kharatara Gaccha), was reported to have predicted against him. So, when he received the news of his death, he is said to have made the following remarks about him:—

"On Tuesday (Fagan Sud 3, S. Y. 1674 i. e. 17-2-1618 A. D.), I marched 5½ Kos. and halted at the village of Jarsima (Chāṇasmā). At this stage, news came to me that Man Singh Sewra surrendered his soul to the lords of hell. The account of this in brief is that, the Sewras are a tribe of infidel Hindus who always go with their head and feet bare. One set of them, root out their hair, their beards and moustaches, while another set shave them. They do not wear sewn garments, and their central principle is that no living creature should be injured. The Banyans regard them as their pirs and teachers, and even worship them. There are two sects of Sewras; one is called Pata (Tapa) and the other Kanthal-Kartal (Kharatara). Man Singh was the head of the latter, and Bal Chand (Bhanchand) was the head of the Patas (Tapas). Both of them used to attend upon H. M. Akbar. When he died and Khusrau fled, and I pursued him, Ray Singh Bhurtiya, Zamindar of Bikanir, who had been made an Amir by Akbar's kindness, asked Man Singh what would be the duration of my reign, and the chances of my success. That black-tongued fellow, who pretended to be skilled in astrology and the extraction of judgments, said to him that my reign would, at most, last for two years. The doting old idiot (Ray Singh) relied upon this, and went off without leave to his home. Afterwards, when the glorious God chose out this suppliant and I returned victorious to the capital, he came, ashamed and down-cast, to Court. What happened to him in the end has been told in its proper place.

"In fine, Mān Singh in the course of three or four months, was struck with leprosy (juzām), and his limbs fell off him till he was in such a state that death was by many degrees preferable to life. He was living at Bikanir, and now I remembered him and sent for him. On the road, he, out of excessive fear, took poison and surrendered his soul to

the lords of hell. So long as the intentions of this suppliant at God's courts are just and right, it is sure that whoever devises evil against me will receive retribution according to his merits." (Tūzuk-i-Jahāngīrī or Memoirs of Jahāngir Vol. I, pp. 437-8 Translated by Rogers).

Facts do not bear out the account given above. Jaina monks are prohibited from predicting any one's future by a religious injunction. Māna Simha was never expected to predict anything for any one, and his death by leprosy is a myth. Jaina documents plainly tell us that he died at Medatā (Mertā) on the 13th day of dark half of Paoṣa S. Y. 1674. Hindi (Monday 15th December 1617 A. D.) Both Akbar and Jahāngir treated him with utmost respect, as will be shown later on. The statement given above was the result of a fit of ill humour. His flatterers had poisoned his ears by constantly telling him evil things about Māna Simha.

During his reign many Jaina idols were consecrated and installed in temples and in the inscriptions of some of them the name of Pātaśāha Jahāngira was also engraved. It is said, some out of malice or fanaticism reported to him that his name was being engraved at the foot of the idols. He was greatly enraged. In order to passify him, his name was engraved on the heads of the idols. (See Inscriptions Nos. 1578 to 1584 of S. Y. 1671 Vaiśākha Sudi 3 Saturday and a footnote on p. 131, Nāhar II.)

It may be that the views expressed in the memoirs may not be of Jahāngir himself. "It seems very probable that the Emperor kept two or more memoir-writers, to whom he gave directions as to the event they were to record, and a general expression of his opinion on the various subjects to be noticed. It may be that in some instances he wrote down or dictated the words he wished to be recorded, but it is more likely that in most cases his (auto) biographers followed their own bent in composing their respective records." Elliot's History of India Vol. VI, p. 255.

A writer of Intikhāb-i-Jahāngir-shāhi writes "One day at Ahmedābād it was reported that many of the infidel and superstitious sect of the Seorās (Jains) of Gujarāt had made several very great and splendid temples, and having placed in them their false gods, had managed to secure a large degree of respect for themselves, and that the women who went for worship in those temples were polluted by them and other people. Seorā is a sect of people in whose religion to be always barefooted and bareheaded, is considered as one of the modes of worship; and to drink always warm water, and to pull out the hair of their head and beard, is reckoned as one of the deeds of virtue. They wear no other dress than a shirt of cloth. The Emperor Jahāngir ordered them to be banished from the country, and their temples to be demolished. Their idol was thrown down on the uppermost step of the mosque, that it might be trodden upon by those who came to say their laily prayers there. By this order of the Emperor, the infidels were exceedingly disgraced, and Islam exalted × × " [Elliot VI, pp. 451 and 452].

The description of Seorās i. e. Jaina monks of Svetambara sect, given above is a malignant misrepresentation. It is false & malicious aspersion to attribute adultery to

them. Impelled by a fanatical zeal, other religions and their preachers were run down and condemned by muslims under the impression that by doing so their own religion would be exalted. Wherever racial, cultural, and religious conflicts take place, prejudices and condemnations are bound to occur. Human nature has been the same at all times and in all climes.

By false aspersions and reports conveyed to Jahāngir, he was easily led to pass unwarranted oppressive orders. Prof. Beniprasad says:—"He passed an order of persecution against the Shwetāmbar Jains of Gujarat because their leader Man Singh had, on the outbreak of Khusrau's death, prophesied the downfall of Jahāngir's empire within two years and because their houses were reputed, though wrongly, to be hotbeds of sedition and immorality. Sometime after the order was withdrawn." History of Jahāngir pp. 443-444. In the foot-note there he adds: "The Persian chroniclers do not mention the withdrawal of the order against the Jains, but the Jain works of the period are clear on the point." The present work is one of them.

"Jehangir was a great drinker, but was also ashamed of his vice, and cruelly punished those, who talked of his orgies or of the part they took in them" (Rawlinson).

Neither religion nor piety had struck deep roots in Jahāngir's heart; yet he was a sincere believer in God, and always respected those saints—be they Muslim or Hindu or Jain—who had dedicated their lives to the service of God. He was also interested in intellectual discussions with learned men like Jadroop, Bhānucandra and others. Barring a few exceptions here and there, his religious policy was that of toleration. Like his revered father, he also prohibited animal-slaughter on certain fixed days in a year, though the number of days was not as large as the number which Akbar had fixed. The extract quoted below, from his Memoirs (p. 9) will make this amply clear.

"In accordance with the regulations of my revered father I ordered that each year from the 18th of Rabiul-awwal, which is my birth-day, for a number of days, corresponding to the years of my life, they should not slaughter animals (for food). Two days, in each week were also forbidden, one of them Thursday, the day of my accession, and the other Sunday, the day of my father's birth. He (Akbar) held this day in great esteem on this account, and because it was dedicated to the Sun, and also because it was the day on which the Creation began. Therefore it was one of the days on which there was no killing in his dominions".

We shall now deal with the Jaina teachers at the court of Jahangir.

1-2 Bhānucandra and Siddhicandra.

About them something has been said before on p. 9 and their account is related in the Summary of this work and more facts will follow thereafter.

3-4 Jinacandra Sūri and Jinasinha Sūri.

We have already noted what part they played at the court of Akbar. During Jahāngir's reign when he issued a firmān banishing all Jaina priests, Jinacandra Sūri was passing his monsoon at Pātan (S. Y. 1668). It is said that when the Sūri heard about the firmān, he forthwith sped towards Āgrā and had an audience with the emperor there, (S. Y. 1669) with the result that the firmān was cancelled. The Sūri passed the monsoon of that year at Āgrā. The next monsoon he stayed at Bilādā, where he breathed his last. (Āsvin Vadi 2nd S. Y. 1670 Hindi i. e. Sunday 22nd August 1613 A. D.).

Jinasimha Sūri (Mānasimha) was his successor. It is said that he was also invested with the title "Yuga-pradhāna" at the instance of Jahāngir. The bestowal ceremony was performed by his agent Makrabkhān. The Sūri died at Medta on the 13th of Poṣa (dark half), 1674 S. Y. while on his way to see the Emperor who had invited him to his court. When Jahāngir heard of his death, he is alleged to have penned lines about him in Tūzuki-Jahāngīrī, as already mentioned which bespeak what was his inner motive and why he welcomed his death.

5-8 Vivekaharsa, 10 Paramānanda, Mahānanda and Udayaharsa.

They were pupils of Vijayasena Sūri, Vijayadeva Sūri, and Nandivijaya—bearing the title, "Khus-faham". In compliance with their request, a firmān was issued on 26th of Farvardin 5th year (1610 A. D.), prohibiting animal-slaughter during the 12 days of Paryuṣaṇa. All the four were members of the Svetāmbara Tapā Gaccha. (For the text of the firmān, vide Appendix).

9 Vijayadeva Sūri.

While Jahangir was residing at Mandu²⁰, where he often discussed the principles of Jaina philosophy with the learned men at his Court, he heard that a Jaina monk named

¹⁹ Vivekaharşa secured royal orders prohibiting animal-slaughter and releasing captives from the Kings of Konkan, King Burhānshahi, Mahāraj Sri Rāmrāj, Khān Khānā, Navarang Khān and others. He also made the king of Cutch, Bhārmal (S. Y. 1642 to 1688) sympathise with Jaina religious doctrines and consecrated an idol at the village named Khākhar in Cutch in S. Y. 1659 (Inscription No. 446, Jinavijaya II). In Jahāngir's times, he installed several Jaina idols at his capital Agrā on S. Y. 1667 Māgha Sudi 6. Thursday i. e. 10-1-1611 A.D. (Vide Jaina Satya Prakāśa Vol. II No. 9 pp. 508-509). That at the request of Panditas Vivekaharşa and Udayaharşa, two firmāns given by the Emperor Jahāngir were announced by him in the open Court in the presence of (Rāja) Rāmadāsa about or during the Paryuṣana days of S. Y. 1667, is specifically referred to in the illustrated samvatsarika-patra (annual letter of apologies for the faults of the past year as per Jaina tenet) written by the Jaina sangha of Agra to Vijayasena Sūri at Devkāpātan (in Kathiawār) dated Monday Kārtika S'udi 2nd S. Y. 1667—published in Jaina Sāhitya Sams'odhaka Vol. 1 No. 4 pp. 212 to 217 with its photo-blook.

²⁰ Mandu:—Mandavgadh. "It is situated on a hill about 1944 feet above the level of the sea. It is 65 miles from Ujjain. For 1300 years it was one of the principal cities of the various Hindu and Muslim kingdoms established in Central India."—Aine Akbari.

Vijayadeva Sūri had been practising severe austerities through the long course of his ascetic life. He was also informed that austerities formed the cardinal principle of Jainism. He summoned the local Jaina leader, Candrapāla by name, and gave him a firmān requesting the Ācārya to present himself at the Court. The Ācārya was then passing the monsoon at Cambay. When he received the firmān, he started from Cambay, and reached Māndu on Aśvin Sukla 13th S. Y. 1673 Gujarāti (2-10-1617 A. D.)

On the following day, the Emperor granted him an audience. On seeing him, he was struck with his lustrous face and personality. He questioned him on the value attached to tapas (austerities) in Jainism. The Acarya told him that the Tapa Gaccha to whom he belonged, was founded by a very austere Jaina High Priest. It was named Tapa from "tapas" meaning austerities. He also said that he was a member of that Gaccha. The Emperor, highly impressed by the Sūri, conferred on him the title of "Jahāngir-Mahātapā" (a great austere man recognised by Jahāngir). In accordance with the Emperor's orders, the Sūri was taken to his retreat in a procession, with the royal band playing and the whole Jaina congregation following. The Emperor stood in the gallery of his palace and watched the procession with interest and delight. At the time of this visit of the Sūri, several other incidents took place, in which some part was played by Nemisāgara Upādhyāya, Bhānucandra and Siddhicandra; details about these incidents will be given in their respective accounts. Various inscriptions bear out the fact that Vijayadeva Sūri was the recipient of the title "Mahā-Tapā" from Jahāngir. (No. 1460 of S. Y. 1674 Māgha Vadi 1 Thursday (1-1-1618 A.D.) Nahār II; No. 207 of S. Y. 1675; Nos. 341 and 367 of S. Y. 1686; No. 524 of S. Y. 1709; Jinavijaya II; Nos. 750 and 754 of S. Y. 1677 Nahār I. (For full account of the Sūri vide "Vijayadeva-Sūri-Māhātmyam"—a Sanskrit Poem by Śri Vallabha Upādhyāya of Kharatara Gaccha, edited by Jinavijaya).

10 Nemisāgara Upādhyāya.

At the invitation of Vijayadeva Sūri, Nemisāgara started from Rādhanpur and reached Māndu to join the Sūri. He was also granted an audience by Jahāngir. A controversy that had been started several years ago, about a book by Dharmasāgara Upādhyāya, was still going on. The book in question (Sarvajna Sataka by Dharma Sāgara was almost a second edition of his Pravacanaparīkṣā nick-named Utsūtra-Kanda-Kuddāla) condemned and proscribed by Hiravijaya Sūri and by his successor Vijayasena Sūri. The question was submitted to the Emperor who heard the view-points of both the sides-Vijayadeva Sūri and Nemisāgara Upādhyāya on the one side and Nandivijaya and Bhānucandra on the other. Jahāngir asked them to follow their former masters' views and live in peace.

Nemisagara died at Mandu about this time (on Kartak Sud 10 S. Y. 1674-

[&]quot;After a leigurely journey of more than four months, the Imperial party entered Mandu on March 6th 1617" (i. e. Monday, Fagan Sud 7th S. Y. 1673) and left for Gujrat on Friday, Kartak Sud 5, S. Y. 1674"—Jahāngir—nămā. Jahāngir thus stayed for 8 months at Mandu. (See Beniprasād's "History of Jahāngir").

Wednesday 29-10-1617 A. D.), (Read "Nemivijaya Nirvāṇa Rāsa" composed by Kṛpāsāgara on Māgsar Sud 12, S. Y. 1674 i. e. Saturday 29-11-1617 A. D. embodied in my 'Jaina Aitihāsika Rāsamālā, published by Adhyātma-jnāna Prasāraka Mandala).

11 Dayākus'ala.

He had an interview with the Emperor. The Emperor inquired of him about Vijayadeva Sūri and gave him a letter addressed to the Sūri. The letter was dated Shahban 19th 1027 H. (-Saturday 1st August 1618 A. D). Its contents were:—"We are much pleased with what we learnt from your pupil who was very experienced and intelligent and to whom we paid due attention. We did what he requested us to do". Vide Appendix.

12-13 Dharmamūrti and Kalyāņasāgara.

Kuņrapāla and Sonapāla, two wealthy Jaina brothers of the Oswāl Bania family, were highly respected at the court of Jahāngir who had appointed them as Sealdārs. They got a large Jaina temple built at Āgrā; the idols of Śreyānsanātha and Mahāvīra Jinas were installed in it by Kalyāṇasāgara, a disciple of Dharmamūrti Suri, the "Guru" of these brothers (Thursday Vaiśākha Sudi 3rd, S. Y. 1671 correspondling with Saturday 2-4-1614 A. D.). It seems that both the Sūris were granted interviews by Jahāngir. (Vide Inscriptions Nos. 308 to 312 & 433 Nāhar. I Nos. 1456, 1578 to 1584, Nāhar II; an article by Prof. Benārasidās on Kuṇrapāla and Sonapāla Praśasti in Jaina Sāhitya Samśodhaka II. No. 1 pp. 25 to 36; Gujarāti poem—Kalyāṇasāgara Sūri Rāsa-composed by Udayasāgara Sūri in S. Y. 1802).

IV, SUMMARY OF PRESENT WORK.

This book appears in print for the first time. It is an attempt at the biography of Bhānucandra, a Jaina monk at the Court of Akbar. The author is Siddhicandra, a disciple of the biographee. The book in the present form consists of 749 verses divided into four *Prakāsas* (Chaptars), containing 128, 187, 76 and 358 verses respectively.

First Chapter—The first five verses are benedictory. The author invokes the five Jinas, namely, Rṣabhanātha, Śāntinātha, Neminātha, Pārśvanātha and Vardhamāna (Mahāvīra).

In the succeeding verses the author expresses his inability to do justice to all the events of the life of his noble and virtuous master. He states that though not endowed with a comprehensive frame of mind, he humbly intends to shed some light on the life of Bhānucandra, be the task as difficult as trying to cross the boundless ocean in a fragile boat. With this manifestation of modesty which becomes him well, he introduces us to the personality of his biographee briefly and generally in the following terms:—

He taught Akbar one thousand names of the Sun, correctly; Akbar, under his influence, issued firmans prohibiting animal-slaughter and abolishing tax on pilgrims to the Satrunjaya Hill &c.

The greatest among ascetics, he composed a commentary on the Sun (Sūrya-Sahasra-Nāma), commentaries on Vaṣantarāja's S'akuna (a book on omens), on Kādambari (by Bāṇa), on Kāvya-Prakās'a (by Mammata), on Nāma-Sreṇi (Anekārtha-Nāmamālā-a lexicon of Sanskrit words), on Viveka-Vilāsa (by Jinadatta Sūri), and on other good works.

Jahāngir, who had issued an order deporting all ascetics in Gujarāt, revered him and restored him and his pupil, Siddhicandra Upādhyāya, to their original position at his Court (Verses 9 to 12).

The following, says the author, is a brief account of this great monk who had the honour of preaching the Jaina gospel to Akbar and who thus enhanced the glory of Jainism at his Court. There is not a single exaggerated statement in this account; neither can the charge of wilful omissions be levelled against it. It gives truth, and nothing but truth.

Verses 14 to 38 contain details about the city of Ugrasena (Agrā). It is situated on the banks of the Kālindi (Jamnā), which flows into the sea after merging with the mighty Ganges at Prayāga. Merchants—and rich ones at that—carry on a roaring trade there, in elephants, horses, birds, bulls, slaves, cloths, diamonds, sweet fruits, vegetables for all seasons, and in hosts of other things. It is thickly populated. Hundreds of kings visit the city. Towering temples decked with diamond-studded pillars are built there. It contains no small number of multimillinonaires who can stand comparison with Kubera, and it is no less catching in appearance than Alakā (the metropolis of Kubera).

Details about Akbar are given in Verses 39 to 65. He was the Rāma of the Mogul dynasty. Thieves and robbers were conspicuous by their absence in his empire. His glory was white as moon, because he had defeated all his enemies. His religious fervour never ebbed, as is shown by his high regard for all the six systems of philosophy. He took active interest in all arts and in all branches of learning. On the battle-field

²¹ Agra—is a pleasant city with a healthy climate. The river Jamna meanders through it in a stretch of 5 kos, and on both the banks are rows of delightful villas and charming meadows. It contains peoples of all climes and colours and is an emporium of world trade. His Majesty has got built there a fort of red stone, the like of which the eyes of travellers have never met. There are in it more than five hundred buildings in masonry; they are architectural models designed by artists from Bengal and Gujrat, and are noteworthy for their excellant sculpture and delicacy of form. At the eastern gate are two stone—elephants with riders, graven with exquisite skill. In former times, Agra was a village under the power of Biānah. Sultan Sikandar Lodi selected it as the seat of his capital; his present Majesty has embellished it and transformed it into a matchless city" (Aine Akbari II, P. 180) J.

he was ever victorious. He was the father of three²² valiant sons, S'ekhuji, Pāhadi, and Dānaśāha by name. His army consisted of 27 hundred thousand cavalry, 12000 horses being reserved for his personal use in the royal stables which also contained 14000 elephants, and one hundred thousand elephants.²⁵ He by his own valour, defeated his opponents and annexed Gujarāt, the beauty of which was heavenly, to the Mogul empire. (In 1572 A. D., he made his triumphant entry into Ahmedābād, the then capital of Gujarāt). Learned men from all the parts of the world flocked at his Court.

Saikh²⁴ Abu-l Fazl is dealt with in verses 66 to 77. He was endowed with eight²⁵ qualities of intellect. Loyalty to the emperor, purity of conduct and freedom from malice were some of his many qualities which endeared him to the Emperor who treated him as

- 22 S'ekhuji—the eldest son of Akbar, described as Prince Royal by Abul Fazl. He was called Salim, because he was born (on 31-8-1569 A. D. at Fatchpur Sikri) in the house of Shaikh Salim Chishti. Akbar used to call him Shaikhu Bābā. He sneceded Akbar as Emperor Jahāngir and died on 28/11-1627 A. D.
 - Pāhadi or Pahāri—Akbar's second son named Sultān Murād born in 1570 A. D. He was nicknamed Pahāri (Bad. II, 378) as his birth occurred in the hill country of Fatehpur. When he was sent to conquer the Deccan, he had taken to excessive drinking through associating with unworthy persons, so that he died in his 30th year near Jalnapur in Berar. Dānas'āh or Dāniyāl—Akbar's third son born in September 1572 A. D. was named Shāh Dāniyāl as his birth took place at Ajmer in the house of one of the attendants of the Shrine of Chishti whose name was Shaikh Dāniyāl. After death of Murād he was sent to conquer Deccan and was successful; he too died from excessive drinking in the 33rd year of his age.
- 23 The strength of Akbar's army: Blochman states:—"We have not sufficient data to form an exact estimate of the strength of Akbar's army. We can, however, guess it as 25000 men (troopers, musketeers and artillery). Imperial stables contained 12000 horses hence about 12000 standing cavalry. The rest were matchlock-bearers and artillery. Abul Fazl states that there were 12000 match-lock bearers" (Aine Akbari Vol. I, pp. 245-6). We find in Noer I p. 286:—"Abul Fazl gives the effective strength of 44 lacs of men. The standing army-the troops in pay-were, according to Badaoni, 25000, and in the latter years of Akbar's reign, they consisted of some 12000 troopers and 13000 artillery and match-lock men-the banduqchis."
- 24 Abul Fazl was the learned unorthodox theologian who had shown extraordinary precocity and had spent a studious youth. He succeeded, in 1574 A.D., by means of a Koranic commentary, in attracting the attention of the Emperor. He occupied an informal position as Secretary of State and Private Secretary, which secured him, in practice greater power than if he had been Vakil or Vizier. His brilliant official success was due partly to his exceptional intellectual gifts and partly to his adroitness as a courtier. He was the author of Akbarnāmā and Aini-Akbari (or "Institutes of Akbar"). The former is the leading authority for the narrative of events in Akbar's reign and the latter is, in short, a descriptive and statistical survey of the empire, combined with a detailed account of the Court and of the administrative system. He met his death in 1602 (12-8-1602) by a murderous attack at the instance of Prince Salim in the fifty second year of his age". (Vincent Smith's "Akbar, the Great Mogul"). "Aini Akbari" was completed in 1005 H. i. e. 1596-7 A. D.
- 25 The eight qualities of intellect are: (1) द्राअपा desiring to hear (2) प्रतिपुच्छा inquiring again (3) अवण listening (4) भ्रहण understanding (5) ईहा reflecting (6) अपोह removing doubts by the exercise of the reasoning faculty (7) भारणा fixing in mind and (8) सम्बद्धरण-सम्यगनुष्ठान properly putting into practice. Vide Vis'eṣāvas'yaka Sūtra verses 561 to 564.

his intellectual friend and companion. He had drunk deep at the Pierian Spring; his mastery over, and grasp of, various schools of philosophy was simply amazing. The following list will give an idea of how many things his head carried, though the list is by no means exhaustive:—Jainism, Mīmāmsās, Buddhism, Sānkhya, Vaiśeṣika, Cārvāka, Jaiminīya, Pātanjala Yoga, Vedānta, Vocabulary and Lexicography, Music, Dramaturgy, Rhetorics, Purāṇas, Prosody, Science of Omens, Astrology, Politics, Sexiology, Mathematics, Palmistry, Veterinary etc. etc. In short, there was no branch of learning which did not come within the grasp of this intellectual giant. The serenity of his temperament, his forgiving nature and his foresightedness were only some of the many striking qualities of head and heart with which he was endowed. When Murād-Akbar's son-was in trouble, Akbar appointed the Saikh as the general of his army, and sent him to his rescue. Murād died and the army was thoroughly organised by the Saikh. In appreciation of this service of his, the Emperor conferred on him the title "Dalathambhana" (Pillar of the army²⁶). (77).

The remaining verses of the chapter are devoted to the account of Hīra-Vijaya Sūri.

Once upon a time the Emperor inquired of his Sāmantas (Officers), who had returned from Gujarāt, whether they had seen or heard of any saint who was austere, free from desires, dispassionate, calm in appearance and who had subdued his senses. They replied that a Jaina priest named Hīra-Vijaya Sūri was reported to possess all the qualities mentioned by the emperor (Verses 78 to 95). Akbar then sent a firmān to Sāhibkhān, the Subā (Governor) of Gujarāt, asking him to request the priest to go to Āgrā. Sāhibkhān inquired of the S'rāvakas (Jaina laity) of Rājadranga (Ahmedābād)²¹ the whereabouts of the Ācārya. They informed him that the Ācārya was residing at Gandhār²³ where Sāhibkhān sent him the royal message. The Sūri forthwith came

I was sent off on the 25th Dai (about 5th January 1599—4th of Pausa Vadi S. Y. 1655) to bring Prince Sultān Murād. An order was given that if the officers of the Decean should take upon themselves the supervision of the country, I was to come to Court with the Prince. Otherwise, I was to send him off and to work in harmony with the others, and to act according to the opinion of Mirzā Shāhrukh" Akbar-Nāmā III, p. 1119. Abul Fazl received a warlike elephant over and above the choice horse and a special khilat. He reached Dehāri on the banks of the southern Purņā 20 Kos from Daulatabad on May 2nd 1599 A. D. (Vaišākha Vadi 2nd S. Y. 1656) on which day Murād died. Abul Fazl further continues:—
"After the death of Prince Sultān Murād, the writer of the noble volume took charge of the arranging of the army, the guarding of the country, and the capturing of places that had not been taken" p. 1131, "Akbarnāmā" III.

²⁷ Ahmedābād:—The first capital of Gujarāt was Pāttan. The next was Cāmpāner, and the third at the time was Ahmedābād. The last named city was prosperous and flourishing centre of trade and commerce on the banks of the Sābarmati (Savarṇamati). It lies in latitude 25°. For the pleasantness of its climate and its display of the choicest products, it is almost unrivalled. It has two forts, outside of which are 300 quarters of a special kind which they call Porah (Purā) in each of which all the requisites of a city are to be found. At the present time only 84 of these are flourishing (Aini Akbari II, P. 240, Jarrett).

²⁸ Gandhār:—Bharoj (Broach) has a fine fort. The Narbadā flows past it in its course to the ocean. It is considered to be a maritime centre of first rate inportance and the ports of

to Ahmedābād and had an interview with Sāhibkhān, who offered him a conveyance and other facilities for his journey. The Ācārya politely thanked him for his kind offer and said that he could not accept them because Jaina monks were forbidden by a religious tenet to accept any such means of material comfort. A few days later, the Sūri started from Ahmedābād, and preaching the Jaina gospel at every village and town on his way, where he was accorded a warm reception, he finally reached Āgrā to go to Fatehpur. At Āgrā the whole Jaina community headed by Sthānasimha of and others celebrated the occasion of his arrival with great eclat, and paid homage to the monk with offerings of gold and silver coins to the accompaniment of musical instruments. (110).

On that very day (Jyestha Vadi 13th S. Y. 1639-Monday 18th June 1582 A. D.) the Acarya was escorted to the Emperor's presence by Abul Fazl. The Emperor received him and greeted him warmly. After some preliminary remarks about the Suri's health, the Emperor put him a direct question: "What was true religion?" The Suri replied that the religion, the foundation of which was compassion (dayā) was the best. The Emperor, though fond of hunting, was convinced of the truth of what the Sūri said. The Suri's words had touched his heart deeply. He respectfully bowed to him and, with folded hands, said that he could not think of any fit present for the Suri, who had renounced all worldly comforts, except a Jaina Library located in his palace. He requested the Suri to accept that gift of him and thus oblige him. All the Jaina books were brought there and were presented to the Acarya. Again the Emperor requested the Suri to ask of him anything he required. Then the Sūri asked him to prohibit animal-slaughter during the eight days of the Paryusana holidays. Not only did the Emperor readily accede to this request, but he went a step further and prohibited animal-slaughter for four other days. The Sūri's dignified calmness of appearance and renunciation of worldly desires highly impressed the Emperor. Then the interview ended-an interview in which

Kāvi, Gandhār, Bhābhut and Bhankorā are its dependencies. Aine Akbari II, P. 243. Gandhār is a port frequented by vessels in Sarkar of Bahroch (Broach) South with revenue of 2,40,000 P. 255 Aini Akbari II.

²⁹ Fatchpur:—"was a village, formerly one of the dependencies of Biānah. Later on it was called Sikri. It was situated at a distance of 12 Kos from Āgrā. After the accession of His Majesty, it rose to be a city of first rate importance. A masonry fort was erected; the two elephants carved in stone at its gate inspire astonishment. Several noble mansions also were built. The royal palace and the residences of the many of the nobility are at the top of the hill. The plains also are studded with numerous beautiful mansions and gardens. At the behest of His Majesty, a mosque, a college and a religious house were also built upon the hill the like of which few travellers must have seen elsewhere. In the neighbourhood is a tank, twelve Kos in circumference and on its embankment His Majesty has got constructed a spacious courtyard, a minār (spiral tower) and a place for the game of Chaugān". P. 180 Aini Akbari Vol. II (Jarrett)

³⁰ Sthānasimha-Thānasimha:—He was at first a non-Jaina and then was converted to Jainism by Simhavimala a Jaina Tapagacchīya Sādhu and the guru of Devavimala the famous author of Hīra-Saubhāgya-Mahākāvya at the end whereof is stated about Simhavimala:—

मिध्यात्वं मनसो निरस्य विलसद्वाचां विलामैनिजैस्तसिन्स्थापयित सा धर्मननमं स्थानादिसिहस्य यः।

दामं पोरनिदामधर्मपटितं प्रावृद्धयोदक्रजो दृष्टीनां पटलैरिवामृतरसं भूमण्डलस्थान्तरा ॥ १६ ॥

Sthānasimha became one of Jaina leaders at Āgrā and took a prominent part in Jaina affairs as will be seen later on.

the Ācārya had rendered no small service to Jainism. He stayed in that country for four monsoons and then started for Gujarāt, leaving his pupil Śānticandra Upādhyāya at the Court. After his departure, the Emperor again went to Lābhapura (Lahore) (in 1586-7 A. D.). (127).

Second Chapter-The geneology of Bhanucandra is the subject of the first 21 verses of the second Prakās'a. In the non-idolator Jaina sect, Lumpāka by name (Lumpāka is a Sanskrit vulgar term coined from the name of its founder, Lunkā or Lonkā. The sect is at present called "Sthānakavāsi"-a refined term), there was a learned monk, Hāna⁸¹ Rsi by name. He had dived deep into the ocean of Jaina sacred literature, as a result of which he could not help coming to the conclusion that worship of Jina idols was an essential tenet of Jainism. He left his own sect and joined the Tapa Gaccha-one of the idolator Jaina Svetāmbara groups-along with his hundred disciples. One of these disciples was Sakalacandra Upādhyāya. It is said of him that while festive preparations were going on for his marriage, he renounced the world and was initiated into Jaina priesthood, just like Jambukumāra (later on Jambusvāmi, a desciple of Sudharmā Svāmi, a prominent successor of Lord Mahāvīra). He composed a poem in Gujarāti entitled "Sattarabhedi Jina- Pūjā (17 ways of worshipping Jinas). The poem is very popular and is till now being sung in every village and town by the Jaina laity. Sakalacandra had many learned pupils, amongst whom Suracandra and Santicandra were the principal ones. Suracandra was a man of high intellectual attainments. It was said about him that his genius shone as if he were a Kṛṣṇa-bhārati (i. e. Sarasvati, the goddess of learning, darkly arrayed). He composed verses on the spur of the moment and always carried the palm in debates (1-21).

Amongst his pupils, one, Bhānucandra by name, was the most prominent. He studied at his master's feet and acquired mastery over Jaina scriptures. Out of affection, Hīra-Vijaya Sūri himself conferred on him (Bhānucandra) the title "Prajna" (Pandita, Pan-nyāsa). He was regarded as Gautama (the first desciple of Lord Mahāvīra) incarnate, and was revered by all as the crowning jewel of Tapā Gaccha. He initiated into his order many sons of wealthy Banias. He blanched his opponents like the sun, and soothed his adherents like the moon. Hence his name was most appropriate to, and in keeping with, his virtues. Hīra-Vijaya Sūri deputed him to the Court of Akbar, hoping confidently that much good would accrue to the Jaina Order out of his influence over the Emperor (33).

In obedience to the order of the Ācārya, Bhānucandra went to Lābhapura (Lāhore) where he was received with great jubilation by the Jaina laity. He put up at the upās'raya (a halting place for Jaina monks). His friend Abul Fazl escorted him to the royal Court where the Emperor granted him an audience. His personality and his manner and ease of answering the questions put to him impressed the Emperor profoundly.

³¹ He was at first a pupil of Jivaji of Surat belonging to Lonka Gaccha. He left that fold and took initiation from Hemavimala Süri of Tapa Gaccha in S. Y. 1582. See J. G. K. III, p. 1694. The Süri placed him under his pupil Kus'alamāņikya & named him Sahajakus'ala, as I find from one pattāvali with me.

He requested him to visit the Court everyday and instructed the gate-keeper to see that all facilities were given to the monk to come and see him without let or hindrance. Accordingly Bhānucandra used to pay daily visits to the court where he was received with honour.

Saikh (Abul Fazl) expressed his desire to study under him "Sad-dars'ana-Samuccaya" (A treatise expounding the six Systems of Philosophy, compiled by Haribhadra Sūri, a commentary upon which is written by Gunaratna Sūri. Read paragraphs 217 and 672 of my "Short History of Jaina Literature"). Bhānucandra readily agreed to do so. Abul Fazl always made notes of what the monk taught him. Attachment between them grew very much on account of this.

Upādhyāya Śānticandra realizing that his further stay at the Court served no useful purpose, approached the Śaikh and requested him to procure royal permisson for his departure. The Emperor granted the permission but instructed the Śaikh to inform Śānticandra that Bhānucandra's presence at the Court was desired by him. Accordingly he departed for Gujarāt³² (65).

During his stay at the Court Bhānucandra distinguished himself for his extraordinary intellectual attainments. Once upon a time the Emperor asked the Brāhmins to enumerate to him one thousand names of the Sun. The Brāhmins failed in the attempt; fortunately for them, however, a highly talented person did the work for them. Then they submitted the compilation to the Emperor. With great delight at the attainment of his desire, the Emperor asked them who was competent enough to explain to him the significance of those names. The Brāhmins replied that only that person was fit to do it, who had subdued his passions, who slept on the ground and who led a celebate life. Thereupon the Emperor told Bhānucandra that only he possessed those qualifications and requested him to read to and teach him those names every morning (71).

It was the Emperor's habit to get out of bed at early dawn. Arraying himself in royal robes, he used to occupy the royal chair (simhāsana) placed in the centre of the royal Court on a raised platform. The magnificence of Akbar's Court beggars description. With musical instruments playing sweet melodies, with gate-keepers and door-keepers in their liveries standing at their proper places, with a row of feudatory princes paying their respects to His Majesty, with numerous courtiers bustling hither and thither, with singers and dancers and wrestlers vying with one another to please His Majesty and to stand in his favour, with attendants carrying boxes of jewels and other valuables sent as presents to His Majesty by kings and governors from various parts

³² In Hīra-Saubhāgya-Kāvya—Ch. 14 versess 270 and 271 it is stated that Šānticandra approached Akbar and said that he would ask Bhānucandra to stay at the Court at Fatehpuri and requested him to grant him permission to depart because he wanted to be by the side of Hīra-Vijaya Sūri. The Emperor granted him permission to go and gave him firmān set with his own seal, abolishing Jaziā tax and prohibiting animal-slaughter, in appreciation of his having daily heard from him Kṛpā-rasa-Kośa composed by him at the instance of Hīra-Vijaya Sūri". For further details see before at pp. 8 and 9.

INTRODUCTION.

of India, with elephants and camels and horses of the best breed nicely arrayed in the spacious courtyard—the Court presented a sight hitherto unrivalled in splendour and majesty. The first thing that the Emperor did after entering the Court was to repeat the thousand names of the Sun³³ as uttered by Bhānucandra with great devotion, with his face towards the Sun and with folded hands. Bhānucandra recited these names with him. This routine enhanced the reputation and respect of the Jaina monk to a very high degree. Jaina order rose in the estimation of the people (109).

One day, the monk desiring to uplift the poor told the Emperor that charity given during 8 sacred days (of Paryuṣaṇa) would bring about hundred-fold merit. On hearing this the Emperor expressed his desire to fast and to give gold in charity to the distressed. Accordingly, he took his bath, and dressed in immaculate white, sat in the Court and distributed six thousand gold mohrs among the poor. Akbar offered gold mohrs to Bhānucandra and presseed him to accept them. The monk, however, thanked him politely for the offer and said that he could not accept anything pertaining to material comfort, because according to his religious tenets, he as a monk and recluse was expected to be free from worldly ties or desires. At this very time the Emperor received a message from Aziz⁸⁴ Kokā that the Jām⁸⁵ was defeated and that his whole army had surrendered.

^{33 (}In 991 H.) "A second order was given to the effect that the Sun should be worshipped four times a day in the morning and evening and at noon and midnight. His Majesty had also one thousand and one Sanskrit names of the Sun collected and read them daily, devoutly turning towards the Sun. He then used to get hold of both ears, and turning himself quickly round about, used to strike the lower ends of his ears with his fists" (Al Badauni-Lowe's Trans. Vol. II, p. 332).

[&]quot;A number of disciples, he called Chelāh. And another lot who were not admitted into the palace, stood every morning opposite to the window near which His Majesty used to pray to the sun....And every evenig there was a regular Court assembly of needy Hindus and Mussalmans, all sorts of people, men and women, healthy and sick, a queer gathering and a most horrible crowd. No sooner had His Majesty finished saying the thousand and one names of the "Greater Luminary" and stepped out into the balcony, than the whole crowd prostrated themselves and cheating and thieving Brāhmins collected another set of one thousand and one names of "His Majesty the Sun" and told the Emperor that he was an incarnation, like Rām, Krishna and other infidel kings"....Ibid P. 336.

³⁴ Aziz Kokā:—Mirzā Aziz Kokāl-tāsh Khān-i-Āzam Aziz Kokāh (No. 21) "Kokāh" means foster brother. He was Akbar's foster brother. In the 17th and 23rd years of Akbar's reign he was in Gujarat, and towards the end of the 34th year he was appointed Governor there. In the 36th year, he moved against Sultan Mazaffar and defeated him in the following year. He then reduced Jām (on 8-8-1591) and other Zamindars of Cutch to obedience, and conquered Somnāth (Junāgadh on 27-8-1592) and 16 other harbour towns (in the 37th year i. e. A. D. 1592-93) Aini Akbari II, P. 325-Vide History of Gujarāt-Bombay Gazetteer P. 271-272.

³⁵ Jām:—Jām Sattoji-Satarsāl (Śatruśalya)—The news of his defeat was conveyed to Akbar on 8-8-1591. See Akbarnāmā Vol. III, P. 902. It is stated on p. 250 of Aini Akbari Vol. II:—
"On the Gujarāt side towards the South is a Zamindar of note whom they call Jām, a relative of the ruler of the above named State (Cutch). Sixty years ago, Jām Rāwal after a war of few months, was driven out of the country, and settled in Sorath between the territories of the Jaitwāh (Jethvās), Badhel (Vāghers), Chāran and Tumbel tribes. He possessed himself of other parts and founded the City of Nawānagar and his country received the name of Little

The Emperor was much pleased to hear this glad piece of news and again requested the monk to accept a pārṇapātra-a vessel or a box or a basket filled with valuable things-often given as present to one who brought good news. The monk taking advantage of this opportunity, said that if it was His Majesty's desire to do something which would bring happiness to him, he should issue an Order to the effect that the prisoners of war in Saurāştra should be set free. Akbar hesitated for a moment and considered whether it was safe and sound to release the prisoners of war. In the end, however, his innate respect for any one learned and free from worldly desires got the better of him and he complied with the monk's request. A firmān on which was set his own seal, was issued and was given to Bhānucandra who immediately got it despatched to Gujarāt. For this achievement the fame of the monk spread far and wide and the glory of Jainism was recognized by all. (121)

There was no halting place for Jaina monks in the fort of Lahore. Bhanucandra, though keenly desirous of having one, thought that the object of his desire was not easy of achievement due to the antagonism of Muslims and other non-Jainas. After some hard thinking, he hit upon a plan. So, one day, he went to the Court to recite the names of the Sun, later than was his wont. The Emperor asked him the cause of his being late. Bhanucandra replied that his place of residence was far away in a crowded corner of the city and that he had always to experience much difficulty in making his way to the royal Court. Thereupon the Emperor pointed out that he could have at his disposal any of his palaces or an exclusive suite of rooms in any one of his palaces in the fort. The monk thinking that it could not be available as his own or beneficial to himself in future prayed for a gift of a piece of land for such a place of residence. The Emperor granted his request. A piece of land was made over to the Jaina community. A magnificent temple was crected there together with simple rooms for the residence of the monks. An idol of Santinatha was consecrated there. Gold jars shone upon the crystal domes of the temple and the Jaina flag fluttered from the top of the highest dome. Thus the monk fulfilled the long-cherished ambition of the Jaina community³⁶ (139).

In course of time a daughter was born to the eldest son (Salim) of the Emperor.

Cutch. Sattarsāl, the present Rājāh, is his grandson. There are many towns and the agricultural area is extensive. The residence of the Chief is at Nawānagar and his force consists of 7000 cavalry and 8000 infrantry".

- 36 The construction of an upāsraya at Lahore is referred to in Hīravijaya Sūri Rāsa verses 36 and 37 p. 182, the cost whereof is stated to have been Rs. 20,000/-.
- 37 "Prince Salim had created a veritable harem. He married several wives of various nationalities and religions. After his accession to the throne, he married a few others including Mihurrinisā-Nūr Jahān. Concubines raised the harem to the monstrous number of 300. A numerous progeny sprang from these unions" (Beniprasad).
 - We shall mention here from Akbarnāmā his daughters born before he came to the throne.
 - (1) On the eve of the 16th Ardibihisht (25-4-1586) the daughter of Rājā Bhagwant Dās gave birth to a daughter in the house of Prince Sultān Salim. According to Greek method 18 degrees of Sagittarius, and according to Hindu calendar 1 degree 41 minutes (A. N. III, p. 747) (Her name was Sultān-unnisā Begum who was born on 26-4-1686 and lived for 60 years.—Beniprasad).

The daughter was born in the constellation of Mūla. Wise men told the Emperor that it augured evil to her father and that the evil should be checkmated by some means. Thereupon the Emperor consulted the Master (Bhānucandra) on this point. He suggested that it could be done effectively by performing the "Astottara-saātra" ceremony (108 baths to be given to the idol of Jina in its temple). His Majesty declared that the ceremony was to be performed without delay at the newly built residence of the priest, and that he and Sekhuji (Prince Salim) would attend it personally. (145)

The master, thinking that Thānasimha was the proper person to look to the details of the ceremony, entrusted him with that duty. A vast hall was temporarily erected near the *upāśraya*. Crowds and crowds of people, out of curiosity and wonder, flocked to the hall which proved too small to meet such onrush. The Emperor sent an invitation to Mantri Karmacandra³³, the leading member of the Kharatara Gaccha,

- (2) In the beginning of Akbar's 34th year of reign on 28th Farwardin (6th April 1589) a daughter was born to Prince Sultan Salim by the daughter of Saidkhan. Akbar gave the child the name of Affat Banu. Ibid p. 816.
- (3) On the 15th (in the 34th year of Akbar's reign) a daughter was born in Lahore to Prince Salim by the daughter of Dariyā Malbhas (foot-note Darya Komm a powerful Rājāh at the foot of Lahore mountains). Akbar gave her the name of Daulat Nisā (foot note-the child only lived seven months) p. 865-6.
- (4) On the 23rd Mir after 3 hours, 13 minutes, (938 A. H., 1590 A. D. September) a daughter was born to Prince Salim by the daughter of Kisha Rähter. H. M. called her Bihar Banu (foot note-see Price's Jahangir 20. The child only lived two months. Her mother is there called Bibi Karnutty.) (Beniprasad says "She lived to a good ald age" pp. 29 to 31 History of Jahangir).
- (5) On the same night a daughter was born to the Prince by the Mota Raja's daughter. H. M. gave her the name of Begam Sultan (foot note-died in 12 months. Her mother was Jagat Gosain i. e. Jodhbāi) Ibid p. 880.
- (6) On the morning of 23 Farwardin (1000 Hij.) a happy starred daughter was born to the Prince Royal by the sister of Abiya Kāshmīrī (F. Note:—Presumably this is the daughter of the prince of Kāshmīr referred to in Price's Jahāngīr 20. Abiya is perhaps Yusuf Shah's son) p. 931.
- (7) In 1002 H. (1594 A. D.) on the 21st Aban after passing of 8 hours and 28 minutes, a sister to Sultan Parviz (Jahangir's son) was born. She suddenly died. p. 1005.
- (8) On the 24th Dai (1002 H. 1594 A. D.) after the passing of 34 hours, a daughter was born to Prince Salim by the daughter of Abdullah Biluc. It is hoped that she may become a source of increased fortune. p. 1015.
- (9) In H. 1003 on the 6th Shahriyar a daughter was born to Prince Royal by the daughter of Ibrahim Hussain M. It is hoped that she may become a great lady of the Age. p. 1631.
- 38 Karmacandra:—Karam Chand was an Oswal Jaina Baniā of Bacchāvat family. He was a minister of Rao Kalyān Simha and then Rāi Simha of Bikaner. As a mark of favour on him Akbar ordered that ladies of Bacchāvat family only could wear foot gold ornaments. When Tursamkhān plundered Sirohi in S. Y. 1633, he took away about a thousand Jaina metal idols to the Emperor from whom the said idols were obtained by Karamchand and brought to Bikaner in S. Y. 1639. Tursamkhān farther took Gujarāti baniās as captives; Karamchand got them released free of charge. He repaired the Jaina temples at Satrunjaya & Mathurā. He heard 11 Jaina principal scriptures from Jayasoma Upādhyāya at Bikaner. During the reign of Rāi Simha, Karamchand obtained a royal proclamation prohibiting cutting

respected by him to attend the ceremony. To the accompaniment of the royal band, attended by the officers of the four-fold army (Infantry, Cavalry, Elephants, Chariots-Artillery) surrounded by feudatory chiefs walking on foot, the Emperor went to attend the ceremony. Thanasimha together with others performed the ceremony (in honour of Lord Supārśvanātha-Hirasūri Rāsa). Both Akbar and Salim stood in front of the Jina idol and listened to the recitation of Bhaktāmara-stotra (a sacred hymn in Sanskrit by Manatunga Suri in honour of Adinatha Jina. It begins with the word "Bhaktamara" hence it is called by that name) by the master. The ceremony over, the Emperor stepped into the outer Court (ranga-mandapa) and stood there in front of the master. Salim stood near him. Thanasimha presented elephants and horses to the Emperor. Mantri Karmacandra followed suit, and presented to the heir apparent a pearl necklace worth thirteen hundred gold mohrs. Other members of the Jaina community also showered presents of gold ornaments and gold-embroidered cloths. Then the Emperor took some snātra-water from the gold pot and reverently applied it to his eyes and passed the rest to the harem. He then made gifts of gold mohrs to all and permitted by the monk returned to his palace. From that time onwards the Emperor and his son were blessed with added happiness. 39 (168)

Once the Emperor, surrounded by feudatory princes, was sitting in the Court, while the monk was explaining to him some of his difficulties. Impressed with his mien, manner and lucidity of exposition, the Emperor asked him what the highest title in the Jaina order was. The monk replied that "Ācārya" was the highest and the next in order was "Upādhyāya". On being asked which of the two titles he held, he replied that he held neither, as these titles were conferred by the head of the Order from whom he was far away. Then the Emperor repeatedly and pressingly announced that he conferred upon him the title "Ācārya". Bhānucandra politely told the Emperor that he was not yet fit to hold that title, the only person deservedly holding it at the time being Hīra-Vijaya Sūri. The Emperor was more than ever convinced of his selflessness and praised him in glowing terms. (178)

On the following day Abul Fazl advised the Emperor to confer on the monk the title "Upādhyāya". With festive preparations a foot, the Śaikh himself rapaired to the upās'raya and informed the Jaina laity which had assembled there that it was

of trees and killing of fish in three rivers viz. Satlaj, Dek and Rāvi. He got captives freed from Baluchies. The King Rāi Simha having shown signs of displeasure, Karamchand went to live at Mertā and then to the Court of Akbar who made him his ganjādhikāri-bhandāri. It was at his instance that Jinacandra Sūri was called by Akbar to his Court at Lahore, as is stated before at pp. 10 to 13. (Vide Jayasomas's Sanskrit and Guṇavinaya's Gujarāti Karmacandra-prabandha, Umrao Singh Tank's Some Distinguished Jains-'The rise and fall of the Bacchāvats', my History of Jaina Literature, and Nāhtā's Yugapradhāna Jinacandra Sūri).

³⁹ Vide Hīrasūri Rāsa (in Gujarati) P. 183 verses 38 to 45, wherein Śekhji is misprinted for Śekhuji, and Mānsimha referred to is not Sādhu Mānasimha pupil of Kharatara Jinacandra Sūri but he is a s'rāvaka by name Mānasimha Kalyāņa of Tapā Gaccha. Vide also "Karmacandra Mantri Prabandha" (in Gujarati) dhāla 8, and "Karmacandra Vansotkīrtanakam Kāvyam" in Sanskrit, verses 358 to 364, in respect of the Snātra-Mahotsava.

His Majesty's desire to confer the title "Upādhyāya" upon the monk. The news spread like wild fire and filled all who received it with delight. One of the old and wise heads of the community, however, pointed out to the friend of Akbar (Abul Fazl) that only the Head of the Jaina Church—the Acārya Guru—had the power to confer any title upon any one in the Order, and that titles thus conferred were only recognised by the Jaina community. So, he said, the Emperor's decision, would have to be at least ratified by the Head, to give it any validity. Thereupon the Saikh wrote out the imperial firmān and despatched it to the Head (Hīra Sūri) who was at that time residing at Rājadhanya-pura (Rādhanpur). Hīra Sūri readily confirmed the contents of the firmān and sent consecrated vāsakṣepa and a letter of appointment to Bhānucandra, thus making valid his competence to hold the title "Upādhyāya".

INTRODUCTION.

Third Chapter—[First Visit to Kāśmīr: Kāśmīr was annexed in 1586 A. D. It was Akbar's keen desire to visit the fascinating valley of Kāśmīr at the earliest possible opportunity. The valley came to be described as his private garden, after his visit. The Emperor started from Lāhore on April 22nd, 1589, and reached Śrinagar by the end of May. Entering the hilly region through Bhimbhar, he crossed Pīr Panjal (Pantsāl) range by the improved—though still bad—road which his Engineer-in-chief had constructed. He stayed in the valley for a few days. Prince Murād and the ladies who had been left at Bhimbhar were directed to meet the Emperor at Rohtās near Jhelum. Akbar travelled by the Bārā-mūla route and through the Hazāra District, then known as Pakhlī, to Attock. In accordance with the amended instructions his family met him there instead of at Rohtās. Thence the Emperor proceeded to Kābul where he spent two pleasant months, often visiting the gardens and places of interest. During his stay there, he received news of the deaths of Rājās Bhagvāndās and Todar Mall. On Nov. 7th he started for India, leaving Kābul, in charge of Muhammad Kāsim, the Engineer (P. 243, V. Smith's "Akbar") and reached Lāhore on 12-3-1590 (Akbarnāmā) corresponding with Fāgan Vad 1st S. Y. 1646 Thursday.

Second visit to Kās'mīr:—In August, 1592, Akbar started on a hunting expedition along the banks of Chināb, intending to pay a second visit of Kāsmīr. While on his way, he received news that a nephew of his governor over the valley, had rebelled and set himself up as independent Sultān. A little later the Emperor received pleasing piece of news, announcing the victory of the Khān Khānān in Sind. He considered the information as a good augury for the speedy suppression of the Kāsmīr rebellion. He was not disappointed in his expectation, for, before he entered the hills from Bhimbhar, he had the satisfaction of seeing the rebel's head which was sent by his officers. His stay in the valley was for only eight days, during which he amused himself with sport. Then he departed as on the previous occasion, by the Bārāmūla Pass and through the Hazāra District (Pakhlī) to Rohtās. Thence he returned to Lāhore where

⁴⁰ Vide (1) Hīrasūri Rāsa p. 183, verses 46 to 48 and p. 184, verses 1 to 3; and (2) Hīra-Saubhāgya-Kāvya P. 741. Chap. 14 verses 285 to 286, as regards the conferment of the title of the "Upādhyāya" on Bhānucandra. The Rāsa states 'on this occasion Śaikh Abul Fazl gave in charity 25 horses and Rs. 10,000'.

intelligence reached him that Rājā Mān Singh had defeated the Afghān Chiefs in Orissā and had annexed that country (P. 247. "Akbar.")

It was during this second visit to Kāśmīra that the Emperor issued a firmān abolishing tax on pilgrims to Mount Śatrunjaya. Details about this will be given in the following 3rd Chapter.]

In the *Third Chapter* are given details of the way in which Bhānucandra got the Tax levied from the pilgrims to Mount Siddha-Satrunjaya abolished by the Emperor; so that all doubts about it may be dispelled for ever.

Once upon a time the Emperor was seated on the royal chair in his Court held in the morning. Numerous kings, with folded hands raised upto their heads as a mark of respect were in attendance upon him. A white umbrella studded with pearls stood open above his head; while shining camaras-chowrie fans were wafted on all sides. While so seated and attended with royal paraphernalia, the gate-keeper made his appearance and submitted it to the Emperor that a man, hailing from Kāśmīra was standing just outside the gates. eagerly awaiting the royal permission to present himself before His Majesty. Akbar The stranger entered the Court and bowed respectfully granted the permission. to the Emperor. He told the Emperor that he had come all the way from Kāśmīra with the single object of paying his respects to him, because he had heard his praises everywhere. The Emperor then asked him what kind of country Kāśmīra was. Thereupon the stranger described in glowing terms the beauties of Kāśmīra.—its snow-clad mountains, saffron plants, multitudes of full-blown lotuses, and enchantingly charming regions like the source of the Brahma-putra. He gave a wonderful word-picture of Kāśmīra, which immensely impressed the mind of the Emperor and made him keenly desirous of visiting the country.41 Abul-Fazl supported the royal desire. On an auspicious day, previously settled for the royal journey, the mighty Emperor started for Kāśmīra, taking the Northern route, with a large retinue of feudatory princes, elephants, horses and chariots. and with flags flying from numerous standards. Pressed by the Emperor, Bhanucandra also accompanied him, staying in a nicely pitched tent with Abul-Fazl as his companion. at the halting-places on the way. When the Emperor and his army reached Bhambhar. he ordered a halt there for a few days, seeing that the soldiers needed rest.

At this time, the Kharataras, intent upon having exclusive possession of the great place of pilgrimage, Mount Vimala (Satrunjaya) were busy devising secret ways of

⁴¹ Kās'mīr:—"The country is enchanting and might be fittingly called a garden of perpetual spring surrounding a citadel terraced to the skies, and deserves appropriately to be either the delight of the worldling or the retired abode of the recluse. Its streams are sweet to taste, its waterfalls provide music to the ear, and its climate is invigorating. The rain and snow-fall are similar to that of Turkastān and Persia, and its periodical rains occur at the same season as in Hindustan. The lands are artificially watered or dependent on rain for irrigation. The dowers are enchanting and fill the heart with delight. Violets and red roses and wild narcissus flowers cover the plains. To enumerate the flora would be impossible." P. 348-49, Aini Akbari Vol. II.

INTRODUCTION. 35

achieving their aim. The master came to know of this. He then immediately took the learned Saikh into his confidence and told him that the Kharataras were devising ways of taking possession of the sacred Mount Pundarika (another name of Satrunjaya) which really belonged to his group (Tapas). As however, the Emperor unexpectedly issued orders for forward march, the matter was postponed for some opportune time in future. The Emperor, after crossing Mounts Ratna-Panjala, Pira-Panjala and others, reached Śrinagar (the carital of Kāśmīr). On Sunday, as was his wont, the Emperor heard the recital and the explanations of the names of the Sun, by the master. The recital being over, the master gently touched upon the subject of Satrunjaya, which was the most prominent in his mind. He told the Emperor that there was a sacred place of the Jairas, Satrunjaya by name, in Saurāstra, 43 to which Hīra Sūri intended to go on a pilgrimage, and that a tax was levied from pilgrims to that holy place. He further said that he and the whole Jaina community would be highly obliged if the Emperor kindly issued a firman abolishing the tax. Hearing this the Emperor told Samsudin.44 the eldest sin of Khan Azam that no tax was to be levied from either the revered Acarya Hīra-Vijaya Sūri or from any member of the Jaina laity when

- 43 The Sarkar of Sorath:—"It was an independent territory, having a force of 50,000 cavalry, and 100,000 infantry, the ruling tribe being Ghelot (Gohils). Its length from port of Ghogāh (Gogo) to that of Arāmrāl (Amreli?) is 125 Kos; its breadth from Sardhār to the seaport of Div, is 72 Kos. Or the east it is bounded by Ahmedābād; on the North, by the State of Cutch, on the South and West, by the (Indian) Ocean. Its climate is healthy; its fruits and flowers numerous. Grape: and melons grow here. This territory is divided into 9 districts each inhabited by a different tribe. They are also called Paraganas and their names are:—
 (1) New Sorath (Junagadh and others); (2) Old Sorath, called Nāgher (Pattan Somnāth and others); (3) Gohilwārah (Lāthi and others); (4) Wālāk (Mahuvāh and Talājā); (5) Bādhelah (Vārhers) (Jagat called Dwarkā etc.); (6) Barrā (Bardā) (Barrā Gumli etc.);
 - (7) Baghelah (Sardhar etc); (8) Wagi (in the uncultivated tracts of Jhanjhmer; and
 - (9) Timbel Tribe Aini Akbari II, p. 244.

⁴² Pīra-Panjāla:—"Āāśmir is encompassed on all sides by the Himālayan ranges: Twenty six different roads leai from it to Hindustān; but of these, those by Bhimbhar, (Chibhān) and Paklī are the best and can generally be travelled through on horse-back. The former is the shortest and it has several routes of which three are good: (1) Hasti Bhanj (Hasti Watar) which was the former route for the march of the troops; (2) Pīr Panjāl which his Majesty thrice traversed on his way to the rose garden of Kāśmīr. If on these hills an ox or a horse be killed, storm clouds and wind arise together with snowfall and rain; and (3) Tang Talah" Aini Akbari II, p. 347-348 (Jarrett). In a note on p. 348 it is stated:—"Pīr Panjāl has come to mean the pass of the Great Range, Panjāl being applied to a great Moutain Ridge".

The Ratnapanjal may be another name of either Hastibhanj or of Tangtalah, or it may be the name of an altegether different route.

[&]quot;In the third district at the foot of the Satrunjah (Satrunjaya) Hill is a large fort on its summit, the fort of Palitanah. Though in ruins, it deserves restoration. It is in great veneration with the Jains" (Ibid p. 247).

⁴⁴ Samsuddin:—"In A. D. 1600, owing to the death of Sultan Murad, Mirza Aziz Kokaltasıı (Khān-i-Āzam-rea: foot note no. 34) was third time appointed Viceroy of Gujarat and he sent Shamsud-din Hussain as his deputy to Ahmedābād".—History of Gujarat Bom. Gaze. p. 273. "Azamkhān's eldest son was Mirza Shāmsi (the said Shamsuddin) who was at the end of Akbar's reign, a commander of Two thousand" (no. 163 Aini Akbari I, p. 325).

they visited Satrunjaya. He further ordered him to inform his father, the then Governor of Gujarāt, of this royal order, by a written order and hand it over to Bhānucandra, "the best of the ascetics". So saying the Emperor at once repaired to his harem. In accordance with the royal wish an order was given to the master, who at once despatched it to his guru Hīra-Vijaya Sūri. (44).

The Kharatara Jainas⁴⁵ were overwhelmed with jealousy at this achievement of the Upādhyāya. They approached the Emperor and made humble entreaties to him to the effect that the Satrunjaya Hills should be made over to them as they were whole-heartedly devoted to his welfare and blessed him. Thereupon the Emperor asked them where the Hill was situated. At this very moment the Saikh made an inadvertent remark that the tax levied there brought a good, slice of revenue to the treasury. The Emperor on hearing this, ordered that no tax should be levied from any monk, who went as a pilgrim there. After that he retired to his seraglio. From that time onwards, the master (Bhānucandra), more determined than ever to secure the Hill for his group, launched on the programme of propitiating the Saikh with a view to convert him to his way of thinking about the Hill (48).

In Kāśmīra there is a large lake named Jaina Lankā 46 extending over some 55 Kosas. Desirous of visiting it, the Emperor accompanied by feudatory chiefs and

- 45 The Kharataras were with Akbar when he went to Kāśmīr. This is supported by the Kharatara books. Samayasundara a Jaina monk belonging to this group, says in the beginning of his Astalaksi that Akbar started for Kāśmīra from Lāhore on Śrāvaņa Śukla 13, S. Y. 1649 (Thursday 10th August 1592), and first halted at Rāmdāsa Garden at Lāhore. From "Karmacandra Vans'otkīrtanakam-Kūvyam" Verses 408 etc., we find that Mānasimha and Dungara alias Harṣa-Viśāla (monks of the Kharatara group) accompanied the Emperor to Kāśmīr and that before Akbar arrived at Rohitās, he asked Karmacandra to guard his seraglio, and he returned from Kāśmīr to Lāhore (on 29-12-1592 A. D. corresponding with Friday Paoṣa Śukla S. Y. 1649).
- 46 Jaina Lankā:—Zain Lanka. "His Majesty, determined on his return, on 20th of Aban, (1st November 1592 A. D.) set out in a boat, committing the government again to the care of Yusuf Mirza Rawasi. On his return journey, a reservoir named Zain Lanka was visited by him. Together with some incidents that took place after that, it is described by one of the company—Nizamuddin Ahmed—as follows:—"This reservoir is enclosed on the West, North and South by mountains and it is 30 Kos-60 miles in circumference. The river Bahat (Jihlām) passes through this lake. Its water is very pure and deep. Sultān Zainul Abidin carried out a pier of stone to the distance of 180 feet into the lake and upon it erected a high building. Nothing like this lake and building is to be found in India. After visiting this edifice, he (Akbar) went to Barahmulah, where he disembarked and proceeded by land to Pakhli....At Pakhli the Emperor was detained nearly a month by the snows and rains. He subsequently made a stay of thirteen days in Rohtās, left it on 9th December and arrived at Lāhore about 29th December 1592" (Noer Vol. II, P. 225-6) See also Elliot's History of India Vol. V. p. 465.

Abul Fazl, while describing the third visit in 1597 A. D. refers to Jain Lanka:—"On the 6th he went to Sihabuddinpur and from there he proceeded to Jain Lanka. When he came to the lake, there were high waves, the boat was taken to the bank, and he rested by the skirt of the mountain. On the 20th, he started in a vessel prepared for him, and witnessed the spectacle of the river Behat (Jhelam)". Akbarnāmā Vol. III, p. 1088.

by the guru (Bhānucandra) started towards it in a boat. The rest of his army walked by the road along the bank. After some days the Emperor reached Jaina Lanka. The climate of the whole region is cool and agreeable and it abounds in lotuses of variegated colours. During the Emperor's stay, there was plenty of rainfall in those parts. A cold wave passed through the whole region and the Emperor and the whole of his army had a hard time fight with excessive snow and biting winds. The Emperor, shivering with cold though stuffed with rich woolen yarn, was shocked at the thought of the plight of the ascetics whom their religious tenets forbade to put on any thing more than only a limited measure of cloth, in all climates. He and his retinue retired to the inner chamber where they all tasted the juices of various kinds of fruits. Next morning, when he saw the guru almost blanched with cold, he made a friendly joke at him to the effect that while others obtained the taste of fruits, he obtained the taste of cold. After the recital of the names of the Sun was over, the Guru, always intent upon achieving his desired object-the possession of the Satrunjaya Hill by his group-perceiving that the Emperor was in a happy frame of mind, gently observed that while His Majesty had satisfied the desires of all who solicited him, he was not granted the same favour. The Emperor immediately requested him to speak his mind frankly, assuring him that he would do all in his power to satisfy him. The Guru, who had renounced all worldly happiness and gratification of any desire resulting merely in his own happiness, at once put it to him that the tax levied from pilgrims visiting the Satrunjaya Hill, be abolished. The Emperor replied that it had been reported to him that the tax formed a good avenue of income to the royal treasury. The Guru argued that the income, he was quite sure, could not be more than a drop in the ocean of the revenues of his colossal empire. The Emperor smiled an understanding smile, and instructed Abul Fazl to prepare a firman abolishing the tax on that holy place and to hand it over to the guru. The firman was immediately penned by the Saikh. At the request of the guru, it was made in favour of Hīra-Vijaya Sūri. The Emperor put his seal upon it and handed it over to the guru who requested the Emperor to get it dispatched to Hīra-Vijaya Sūri. Thus the guru achieved permanent glory47. Hīra Sūri after receiving the firmān48. started on a pilgrimage to the holy place with Jaina congregations from many countries40. From that time onwards, all pilgrims to Mount Siddha-Satrunjaya-enjoy immunity from the pilgrim-tax (71).

Then the Emperor and his retinue started back by boats. After visiting Kāśmīra and Kedāra, he reached the foot of Rohitās. After a continuous march, during which he

[&]quot;In Khoihama which adjoins Little Tibet is a large lake called the Wuler, twenty-eight Kos in circumference. The Bihāt flows into it and its course is somewhat lost to the eye. Here Sultān Zainul Aābidin built a large palace called Zain Lanka" Aini Akbari Vol. II P. 364 (Jarrett).

⁴⁷ Vide "Hīra-Saubhāgya-Kāvya" Ch. 14, verses 277 to 284 pp. 738 to 741 re: the immunity from the pilgrim-tax.

⁴⁸ Hīra Suri got the firmān at Rādhanpur where he passed the monsoon in S. Y. 1648 (Gujarāti, S. Y. 1649 Hindi)

⁴⁹ In the winter of S. Y. 1649, he started on a pilgrimage with a sangha from Patan. He reached Satrunjaya in Caitra S. Y. 1650 (Hindi). — March-April 1593 A. D.

impressed the people highly with his powerful personality and greatness, he reached Läbhapura (Lähore)⁵⁰ (75).

A brave warrior and a wise general and statesman, Akbar subjugated almost the whole of India, and became Emperor in name and in deed (76).

The third prakāsa dealing with Akbar's visit to Kāśmīra and the freedom of Satrunjaya from pilgrim-tax ends here.

Fourth Chapter:—One day, the Emperor called to his Court a leading Jaina gentleman, Durjanasalyas by name, and asked him whom Hīra Sūri had appointed as his successor. He replied that a great and austere ascetic named Vijayasena Sūri was selected as his successor by Hīra Sūri. On hearing this, the Emperor issued à firman inviting Vijayasena Sūri to present himself at the Court and handed it over to Bhānucandra. When Vijayasena Sūri received the royal firmān⁵³, he immediately started for Lāhore, together with a batch of one hundred disciples. (8).

At each village on his way, he was received with great jubilation by the Jaina laity who listened to his sermons with rapt attention and fervent devotion. After some days he reached the out-skirts of Lābhapura (Lāhore). As ordered by Suratrāṇa (Sultān i.e. Akbar), Bhānucandra Vācaka (Upādhyāya) accompanied by the Saikh and the imperial army went forth to receive him in the city⁵⁸ (15).

Then Bhānucandra escorted the Sūri to the Emperor's presence, who was delighted to have an interview with him. He then repaired to his retreat in the city with great festivities by the orders of the Emperor. Vijayasena Sūri in company of the Vācaka (Bhānucandra) paid several visits to the Emperor. On one of the occasions, one of his disciples, Nandivijaya by name, performed avadhānas (attending to several subjects at the same time). The Emperor, amazed at this, conferred on him the title "Khuṣ-faham" (a man of sharp intellect) (18).

⁵⁰ Vide ."Hīra-Vijaya Sūri Rāsa" P. 182, verses 27 to 35. Akbar zeached Lähore on 29th Decembar 1592 A. D. (Pousa S. Y. 1649) as stated in f. n. 45.

⁵¹ A well-known Jaina of Lahore, he was Osval Bania of Jadia Gotra. His father's name was Nanh a son of Jagusaha. He led a Jaina congregation on a pilgrimage to Sauripura Tirtha, where he got the Jaina temple repaired and a Jaina idol consecrated therein. He also got a Jaina temple built at Lahore. He was a staunch adherent of Hira Suri. Vide "Durjanas'ala-Bāvani" composed by Kṛṣṇadāṣa in S. Y. 1651 Vais'akha at Lahore Yreferred to in my work "Jaina Gurjara Kavio" Vol. 1, p. 300).

⁵² He was at Rādhanpur at this time. He started for Lāhore on Mārgas'īrsa S'ukla 3rd, S. Y. 1649—27-11-1592 A. D. (Vijaya-Pras'asti XII, verse 2).

⁵³ Vijayasena Sūri entered Lāhore on (31-5-1593 A. D.) Jyestha Sukla 13th S. Y. 1649 Gujarāti and S. Y. 1650 Hindi. Vide "Vijaya-Pras'asti-Kāvya" Ch. XII, verse 93, Hīra-Saubhāgya-Kāvya" Ch. XIV, verses 287 to 290 p. 742-3 and also "Lābhodaya Rāsa" by Dayākus'ala in Gujarāti (referred to in my work 'Jaina Gurjara Kavio' Vol. 1 p. 296).

The Brāhmins felt very jealous of the exalted position enjoyed by the Jaina Ācārya at the royal Court., So, they deputed Rāmadāsa Mahārāja⁵⁴ to the presence of the Emperor. Ramadasa told the Emperor that the Suri and his followers were non-believers in Vedas, non-worshippers of God, and that they could not bow even to him. On hearing this, the Sultan, his eyes ablaze with anger, called the Suri, enumerated the imputations to him, and demanded an explanation. The Suri replied calmly that they believed in every thing and that the Brāhmins had hurled those charges against him and his followers out of jealousy. The Emperor conveyed this explanation to Bhattācārya-a brāhmin Ācārya-who told the Emperor that the Jaina Ācārya had said those things because he feared to incur the royal wrath, but that nothing of the kind was enjoined in his scriptures. Thereupon the Emperor asked the Saikh, who was standing near him, to find out the truth. The Saikh arranged a debate in the assembly-hall, and asked the Sūri to prove the truth of his assertions and to convince him and the Brahmanas about them (Details about the discussion are given in verses 27 to 41). In brief, the Suri explained that the whole world was subject to the inexorable law of Karma, and that those who attained omniscience and final beatitude were not subjected to physical embodiment. He further said that the idea of God as expounded in Samkhya was the same. Bhattācārya and his band felt trounced, and the Śaikh fully convinced and highly impressed, approached the Emperor and told him that the explanation of the Jaina Acarya was quite satisfactory and in complete harmony with what was stated in his scriptures. Then the Sūri was taken to his upāsraya in a large procession and his fame was greatly enhanced⁵⁵ (47).

शाके प्रयाति प्रष्ट ख पंच चन्द्र, संख्ये द्वितीयादिषु का त्तिकस्य। शुक्रेऽथ पक्षे रिववासरे च, सैन्यप्रवेशो नगरे बभूव॥ ७५०॥ Rāmadāsa accompanied him and is there stated to be a patron of Brāhmins who were presented with gifts by Akbar at his instance:—

ज्यह्यादीन-भूपाल-नित्यसेवनतत्परः । वभूव रामदासाख्यो विप्राणामुपकारकः ॥ तादृशान् ब्राह्मणान् दृष्ट्वा रामदासो महायशाः । विस्तीर्णस्वर्णेदुव्वर्णो वभी कर्णे इवापरः ॥ यद्वर्षणैरमृतमेप ददाति मेघस्तद्गजितेन सविकत्थत एतदेव । दानं सदैव ददतो न वभूव तस्य श्रीरामदास नृपतेर्हृदयेऽभिमानः ॥ अन्येषुर्पि सर्वे ते प्रहूलादनिर्म्मेलादयः । सम्मानितनरेन्द्रेण वचसामृतवर्षिणा ॥

श्रीमान् जयलादीनोऽपि रामदास निवेदितान् । विप्रान्निर्वापयामास चकोरानिव चन्द्रमाः ॥ ८०४ ॥

In Aine Akbari Vol. 1 p. 438, he is described as "Rāmadāsa the Kachwahat-"His father was a poor man and lived at Luni (or Baunti near Ranthambhor). Rāmdāsa was recommended to Akbar by his former master Rai Sal Darbari. He was appointed a Naib of Todarmal in the financial department. He amassed a fortune and though he had a palace in Agrah near Hatiapul, he lived in the guard-house, 'always watching with his 200 Rajputs, spear in hand'. Jahāngir in the 6th year sent him to Gujarāt and the Deccan and gave him the title of Rajah and a flag, Ranthambhor being assigned to him as jagir. It seems that he received the title "Rajah Karan". He was a liberal man and gave rich presents to jesters and singers".

⁵⁴ Rāmadāsa. He belonged to a Rajput clan of Kacchavāhas descendants of Mānasimha a king of Jaipur. His father's name was Udayarāja. He was a sun-worshipper and served Akbar. He was a learned man, patronised Brāhmins and composed a Sanskrit commentary on Setubandha Kāvya entitled 'Rāma-Setupradīpa' in S. Y. 1652 Bhādrapada Śukla 5th Thursday (Published by Nirnaya Sāgara Press). Chaturthi Rājataranyini (edition of 1835 published by R. A. Society) says at p. 119 in the verse 7.50 'Akbar's army entered Kās'mira on Sunday Kārtika Śukla 2nd, Śaka year 1508':—

⁵⁵ Vide "Vijaya-Pras'asti-Kāvya", Chapter XII.

Once upon a time, the Emperor greeted the Suri with affection, and said:-"Some time ago, Hīra-Vijaya Sūri complied with my request to confer the title "Upādhyāya" on Bhānucandrs. Now, I request you to porform the nandi (auspicious) ceremony in connection with the said title of Upādhyāya. He then instructed the Śaikh to accompany the Sūri to the pratis'raya (the Jaina monks' halting-place) for the purpose. The Suri unhesitatingly consented to do the Emperor's wish, and in company with the Saikh and his retinue, repaired to the pratis'raya. The Saikh celebrated the investiture ceremony with festivities on the grandest scale i. e. with the princes, multitude of elephants, horses, musical instruments and imperial bands. Rich and leading Jainas like Sthanasimha walked with the Minister. The Suri then performed the investiture ceremony with great pleasure. He also conferred "Vardhamāna Vidyā" (a mantra sacred to Lord Vardhamāna having as its presiding deity a goddess. by which the spiritual powers of the Guru are conferred) on Bhanucandra. Women sang joyful songs. The Saikh gave in charity 108 horses and personally distributed cocoanuts with silver coins, among those who had come to attend the ceremny. Banias showered gold coins. The Sūri was granted an imperial firman prohibiting slaughter of cows. buffaloes and other animals. Then he secured the royal permission to start for Gujarat. and leaving Nandivijaya at the Court, departed (67).

It often crossed the mind of Hīra Sūri that there were not enough of his pupils at Lāhore to preach and to spread the Jaina gospel there. So he sent two of his best pupils there-Bhāvacandra and Siddhicandra (the author of the present work)-both of whom were blood brothers and were recently initiated. The former of the two had made himself wellknown by his great services to his guru. The latter had won a high name for himself by his wealth of learning combined with a charming personality. He was as handsome as the God of love and was endowed with striking qualities of head and heart. He grew like a Kalparrkṣa watered with nectar poured out of jars in the form of popular eyes. All the arts vied with one another in being mastered by him. His genius was of an outstanding character. His was a comprehensive mind match for grasping, grappling with, and solving any intellectual conundrum. In intellectual sharpness he surpassed Abhaya and Rohā⁵⁶ (74).

Once upon a time the Emperor's eyes met those of Siddhicandra who had approached him out of curiosity. The Emperor felt that standing before his eyes was the God of Love incarnate, who had taken the form of an ascetic in order to be free for ever from the pangs of birth and rebirth. So much was he struck by the matchless beauty of Siddhicandra that for a moment he forgot everything around him including the Master and even himself, and simply marvelled at the shapely form of the young ascetic. Then rousing himself out of his stupor with an effort, he inquired of the Master who that ascetic was. The Master replied, "by nature courteous, and attached like a bee to a jasmine flower, to the science of eight avadhānas, (paying attention to eight things at the same time), he is my pupil, Siddhicandra by name, who has entered our Holy Order after having

⁵⁶ Abhaya-son and intelligent Minister of King Śreņika of Magadha in the times of Lord Mahāvira. Rohā-a genius described in Jaina folk-lore.

renounced the world, and who has recently come here from Gurjaratrā (Gujarāt)." The Emperor still with his mind full of amazement at the matchless handsomeness of the young ascetic, called him just in front of him to let his eyes have their fill. Then he summoned him to the inner Court, and in the presence of all kings, asked him to perform his feat of avadhānas. The Emperor was wonder-struck at his incomparable mastery over arts and conferred on him the well-known title "Khus-Faham" (a man of sharp intellect). Then he cheerfully asked him to permanently stay there and there alone, with his sons (86).

Siddhicandra used to visit the harem-the seraglio-sometimes by invitation of the Emperor and sometimes of his own accord. There he read voraciously and made himself within a very short time master of almost all branches of knowledge-various treatises on grammar like Mahābhāṣya (by Patanjali), poems like Naiṣadha (by Śrī Harṣa), works on logic like Cintāmaṇi (Tatva-C'intāmaṇi by Ganges'a Upādhyāya) on rhetoric like Kāvya-prakāṣa (by Mammatācārya) and on prosody and on various forms of dramaturgy. Then, prompted by the Emperor he studied the Persian language and then dived deep into that literature⁵⁷. About this time, Nandivijaya having secured the royal permission, departed for Gujarāt in order to attend upon Hīra Sūri (92).

About this time Hīra Vijaya Sūri died⁵⁵. When the Emperor heard this sad piece of news, he became exceedingly dejected and with tears in his eyes, inquired of the Upādhyāya at what place Hīra Sūri had attained divinity (died). The Upādhyāya, also full of sorrow, replied that in Saurāṣtra, there was a port Dvīpa (Div) by name near which there was a nice village named Unā; it was there that the great man had attained nirvāna. The cremation ceremony was performed in an oart of that village. He further said that a miracle happened at the time. The moment the smoke, that issued forth from the burning body below, came into contact with the mango-trees above, they all bore fruit though it was not yet the proper time for them to do so. He then requested His Majesty to grant to the Jaina community a piece of land there, so that a stūpa (monument in the form of a Tope) might be erected there to commemorate the name of the revered monk. The Emperor granted ten bighas for the purpose. A document to that effect was prepared, and the Upādhyāya despatched it through his brother Rangacandra. The local Sangha (congregation) then erected a stūpa^{53a} which appeared as if it were a heavenly vimāna, and thus evinced their intense devotion for the Ācārya (101).

⁵⁷ Vide the initial 9th verse from the commentary on Vasantarāja's Śakunas'āstra, beginning with यात्रया, in the Appendix. I

⁵⁸ On Thursday, Bhadarva Sud 11th S. Y. 1652 (Hindi) corresponding with 18th September 1595 A. D.

^{58°} The inscription carved at the time on the said $st\bar{u}$ pa still extant in the oart at Una runs as under:—

[&]quot;स्वस्ति श्री संवत् १६५२ वर्षे कार्त्तिक वदी ५ तुषे येथां जगद्गुरूणां संवेगवैराग्यसौभाग्यादिगुणगणश्रवणांतश्चमत्कृतैर्महाराजाधिराज पातिशाहि श्री अकवराभिधानेः गुर्जरदेशात् दिल्लीमंडले सबहुमानमाकार्य धर्मोपदेशाकर्णनपूर्वकं पुस्तककोशसमर्पणं, डाबराभिधान-महासरोमत्स्यवधनिवारणं, प्रतिवर्षे पाण्मासिकामारिप्रवर्त्तनं, सर्वदा श्री शत्रुंजयतीर्थं सुंडकाभिधानकरनिवर्तनं, जीजियाभिधानकर-कर्त्तनं, निजसकलदेशदाण−सृतस्वमोचनं, सदैव बंदीयऋणनिवारण-मित्यादि धर्मकृत्यानि प्रवर्तितानि तेषां श्री शांचुंजये सकलदेश-संपद्यतकृतयात्राणां भाद्रपद शुक्कैकादशीदिने जातनिर्वाणां श्रीरसंस्कारस्थानासऋफलितसहकाराणां श्री हीरविजयसूरीयराणां

After some time, the Emperor felt a desire to visit Kāśmīra again⁵⁸ in order to enjoy the sight of flowers in full bloom there. So, he set out for Śrīnagara. Both the Upādhyāya and Siddhicandra accompanied him. Siddhicandra used to read Persian books to his grandsons and read out what was taught the previous day the next morning to the Emperor. He was very useful and serviceable to the kind Emperor also. And thus his fame spread everywhere. After crossing Mounts Ratna-Panjāla, Pīra-Panjāla, and others, which had snow-clad snmmits, the Emperor reached Kāśmīra. He enjoyed there the sight of trees studded with scented and full-blown flowers. He stayed there for a few months, and visited all the places there, noted for their wonderful beauty of scenery. Then he returned to Lābhapura (Lāhore) (108).

The Emperor was much attached to the sport of deer-fight. See On one occasion, while witnessin an antelope-fight, he was so seriously wounded by a deer... sointed horn into his body, that he fainted on the spot. He was confined to bed in his harem for fifty days. During these days he suffered from intense and acute pain on account of the wound. During these days, nobody except Upādhyāya Bhānucandra and Śri Śaikh (Abul Fazl) both of whom enjoyed the Emperor's full confidence, was allowed to go near him. On account of much merit acquired in his former life, the Emperor recovered as if to do still more meritorious deeds. Immediately after his recovery, he sent five hundred cows to the halting place of the Jaina monks, for the purpose of destributing them in charity. The Upādhyāya asked the leading members of the community to distribute those cows among the Brāhmins of the city, and thus kept his glory green in the city till now (113).

प्रतिदिनं दिव्यवाय-नादश्रवण-दीपदर्शनादिकैर्जाप्रत्प्रभावाः स्तूप सिंदताः पादुकाः कारिताः प० (परिख) मेघेन भायां छाडकी प्रमुखकुदुंनयुर्तेन, प्रतिष्टिताश्च तपागच्छापिराजैः भट्टारक श्री विजयसेनस्रिभिः उ० (उपाध्याय) श्री विमलहर्षेगणि-उ० श्री कस्याणविजय गणि उ० श्री सोमविजयगणिभिः प्रणता भव्यजनैः पूज्यमानाश्चिरं नंदतु ॥ लिखिता प्रशस्तिः पद्मानंद गणिना श्री-उद्मतनगरे ग्रुमं भवतु ॥ Nāhar no. 1796

This was the third visit to Kās'mir. "In 1597, Akbar decided to spend the Summer in his "private garden" (Kās'mīr), to which he had twice paid hurried visits. This time two of his many companions were Fathers Jarome Xavier and Benedict of Goes. The Emperor this time returned to Lahore exactly after six months in November....Akbar fell ill and was nursed by his friend (Xavier) who was allowed to enter his bed-room, a privilege not conceded to the greatest viceroys in the Empire. The mountain roads, even after Kāsim Khān's improvements, were in such bad condition, that many elephants, horses and servants perished during the return journey." p. 259 V. Smith. "Akbar". (1st. Edition). According to Akbarnāmā Vol. III, P. 1083, Akbar started for Kās'mir in May 1597 A. D. and returned to Lahore on 14-11-1597 A. D. (P. 1096). May 1597 corresponding with Jyestha S. Y. 1654 and 14-11-1597 with Kārtika Vad 1st 1654 S. Y. (Hindi),

Akbarnāmā Vol. III, P. 1061-3 relates the incident and confirms that the illness lasted for one month and twenty two days.

Zabdatu-t-tawārikh also states:—In this year (1004 H.) also the king, while witnessing an antelope-fight was wounded in the thigh by one of their horns, which penetrated very deep. Great alarm was felt throughout the country, but after retiring for a few days to the inner apartments, and seating himself on the carpet of affliction, he recovered, by the blessing of God and restored comfort to the hearts of all the world."—Elliot's History of India Vol. VI, p. 193.

⁶¹ While Mr. V. Smith says, only Xavier was allowed to enter his bed-room! see previous foot-note No. 59.

One day the Emperor, accompanied by feudatory chiefs, elephant-army and cavalry camped at Ugrasenapura (Agrā). Bhānucandra and Siddhicandra also were with the Emperor. The former was teaching the Emperor's sons, while the latter at the desire of the Emperor brought up and bred up his grandsons. The Emperor's respect and love for Siddhicandra grew to a very great extent. At Agrā, some non-Jainas prejudiced the mind of the Emperor against the Jainas, and consequently, the Emperor issued an Order stopping the erection of a new Jaina temple there dedicated to Cintāmani (Pārsvanātha)⁶². The erection of the temple had already begun and it was nearly half-completed. Then Siddhicandra, by his personal influence over the Emperor, got the order cancelled and obtained the Emperor's sanction to go on with the work of building the temple, which was then completed within a short time (118).

Almost at this time the Kharatara Jainas insolently began the erection of a temple in the interior part of the principal temple precincts, on Mount Vimalācala (Satrunjaya) in Saurāṣtra. On this point, there arose a quarrel between them and the "respectable" members of the Tapā group, who took objection to it. Remembering the words of the wise that even at the cost of delaying the accomplishment of one's own object, efforts should be made to put a stop to the evil about to be inflicted by the enemy, the Upādhyāya obtained from the Emperor a firmān forbidding the erection of the new temple on the Mount (122).

Then the Emperor started on a military expedition to the South⁶³ to subjugate some rebellious kings there, with his fourfold army. On his ways, he camped at the famous fort of Gopācala (Gwalior)⁶⁴ famous for its invulnerability. There he found lacs of Jaina idols, carved in ancient times by the orders of some Jaina king, on the mountain well. The Emperor saw that they were deformed by some wicked persons. His sense of piety and purity revolted at the sight and he said to the Upādhyāya that to a man who would put those idols cleverly in their proper order, he would give as much wealth as he desired from the royal treasury. Hearing this frank and sincere declaration of His Majesty, which showed the nobility of his nature, the Upādhyāya pointed to him a Jaina who was competent for that task. That Jaina achieved the desired object in a short time by means of the Emperor's monies. Then the Emperor set out and

⁶² Originally the idol of Cintāmaṇi (Pārs'vanātha) was installed and consecrated in the former temple at Āgrā, by Hīra-Vijaya Sūri in S. Y. 1640. Vide Hīra-Saubhāgya-Kāvya Ch. 14 Verse 152.

⁶³ From Akbarnāmā Vol. III, we can trace that on 26th Āban (about 6-11-1598 A. D.) Thursday, Akbar marched from Lāhore by the route of Āgrā which he reached after 2 months and 2 days and from where he on the 6th Mihir (16-9-1599 A. D.) went off on expedition to the Deccan. The line of his march lay by Dholpur (on 5th Āban), Gwālior (20th Āban-1-11-1599 A. D.), Bhilsā (27th Azar), Sujāwalpur, Ujjain (about 15th Bahman), route of Dipālpur and Dhār, Bijāgarha and Burhānpur (on 21st Isfandārmaz-31-3-1600 A. D.) Thus from Āgrā to Buhrānpur, 195 days were taken.

⁶⁴ Gwālior—"Gwālior is under the Subah of Āgrā. It is a famous fortress, and an elephant carved in stone at its gate fills the beholder with astonishment. It contains some stately edifices of its former rulers. Its climate is good. It has always been noted for its exquisite singers and lovely women. Here is an iron mine."—P. 181 Aine Akbari Vol. 11. Jarrett.

conquering all the countries on his way, reached Barhānapura (Burhānpur)⁶⁵. Next he conquered the fort named Asera (Āsirgarha), and ordering his main army to march on, stayed there for some days. The learned Upādhyāya who was teaching his sons, also stayed there with Siddhicandra. All the Deccan kings who possessed large forts⁶⁶ were vanquished by the Emperor's army⁶⁷.

 \mathbf{x} \mathbf{x} \mathbf{x} \mathbf{x} \mathbf{x} \mathbf{x}

65 "Burhānpur is in south of Dandes (Khāndes'). It is a large city three Kos distant from the Tāpti. It lies on latitude 24° 40' and is embellished with many gardens and sandal-wood also grows here. It is inhabited by people of all countries, and handicraftsmen ply a thriving trade here. In the summer clouds of dust fly, which in the rains turn to mud". P. 223 II, Ai. A. "Its king Khizr Khān assumed the name Bahādur Shāh and in the 45th year of the Divine Era, he was deprived of his kingdom by His Majesty" P. 227, Aini Akbari Vol. II. Jarrett.

It was at Barhānpur that just before Akbar took it, Narbudācārya of Tapā Gaccha Kamalakalas'ā s'ākhā composed Kokašāstra Catuspadi in Gujarāti poetry on Wednesday first Āśvina S'ukla 10th S. Y. 1656, Śaka 1521 in the reign of Mirān Bahādur Shah Fārūkī son of Mirān Dals'āh. See my J. G. K. I pp. 323-326 and III pp. 827-828.

"It was founded about A. D. 1400 by Nasīrkhān, the first independent prince of the Fārūkī dynasty of Khāndesh, and called by him after the famous Shekh Burhān-u-ddin of Daulatābād. It was held by eleven princes of this dynasty for 200 years till A. D. 1600 when the kingdom of the Fārūkīs was annexed by the Emperor Akbar....It formed the seat of Government of the Deccan provinces of the empire till the reign of Shāh Jahān, when (A. D. 1635) it was transferred to Aurangābād in the Deccan, after which the city was the capital of the large sūba of Khāndesh. The holder of this government was usually a prince of royal blood. The first was Prince Dānial, who drank himself to death here in A. D. 1605. Prince Parviz son of Jahāngir was governor of Burhānpur in his reign, where Sir Thomas Roe paid him visit in 1614 A. D. Now it is a town in the Nimār district on the north bank of the river Tāpti and distant 41 miles south-west from Khandwā, the headquarters of Nimār and 2 miles from the G. I. P. Railway station of Lālbāgh."—Central Provinces Gazetteer.

- 66 Viz: Asirgarh, Daulatābād, Kherwā, Nāsik, Ahmednagar, etc.
- 67 Akbar's prolonged residence in the Punjab, extending over thirteen years, had been largely due to his fears of an Uzbeg invasion (p. 270). The news of Abdulla Khan Uzbeg's death received in 1598 freed the Emperor from all fear of a Tartar invasion, and left him at liberty to supervise the doings of his sons, and to take measures for the effective prosecution of the campaign in the Deccan, which obviously needed the master's eye. Akbar accordingly decided to proceed to the South in person. He left Lahore late in 1598 for Agrā, which he now treated as his capital. He was obliged to stay there for several months in order to deal with the difficulties caused by the insubordinate conduct of his sons. In July 1599 (beginning of A. H. 1008) he felt himself at liberty to resume his progress southwards. In May 1599 Prince Murad died at a town in the Deccan. At about the middle of the same year, Akbar crossed (p. 271) the Narbadā and occupied Burhanpur (capital of Khandesh) without opposition. Ahmednagar was stormed without much difficulty in August 1600. Asirgarh a very strong fort reckoned to be one of the wonders of the world in the sixteenth century (p. 272) surrendered to Akbar in January 1601. Then the attitude of Prince Salim rendered absolutely necessary the return of the Emperor to his capital if he wished to retain his crown, treasures and life, which were all threatened by the ungrateful and undutiful conduct of his first-born son, the well-beloved Shaikhu Bābā, the child of many prayers. Akbar marched in April for Agra, where he soon arrived, probably early in May 1601. p. 287, V. Smith's 'Akbar'. (First Edition.)

Once upon a time the guru (Bhānucandra) who had been previously urged by the local Jaina congregation, made a request to the Emperor, after the religious discussion with him was over. He said that Barhanapura was a flourishing town, and that there were thousands of grand mansions and business-magnates there. He further pointed out that it contained temples and worshipping-places for the followers of all religions except for those of Jainism. The Emperor then enquired of him the reason why it was so there. The quru replied that it had come about as a result of a prohibitory order by the Anāryas. He also said that a temple had been formerly built there, but that it was demolished by wicked persons later on. The Emperor was sorry to learn this and desired that the city might be adorned with many temples. He summoned his officers and some leading members of the Jaina community to his presence and gave them an order to erect several temples there. Bowing gratefully to the stern Emperor, they very soon got busy with the task, and in a short time several temples and upāśrayas were erected. A Śrimāli Jaina, Ajaya(Jaya)rāj by name, got a pratisraya (a halting-place for Jaina monks) built in Kansāra-Pātaka (Kansārāpādā—the locality of Copper-smiths). In its vicinity, the president of the congregation, Rikhu by name got a temple built dedicated to Bhīdabhanjana Pārśvanātha. Behind it, Durjanaśalya (of Lahore already referred to at page 38 f. n. no. 51), a Jaina gentleman respected by the Emperor as if he was a minister, got a high-domed temple erected, and got installed in it by the Upādhyāya an idol of Saiveya (son of Sivā i. e. Neminātha) as principal deity, which was brought from Ramer (Amer in Jaipur State?). In the same locality another temple was built by a Jaina lady named Gauri. An upāśraya was built by another lady. Thus, thanks to the efforts of the Upādhyāya for the enhancement of the glory of Jainism, numerous temples and upās'rayas were erected in Barhānapuras where formerly they were conspicuous by their absence. They are still extant there as monuments to the Master's glory. 60 (147).

Then the Emperor departed from the place. The Upādhyāya stayed on there on account of his indifferent health. Accompanied by Siddhicandra, whom the Emperor, out of respect and love, always kept by his side, the Emperor reached Agrā after some time. During his stay there, Siddhicandra always spared no pains to enhance the glory of Jainism and virtually controlled the religious policy of the Emperor (150).

⁶⁸ In Vijaya-Tilaka Sūri Rāsa we find Burhānpur, as the centre of Bhānucandra's activities in Jahāngir's times too, which we shall see after the Summary of this work is over. The said rāsa also was composed by Dars'anavijaya at Burhānpur in the temple of Manamohana Pars'vanātha.

⁶⁹ As to Bhānucandra's visit of Burhānpur with Akbar, see Hīra Sūri Rāsa p. 184 verses 4 to 7, wherein it is stated "Bhānucandra saved the town from being raided and looted by the Imperial army. He saved a local leading man by name Bhojarāja Soni, who with his family was imprisoned by Akbar and was sentenced to death, on getting him to pay ransom to the Emperor. Further he initiated ten pupils in his order and got ten temples construced there". The big temple was dedicated to Manamohan Pārsvanatha as mentioned by Dars'ana-vijaya in the colophon of two Adhikāras of Vijaya-tilaka Sūri Rāsa in S. Y. 1679 and 1697. The idols of that God, Cintāmaņi Pārs'vanātha, Mahāvira, Šāntinātha, Neminātha, Supārs'vanātha, Godi-Pārs'vanātha are mentioned to be extant before S. Y. 1732 in Śilavijaya's Tīrthamālā of S. Y. 1748 published in Prācīna Tīrthamālā Sangraha, p. 113.

In Saurāṣtra, Khuram⁷⁰, the son of Aziz Kokā, demolished a Jaina temple which stood at the foot of Mount Vimala (Satrunjaya); some wicked people surrounded the principal temple also—which was built on the hill—and heaped wood-sticks on all sides in order to burn it. A messenger, with a letter from Sri Vijaya-Sena Sūri, was hurried to Siddhicandra. When the latter read the contents of the letter, he at once approached the Emperor and acquainted him with the state of affairs. Thereupon the Emperor granted him a royal firmān prohibiting the outrageous activity referred to above. The firmān was immediately despatched, and thus a grave calamity which was about to befall the principal temple on Mt. Satrunjaya, was averted by Siddhicandra, the only brave man capable of achieving much things for the protection of the Tirtha (157).

 \mathbf{x} \mathbf{x} \mathbf{x} \mathbf{x} \mathbf{x} \mathbf{x} \mathbf{x}

Once upon a time the Emperor, remembering the great love he had for the Upādhyāya (Bhānucandra), wrote a letter to him, in which he said that the Upādhyāya might be affectionately remembering him, while he was unable to do so because his heart, the function of which was to remember, had been taken away by His Holiness with him. On receiving this letter, which expressed the Emperor's love for him, and which was couched in affectionate terms tinged with delicate humour, the Upādhyāya, at once went to the royal Court and saw the Emperor, who warmly embraced him and elated with joy requested him to teach his grandsons and to continue visiting the Court frequently as he used to do before. (162).

 x x x x x x

By this time a letter from Vijaya-Sena Sūri was received. In it he stated that on account of a prohibitory order issued by the Emperor some time ago, no new temple was being built on the Satrunjaya Hill; workmen could not proceed with the work. He further pointed out that if that state of affairs continued for a long time, the Hill, as the most sacred place of the Jainas, would have little significance in course of time, because, the old temples would some day, on account of wear and tear and other inclemancies of weather, crumble down, and there would be no new temples to replace them. Bhānucandra and Siddhicandra forthwith approached the Emperor and requested him to repeal the order. The Emperor complied with their request and issued an order allowing the erection of new temples on the Hill. Consequently, many temples were from that time erected there, which still bear an eloquent testimony to the efforts of these two—Master and pupil—to enhance the glory of the Faith¹¹ (167).

Then Gujarāt came under the sway of Prince Salim, the eldest son of the Emperor Akbar. He appointed Viceroys over it. Akbar did not interfere with what his viceroys

⁷⁰ Mirzā Khurrum-(No. 163, Aini Akbari Vol. I) 3rd son of Azimkhāna Āziz Kokā (No. 21, See f. n. no. 34 in the introduction p. 29). He was appointed governor—Fouzdār—of Junāgarh—Saurāṣtra by Akbar, and as such is referred to in Vijaya-pras'asti-Kāvya XX, verse 57.

⁷¹ Cf. the initial 8th verse from Bhānucandra's commentary on Vasantarāja's Śakuna-Sāstra beginning with तिस्टाय:. Appendix I.

did there. Consequently, difficulties arose in connection with the execution of the orders (issued formerly by the Emperor Akbar) prohibiting animal-slaughter and other religious things. When Siddhicandra received news to this effect from Gujarāt, he approached the Emperor and in gentle terms brought it to his notice that the Viceroys of Gujarāt were cruelly oppressing the people there by reviving the animal-slaughter, Jazia and many other taxes. On hearing this, the Emperor became sorry and gave him, a written order prohibiting all such outrages. The people of Gujarāt were thus relieved of their acute distress by the noble efforts of Siddhicandra (173).

After some time, the Emperor died while he was alone. Salim was annointed on the throne by the Ministers. He abolished many taxes and ruled the country as a father would rule his child. No enemy could resist him. His mandates were implicitly obeyed in all the countries, though over some of them were ruling kings with full sovereign rights. These kings always obeyed his orders. Jahāngir enjoyed and amused himself as *Indra* does in heaven—sometimes residing in wonderful rest-houses, sometimes on the banks of the Indus, sometimes on pleasure-mounts, sometimes in mansions of variegated colours, sometimes ravelling in the exquisite performance of the best female dancers, sometimes listening to the soft music of beautiful damsels, and sometimes attending to dramatic performances (181).

Now, Bhānucandra accompanied with Siddhicandra, after a continuous stay at the royal Court for 23 years, secured Tahāngir's permission to depart for Gujarāt. Receiving high honours from Jaina congregations and from ruling chiefs on the way,

⁷² Jazyāh was abolished by previous imperial firmāns:—"In the beginning of the (9th year) 11-3-1564 A. D. one of the greatest gifts which His Majesty (Sahins'ah) made was the abolishment of the Jazyā throughout India". Akbarnāmā Vol. II p. 316.

[&]quot;In this year (H. 967, 1579 A. D.) the Tamgha (inland tolls) and the Jazyāh (tax levied for the infidels) which brought in several crores of dams to the treasury were abolished and orders to this effect were circulated through the whole empire." Aine Akbari I, p. 189.

⁷³ At this time when Akbar was in Deccan, Salim had revolted. He entrenched himself within the strong fort of Allahābād, built by Akbar, extended his rule over part of Bihar, and assumed the insignia of independence. On Akbar's return to Āgrā in the middle of 1601 A. D. Salim submitted, then set out for Allahābād and was invested by Akbar with the governorship of Bengal and Orissa. Aga n he assumed the title of a King, though still designating his father as the great king.—(Prof. Beniprasād's History of Jahāngir). About this time Siddhicandra got the firmān from Akbar,—a translation whereof is published in the Appendix II. It is dated 1st Shaharyar Illāhi 46-25 Safar 1010 Hizri corresponding with Hindi date Bhādrapada Vadi 12th S. Y. 1658 and English date 15th August 1601 A. D.

⁷⁴ After return from Deccan Akbar stayed at Agrā. Abul Fazal when called by Akbar from Deccan was got murdered on his way by Salim in April 1603. Salim then was publicly proclaimed as heir apparent. He then went to Allahābād and assumed indepenpence again. In April 1604, Salim's brother and rival Dāniyāl died. Akbar's mother who always took side of Salim, also died. Salim sought reconcialiation and came to Agrā on 9th November 1604. He apologized for his faults in person. Before Akbar's death, Salim paid his last visit to him and left the chamber. Akbar died alone on 17th October 1605 A. D. According to one Jaina Manuscript he died on Kārtika Śudi 15 S. Y. 1662.

he at last reached Ahammadābāda (Ahmedābād). Then he went to Trambāvaṭi (Cambay) to pay their respects to the Sūri (Vijayasena)¹⁵ and both—the master and pupil—at the behest of the Sūri, returned to Ahammadābāda to pass the next monsoon there. At the local upās'raya, the governor of the country Vikramārka¹⁶ by name,

76 For Vikramārka see (1) p. 469-470, Vol. I, Aini Ak. which states:-

No. 196, Rāi Patr Dās (Rājah Bikramājit) A Khatri:-

"He was, in the beginning of Akbar's reign, accountant of the elephant stables, and held the title of Rāi Rāyan. He distinguished himself in the seige of Chitor and rendered good services in Bengal, and in defeating Bir Singh, the murderer of Abul Fazal. Akbar, at last, in the 48th year, called him to Court and made him in the next year commander of 5000, and gave him the title "Rājah Bikramājit". After Jahāngir's accession, when the sons of Muzuffar of Gujarāt created disturbance and Yātim Bahādur had been killed, Patr was sent to Ahmedābād, with powers to appoint the officers of rebels who submitted upto the commands of Yuzbashis or recommend them, if they held higher commands, fot appointments, to the Emperor".

(2) P. 22-23 Memoirs of Jahangir Vol. I wherein Jahangir writes:-

"To Patr Das, who in the time of my father, had title of Rai Rayan, I gave the title of Rājā Bikramājit: The latter was one of the great Rājās of India, and it was in his reign that astronomical observations were established in India. I made, Patr Das, Master of Ordinance, and ordered that he should always have light artillery in the Arsenal, 50000 light guns and 3000 gun-carriages, ready and in efficient order. He was a Khatri by caste and rose in my father's service from being accountant of the elephants' stables to be Diwan and an Amir. He is not wanting in Military qualities and in administrative skill". At pages 49-50, he further states "At the beginning of my reign, a son of that Muzaffar Gujarāti who claimed to be descended from the rulers of that country lifted up the head of disturbance and attacked and plundered the environs of the city of Ahmadabad. Some sardars such as Pim Bahadur Uzbeg and Ray Ali Bhati, who were amongst the distinguished and brave men there, became martyrs in that outbreak. At length Rājā Bikramājit and many mansabdars were provided by me with 6000 or 7000 horse and appointed to assist the army of Gujarāt. It was decided that when things had quieted down, by the driving off of those seditious people, Rājā Bikramājit should be Subahdar of Gujarāt. Qilīj Khān, who had been previously nominated to this office, should come to Court. After the arrival of the royal troops the thread of the rebels' union was severed; they took refuge in different jungles, and the country was reduced to order. The news of this victory reached the ear of my State and dignity in the most acceptable of hours (New Year time) H. 1014 (Wednesday Chaitra Sudi 13 S. Y. 1663). King Bikramājit along with others with 4000 or 5000 horse was sent to support Khān Jahān on an expedition to the Deccan who started on 17th Zilqada 1018 H. (Fagan Sud 6th, S. Y. 1666 corresponding with 19-2-1610 Monday) see p. 161. (3) History of Gujarat, Bom. Gaz. p. 273 which narrates:-

"In the early days (A. D. 1605) of Jahängir's reign, disturbance was caused in the neighbour-hood of Ahmedābād by Bahādur, a son of Muzaffar Shāh. Jahāngir dispatched Patrdās Rājā Vikramājit as Viceroy of Gujarāt, to put down the rising. The Rāja's arrival at Ahmedābād restored order. Some of the rebel officers submitting, were reinstated in their commands; the rest fled to the hills. On the Rāja's return Jehāngīr appointed Kalij Khān to be viceroy of Gujarāt; but Kalij Khān never joined his charge, allowing Mirza Aziz Kokaltāsh to act in his place. In A. D. 1606, Mirza Aziz was transferred to the Lahore Viceroyalty".

Prof. Beni Prasad remarks at p. 107 of History of Jahangir, "in 1605, Raja Bikramājit

⁷⁵ Vijayasena Süri passed two monsoons of S. Y. 1662 and 1663 at Cambay proper, and Cambay suburb Akbarapura. See Vijayapras'atsi Kāvya XX Verses. 56 to 62.

accompanied by Siddhicandra, performed, with great pomp, the worship of God Jina, and issued a proclamation, by the beating of drums, prohibiting animal-slaughter throughout the country. Thereafter by the order of the Master (Vijayasena Sūri), the Upādhyāya passed the monsoon at Mahiśānapura (Mehsāṇā) and then came to Paṭṭana (Pātān). (187)

At Pātan, the Kharataras, being jealous of the high position enjoyed by Vijayadeva Sūri¹⁷ (of Tapā Gaceha), conspired with many Sūris of other Gacehas, and with pretentions of great learning, decided to hold a debate with him. Accordingly, accompanied by their followers, they repaired to the principal gate of the fort, and stood there challenging the Sūri to an open debate. The Suri, hearing that, came to the gate together with Siddhicandra whom he considered to be a match for them. Then he asked Siddhicandra to hold a debate with those insolent opponents. Hammering arguments upon arguments in a perfectly logical order, Siddhicandra vanquished them, one and all, who, condemned fiercely by the audience that had gathered around, left the place with down-cast eyes. The Sūri returned to his halting place amidst great rejoicing. (195)

After some days, a Jaina lady named Lāli⁷⁸ installed the idol of *Tīrthankara*. The occasion was celebrated with festivities on a very grand scale. Jaina congregations from all towns and villages, flocked to Pātan, which extensive though it was, proved not spacious enough to have enough space for the swarming thousands. While, however, the jalayātrā⁷⁹ procession was in progress, an order, prohibiting the ceremony, was issued

whose appointment is mentioned, does not seem actually to have taken charge (of Gujarāt)"; but this inference made from the statements in the Memoirs of Jahāngir Vol. I, P. 50 is not true. He did go and, taking charge of Ahmedābād, restored order as is borne out by this work.

This Bikramājit cannot be identified with Kuņrapāla or his brother Sonapāla, the two wellknown Osvāl Jaina Baniās of Āgrā as sought to be guessed by Ratnamaņirāva in his articale on 'some facts about Knņrapāla Sonapāla &c.' in Jaina Sāhitya Sams'odhaka Vol. III No. 4 at pp. 393 to 399.

- 77. Vijayadeva Sūri:—Born at Idar in S. Y. 1634, initiated as a Jaina monk with the name Vidyā-vijaya, at Ahmedābād in S. Y. 1643, was invested with title of "Pandita" and then of Sūri,—Ācārya in Cambay in S. Y. 1656. The Sūri was at Pātaṇ in S. Y. 1664 as is clearly found from (1) an inscription on a metal-idol installed by him there on Posha Vadi 7th (30th December 1607 A. D.):—
 - सं. १६६४ वर्षे पोप विद सप्तमी बुधे श्रीपत्तन वास्तव्य वाई अणुआर नाम्न्या श्री वासुपूज्य विम्बं का॰ (कारापितं) प्र॰ (प्रतिष्ठितं) च तपायच्छे भ॰ (भट्टारक) विजयसेनसूरि शिष्य भट्टारक श्री विजयदेव सूरिभिरिति भद्रम् ॥
 - See "Atmānanda Prakās'a Vol. 29, No. 8 p. 184 and Forbes Gujarāti Sabhā Traimāsika Vol. IV, No. 4 p. 45 and (2) an inscription on the idol of Vijayasena Sūri installed on S. Y. 1664 Fālguna S'udi 8th Saturday (13 February 1608 A. D.) by him (No. 512 Jinavijaya II).
- 78 Lāli:—See "Vijayadeva Sūri Mahātmyam; Chap. IX verses 34 to 65 from which we find:—Lāli was a native of Pātan and a highly cultured lady. She led a congregation to sacred places like Satrunjaya, Girināra, Sankheśvara and Ābu, and spent most part of her fortune in these things. Thereafter she defrayed all the expenses for the investiture ceremony of the grant of the title "Upādhyāya" to Kanakavijaya by Vijayadeva Sūri at Pātan in S. Y. 1673, Pauṣa Vadi 6 th (18th January 1617 A. D.)
- 79 Jalayātrā:—means a procession in which ceremonial water to be sprinkled on the idol is being carried.

by the Governor, Sādullā⁸⁰ by name. A wave of grief overwhelmed the crowd, which a moment ago was in high spirits. All activities came to a sudden stop and none knew what to do. A deputation consisting of the leading members of the congregation waited upon the Governor; but they were rudely insulted by him. At last, the Sūri asked the Upādhyāya (Bhānucandra) to set the matter right by approaching the Governor. At that time, however, Siddhicandra approached the Sūri and told him that there was no need for the Upādhyāya to take any trouble, as he himself would approach the Governor and see the thing through. Pleased at this offer, the Sūri permitted him to do so. Accompanied by the leading members of the congregation, Siddhicandra confidently went to the residence of Mirza Sādullā, the governor, and requested him to tell him the reason why the performance of a good and harmless ceremony was prohibited by him. He also warned him that such an attitude on his part would mean the end of all relationship between them. On hearing this reprimand, the Governor felt ashamed and inquired of Siddhicandra what he should do to please him. The latter asked him to accompany him to the upās'raya, see his Master there, and to receive a cocoanut twice while attending the jala-yātrā mahotsava. The governor complied with his request. Thus triumphed the good over the wicked who meant trouble. Then the Upādhyāya, having passed monsoons at Vatapadra (Baroda) and Gandhāra⁸¹ halted at Pātan during the next monsoon. (209)

x x x x x x x

Here an imperial firmān was received at Rājanagara (Ahmedābād) by the Deputy Jahāngira-Kuli-Khān⁸⁵ (alias Mirzā Samasuddin as per foot-note of the MS. of this work)

⁸⁰ Sādullā:—Sādullāh Khān, son of Said Khān who was promoted to the rank of 2000 infantry and 1000 cavalry. In the fifth year of his reign Jahāngir gave him an elephant and thereafter further dignified himat the time of his visīt to Gujarāt with the appellation of "Nawazish Khān" (Tuzuk-i-Jahāngiri P. 73, 183 and 197). He was, it appears, Foujdār of Pātan—a Sarkār of the province Gujarāt, "Every province was divided into a number of Sarkārs, which correspond to the modern districts. The officer who exercised civil and military jurisdiction over the Sarkar went by the name of Foujdār, and answered to the modern Collector and Magistrate and Military Commandant rolled into one. He constituted the unit of every day administration. He was, of course, subordinate to the governor (viceroy), but he was appointed, transferred or dismissed only by the head-quarters, which meant another check on the Viceroy." Beni Prasād pages 108-9. He was eighth Fouzdār of Sorath in H. 1025 & then was transfured in H. 1031. In H. 1032 he was invested with the title of 'Belgārkhāu' and made again Fouzdār of Sorath. That post lasted fill H. 1037.—Mirāt—e-Musta-Fabad pp. 131-2.

⁸¹ Gandhāra:—See previous foot-note No. 28 at p. 25.

⁸² Jahāngir-Kuli-Khān: or Mirzā Samasuddin was Aziz Kokā's eldest son Mirzā Shamsi, (No. 163, Aini Akbari, Vol. I) who was at the end of Akbar's reign a commander cf two thousand. See foot note no. 44 at p. 35. In Tuzuk-i-Jahāngiri, Jahāngir states "On the 1st Satar (1017 H.) Shamsu-d-din Khān, son of Khān Azam made an offering of ten elephants, and receiving the rank of 2000 personal and 1500 horses, was selected for the title of Jahāngir-Kuli-Khān" (Vol. 1 p. 144), and "Between 14th Shaban Sunday to 4th Zi-1-hija Wednesday (between Māgshar Vadi 2 to Fāgan Śudi 6 S. Y. 1665 Hindi) as it was again represented to me that oppression was being committed by the brethren and attendants of Murtazā Khān on the ryots and people of Ahmedābād in Gujarāt and that he was unable properly to restrain his relations and people about him, I transferred the Subah from him and

to the effect that it was the Emperor's desire that Bhānucandra and Siddhicandra should go to Āgrā and see him. The governor, learning that they both were at Pātan, sent his own body-guard, Mādhavadās by name⁸³ to deliver to them the royal massage. On hearing the message both came to Ahmedābād where they were respectfully received by the Governor. Then they started on their long journey. On their way they came to Medinipura (Mertā) where they worshipped Pārśvānātha at Falavardhi (Falodhi). At that place the Kharatara Ācāryas were plotting to have possession of that Tīrtha, with the help of the local ruler. Bhānucandrā and Siddhicandra stayed there for five or six days, secured possession of the Tīrtha for their own Tapā group, and then proceeded further. At every place on their way they preached the gospel of their faith and enhanced its glory. At last they reached Āgrā where a magnificent reception was accorded to them. The Emperor, learning from Rāmadāsa³⁴ that they both were waiting

gave it to Āzam Khān, and it was settled that the latter should attend at Court, and that his eldest son Jahāngir Kuli Khān should go to Gujarāt as his deputy. The rank of Jahāngir Kuli Khān was fixed at Rs. 3,000 personal and 2,500 horse. An order was given that in company with Mohan Dās Dīwān and Masud Beg Hamazānī Bakhshī, he should carry on the business of the province. Mohan Dās was promoted to the rank of 800 with 500 horse, and Masud Beg to 300 with 150 horse". (Vol. I p. 153).

I have in my possession an original partition deed of S. Y. 1667 Fälguna S'ukla 10th Tuesday (12th February 1611 A. D.) executed at Ahmedābād wherein it is clearly stated that Jahāngir-Kuli-Khān was the viceroy of Gujarāt in the words:—

"स्वस्ति श्री श्रीमत्रृपविक्रमाऽर्कः । समयातीत । संवत् आषाढादौ १६६७ वर्षे । ज्ञाके १५३२ प्रवर्त्तमाने । उत्तरायन गते श्री स्थें । ज्ञाके १५३२ प्रवर्त्तमाने । उत्तरायन गते श्री स्थें । ज्ञाकिरत्तौ । माहामांगल्यप्रद लौकिक फागुणमासे १ जुक्रपक्षे १० दशम्यां तिथौ । भौमदिने । अधेह श्री अहिम्मदाबाद मध्ये वास्तव्यं ॥ परस्परेण घरनी विह्यणि करी नदावे कीषू । तः (ख)तपत्रमभिलिख्यते । अधेह श्री गृर्क्तराधीशः पातशाह श्री ७ सुरत्रांण न्र्रदीमहिम्मद जांहांगीर अदली राज्ये । तत्समये पातशाह श्री श्री ७ आगरामध्ये विजयराज्यं क्रीयते । विजारित्यां पोज श्री ५ अवल हसन धर्मन्यायां प्रवर्त्तते । तत्र श्री अहिम्मदावाद नगरे हाक्यिम नवाव श्री ५ जांहांगीरकुलीपांव धर्मन्यायां प्रवर्त्तते । तत्र धर्माऽपर्मविचारणार्थे कादी नानेबमीयां कमाल महिम्मद । तथा मीयां अब्दल लतीफ । तथा मीयां बरकित एतांन् धर्मन्यायां प्रवर्त्तते । तत्र चुतरि शेष श्री ५ क्याली धर्म संज्ञके । तत्र मंडपिका माफ छि । एवं पंचकुलान्वये …"॥

Bom. Gaz. History of Gujarāt, p. 274 similarly says:—"In A. D. 1609, the Khān-i-Āzam Mīrzā Āziz Kokaltāsh was for the fourth time appointed (12th) Viceroy of Gujarāt. He was allowed to remain at Court and send his son (the said) Jahāngir Kuli Khān as his deputy with Mohandās Dīwān and Masud Beg Hamadāni. This was the beginning of Government by Deputy, a custom which in later times was so injurious to the imperial interests. In 1611 A. D. Abdullā Khān Bahādur Firāz Jang was appointed 13th Viceroy of Gujarāt."

- 83 Mādhavadāsa—Jahāngir Kuli Khān had Mohandās as Dīwān (Minister) as stated in the above foot-note. The said Mohandās may be the same as or different from Mādhavadāsa referred here who is stated to be Khān's body-guard.
- Rāmadāsa:—See former foot-note No. 54. p. 39. Jahāngir states in his Tuzuk-i-Jahāngiri:—
 'I promoted Rāmdās Kachhwāha, whom my father had favoured, and who held the rank of 2,000 to that of 3,000 (p. 21). I also ordered Rāmdās Kachhwāha to receive a Jagir in this (Sawād-Swat Bajaur) province and to be enrolled among the auxiliaries of this Subah (p. 128). (In H. 1020—about Bhādrapada S. Y. 1669 Hindi), as Abdullāh Khān Bahādur Firuz-Jang had proposed to enter the neighbouring province of the Deccan by way of Nāsik, it occurred to me to appoint Rāmdās Kachhwāha, who was one of the sincere servants of my revered father, to accompany him in order that he might in every place look after him and not allow him to be too rash and hasty. For this purpose, I bestowed on him great favours, as well as the title of Rāja, which he had not thought of for himself.

outside, at once summoned them to his presence, and greeted them with much respect and pleasure. He said, "Welcome to you both; you should always be with me". (220)

x x x x x x x

Once the Emperor (Jahāngir) affectionately said to the Upādhyāya:—"Siddhicandra is endowed with good manners and physical beauty rarely found in others. Please see that he comes to me every day at least for a short time." Accordingly Siddhicandra used to visit the royal Court where the Emperor listened to his sermons which impressed him very highly. The Emperor declared to him that he would do anything that he desired him to do. On account of these constant visits and the high esteem in which he was held by the Emperor, Siddhicandra's fame spread everywhere. The Emperor's attachment for him never slackened. Indeed, so much was his mind full of thoughts about Siddhicandra, that he forgot even the royal elephants of which, otherwise, he was extremely fond. The Monk also harboured much affection for His Majesty. (227)

On one occasion, during their stay at Agrā, Siddhicandra was delivering an interesting lecture on the lives of the holiest saints. It was night time, and the moon had flooded the whole region with her cool and fascinating rays. (Next seven verses-228 to 234 are devoted to the description of the rising moon). While the lecture was going on, the Emperor, with something on his mind, put a question to Siddhicandra:—
"How many years have elapsed since the birth of Your Holiness—you whose attachment to Parabrahma (the highest spirit) is supreme?" The answer was, "Twenty five". (236)

 x x x x x x x

Once upon a time, the Emperor⁸⁵ looking at the physical handsomeness and perfection of Siddhicandra, was struck with the thought that his position was similar

I also gave him Domms and the Fort of Ronthambur which is one of the noted castles in Hindustan and honouring him with superb robe of honour and an elephant and horse I dismissed him' (P. 201 & 202). He died in H. 1022 (1613 A. D., 1669-70 S. Y.) See Maasirul-umra I pp. 335 to 338.

⁸⁵ Before we proceed with the incident as to what led Jahangir to ask Siddhicandra to marry a beautiful wife, it would be relevant to relate here that he supplied such a wife to his English friend Hawkins:—

[&]quot;William Hawkins an English merchant presented himself to Jahängir on April 16th 1609 A. D. at Agrā. The King was pleased to see him; He liked new acquaintances, especially good fellows who could hold their liquor, and Hawkins entertained him vastly with stories of his travels. Jahängir gave his friend (Hawkins) a wife out of the Royal Harem to cook his food. This lady was a daughter of Mubārik Shāh, an Armenian Christian who had risen to distinction in Akbar's service. Jahāngir in an outburst of friendship, went so far as to offer him, if he would stay at the Court, a pension of £ 3,200 a year, a troop of horse, and any concessions for the (English) Factory that he liked to ask! He cheerfully acquieced. His triumph, however, was destined to be short-lived. He left Agrā in November 1611 A. D." Rawlinson's paper on William Hawkins, Bhandarkar Com. Volume p. 285.

to that of a male cuckoo cooing on the mango tree in a forest in the form of religious austerities. So he called him to his side and said, "O Lord! your form is stately enough to make you a king. You have youth hotly in your veins. Your age is meant for the soft pleasure of contact with the body of red-blooded damsels. Why, then, do you waste it upon the desert of severe austerities?"

In a rich and strident voice, the sage replied:—"Initiation into monkhood at a tender age is neither funny nor foolish. In the drinking of nectar, the wise never wait. Which age is more suited to austerities—youth or old age? Death lays his icy hands on the young and the old alike. O King! in old age a man has no resisting power—no vitality, without which, no austerities can be performed. It is, therefore, nothing more than a delusion to think that old age is the only and the most proper time for renouncing the world for the purpose of achieving the noble aim of spiritual liberation and perfection. In old age, the performance of things requiring vitality results into the dullness of intellect and nervous breakdown. Religious austerity is a sword that kills all the enemies in the form of wicked actions perpetrated by a man in his countless previous births as well as in his present birth. He who takes to this course of life is respected by all as a man of courage. Like the Sun it grants the lustre—purity to his eyes, and gives him enough light in the form of knowledge and conviction to enable him to distinguish between the real and the shadowy,—the material and the immaterial." (246)

The Emperor, with his eyes rolling unsteadily on account of the influence of drink, asked him rather snappily:—"How do you manage to keep your mind firm at an age when it is exceedingly prone to be assailed constantly by the God of Love?"

"By means of knowledge—especially, knowledge derived from meditation on the higher truths of religion and philosophy which teach man how to understand his own nature and how he may be reunited with the Supreme Spirit—the mind would become firm and would be controlled just as an elephant is controlled by means of a hook" replied Siddhichandra.

The Emperor demanded angrily:—"How can I understand what you say without such knowledge?"

Siddhicandra replied:—"No such knowledge is required to understand this. For instance, a Brāhmin's mind does not relish pleasures in which your Majesty indulges. Similarly, our minds have no inclination for such carnal pleasures, because we never tasted them any time in our lives. The people know that the mind of a woman, who follows her dead husband by throwing herself to flames, is free from attachment towards her other relations and all the things in the world. In the same way, the mind of the ascetic who practises austerities, remains unaffected by worldly pleasures. Absolute detachment from worldly shackles is their be-all and end-all of existence. They are absorbed in the contemplation of the Supreme Spirit, and always immersed

in the ocean of tranquility. Kings and Emperors cannot daunt them who are as free as fish in the sea of happiness. Their sojourn is always on the purest path and they are always intent upon the acquisition of virtues. Always obliging and always profuse in meritorious actions, they are not slaves of the greed of possession, and are always courageous in taking vows. Constant search of spiritual knowledge is the passion of their lives; they are independent even of gods."

The Emperor was highly impressed by this spirited uttarance, and he stood near him for a considerable time. (258)

Verses 259 to 268 describe Nūramahalla³⁶ the beautiful and beloved Empress. She said to Siddhicandra:—"How can firmness be compatible with youth? It is impossible." Then Siddhicandra replied with justifiable pride:—"Was not the king of Balakṣa (Balkh)³⁷ a man of unexceptionable self-control in the prime of his life? It is said of him that he renounced sixteen thousand palaces, eighteen lacs of horses and his capital for the sake of God, the Supreme Spirit. For the purpose of spiritual upliftment, age is immaterial. Firmness of mind is the result of merit earned in former births. Flies though tiny can soar in the air, while elephants, thousands of times larger in size, never can raise themselves an inch above the surface of the earth. In the same way, some who have resorted to asceticism in childhood, have not stood firm, but the number of elderly persons still hot in the pursuit of carnal pleasures is not small. Hence old age is no consideration in acquiring firmness of mind." (274)

Annoyed at this, she replied:-"Asceticism is meant for those who have had

- 86 Nūramahalla:—Her original name was Mehirunnisā. At the age of seventeen, she was married to a young Persian adventurer named Ali Quli Istajlu, whose courage and skill in killing a tiger, won for him the title "Sher Afkun" (tiger-thrower) at the hands of Prince Salim. He was murdered by the agents of Salim in May, 1611 A. D. (Jyestha S. Y. 1668). Then he, now Emperor Jahāngir, married her and gave her the significant name "Nūr Mahāl" (Light of Palace). Later on, in March 1616 (Chaitra S. Y. 1673), she was given the name of "Nūr Jahān" (Light of the World). Intensity of thought and feeling, that unfailing mark of greatness, characterised all her life.—Chap. III. "History of Jahāngir" by Beniprasād. (Siddhicandra has called her Nūramahalla. This means that the incident must have taken place between May 1611 and March 1616 A. D. (i. e. S. Y. 1668 Jyestha to 1673 Caitra).
- 87 This may be in reference to the famous saint by name Ebrāhim Ibn Adham, a native of Balkh. "He was the founder of the Adhami order of Derveshes. He died between 776 and 773 A. D. (160 and 166 H.). The sufi legend concerning him is evidently modelled upon the story of Buddha, for in it he appears as a prince who, while hunting, was warned by an unseen voice that he was not created for such pursuits. Thereupon he abandoned the path of wordly pomp for the path of asceticism and piety. There can, however, be no doubt that Ibrāhim was a great figure in his day and his memory still survives in Islām as far as India. Leigh Hunt bestowed on Ibrāhim bin Adham the title of "Abou" in his well-known lines:—

"Abou spoke more low, But cheery still; and said, I pray thee then, Write me as one that loves his fellow-men"

-The Derveshes or Oriental Spiritulism by John P. Brown-footnote p. 83.

their fill of sensual pleasures. It is meet that only those who have fully enjoyed such pleasures, may renounce them. They would be good renouncers too. Those who took to asceticism before having had experience of these pleasures, should better be called uncivilized because they cannot distinguish what is essential from what is not. Constant enjoyment of a thing may result into disgust for the same. Mostly the mind always darts at objects unseen and unexperienced. So, the mind of a man, who has not enjoyed these pleasures, always hankers after them." (279)

In an extremely gentle and sweet tone, the sage replied:—"At present just the reverse of what you said, is seen to happen. In the Krta and other yugas it indeed was a custom for people, who had pursued objects of pleasure in their youth, to turn to asceticism in the latter part of life. In Kali yuga, the ascetics generally turn voluptuaries. In Krta yuga, peaple used to become vānaprasthas even before their hair turned grey; in Kali yuga people remain, nay, grow more addicted to sensual pleasures even after their whole bodies are covered with grey hairs. In the age in which we are born, everything is topsyturvy. The young observe religious vows, while the old break vows which they have already taken." (283)

Then the Emperor said, "I have heard your arguments. They are very reasonable and sound. At present, however, it is not meet that you should lead the life of an ascetic. Your body is as fresh as the bud of a campaka tree. Is it proper to throw fire made of chaff on a mālati (Jasmine) or to try to cleave the nalini creeper with a saw? It would be as improper as to bind a silken dress with leather straps. It is folly to stuff one's eyes with soot. Would it be wise to hammer a glass jug? Would the wise approve of dealing sword-thrust to the interior column of plaintain tree? O, young man! are the hardships like plucking hairs (of the head) &c. a fit treatment to your body which is as delicate as the top of a s'irisa flower? Of all the ās'ramas (four religious stages of life), that of the householder is the highest, because the very existence of others depends upon it. You are like an ocean surrounded by rivers; hence like an ocean you should marry and stay like my son with me. It is universally accepted that the quintessence of this mundane existence is seen personified in the fawn-eyed women. Hence, at my instance, accept a wife, whereby your life on this earth would be useful due to the acquisition of sons. Even a tree, which does not bear fruit, is condemned by villagers. Begging for food (one of the rules of conduct for Jaina Monks) is said to be inferior even to a piece of straw. Aren't you ashamed of a thing which is condemned as utterly unworthy? Oh, your beauty, your energy and your learning—all make you look lustrous; but your walking on foot (another rule for Jaina monks) mars everything. Whatever is created by the Almighty is meant for our comfort. Following that object of creation, we become the happiest of all. In this world you are leading a miserable life. Your life in the next world will be more miserable because you are intent upon transgressing the path prescribed by God." (297)

On hearing this well-reasoned words of the Sultan, Siddhicandra courageously and promptly replied:—"Whatever has been ordered by Your Majesty is very true

and pleasing. That would move the hearts of those who are attached to worldly things. Those, however, who are above passion and worldly pleasure, are not affected by them."

To this utterance of the Man of Intellect, the Emperor gave a learned rejoinder—so learned indeed that it would astonish even great scholars:—"There is nothing in itself either good or bad, meritorious or sinful, but our thinking makes it so. The mind is its own place, and can make heaven of hell and hell of heaven. A thing done with a good motive is meritorious, and the same thing done with a wicked motive is sinful. Even herein if there be any weak point, you should drive it away by means of penance just as leanness produced by fasting can be removed by eating wholesome food. As regards the duties of monks,—both general and particular—exceptions are laid down. Therefore, to accept the absolute is futile for all. Syādvāda (Jaina doctrine of relativity) is applicable everywhere for those who believe in it. Absolutism for such would amount to heresy. Oh, wiseman! give up your wrong persistence and believe what I say. Enjoy pleasures to your heart's content. Would any wise man err as to his own interests?". (305)

Having heard these words of the Emperor-words which showed his admirable grasp over the cardinal doctrine of Jaina philosophy and which contained a reprimand for him-Siddhicandra, thinking only of his duties, replied without tremour:-"All this may be all right for the ears of a coward. A man of courage and conviction never breaks a vow once he has taken it, even if his adherence to it meant certain death for him. The least deviation from the path once chosen results into utter worthlessness and failure. A very small thorn is sufficient to make a person unable to set his foot upon the earth and to walk. A thing, for expiating which penance should be performed, should be avoided once and for all. Prevention is always better than cure. Why touch the mud and then wash ourselves thoroughy in order to be free from it? Why not avoid it altogether? Exceptions are meant for those who have not power enough to stick to the absolute rules. They are loop-holes through which the weak-minded seek relief from the severity and inexorableness of the absolute principles. Those who have perfect control over their minds, need not take shelter even under the doctrine of relativity. Only the weak seek to twist its meaning to suit their breaches of rule which they have not the grit to observe. The propounders of syādvāda do not recognize the absolutism even of suādvāda. In all my previous births, I had wives and children. There was no religion in having them. Why should I renounce religion for that mode of life? Human life is dearest to all, and so it is to me. Even if that were to be taken from me this very moment, I would not deviate even by a hair's breadth for the path of life which I have chosen for myself." (313)

Those present in the Court—Ministers and others—began to say:—"Fie upon such doggedness of this man. Though he is wise, he has been his own enemy and has brought upon himself a great calamity for the sake of a petty matter."

Siddhicandra, however, in spite of these biting remarks, remained adamantly firm.

The Emperor, hot with anger, said, "Do you dare to disregard me? Don't you know my power? If angry, I am the God of Death incarnate; if pleased, a kalpa-druma (a tree supposed to fulfill all desires). Now you will get the fruit of this poisonous tree in the form of your fool-hardiness and doggedness". So saying the Emperor, appearing like the God of Death, ordered a dreadful and vicious elephant to be brought there. (317)

Verses 318 to 321 give the description of the elephant.

The elephant was brought by the drivers. The Emperor, spoke turning towards Siddhicandra, "Accept the life of a house-holder and enjoy pleasures with comely women. Be honoured with the lordship over some country and still further receive horses and elephants from me. Obey this my last command. Or else, I will make you a guest of the God of death in a trice." (327)

He answered, "Though this suffering is difficult to go through, it will be beneficial to me as it is the result of the perfermance of my duty." (328)

The Emperor angrily shouted, "The fool will not come to his senses unless he is treated with fierce blows and cruel torture". Turning to him, he said "Now, taste the bitter fruit of your foolish persistence". The mad elephant glaring viciously at the monk gave out a roar, which, commingled with the hoarse shouts of the multitude, sounded like the bursting of a volcano. The monk stood firm as a rock, unpurterbed by the imminent onslaught of the demon of death. The Emperor's astonishment was profound, and he ordered that the monk was to retire into a forest as punishment for disobedience of his orders. Siddhicandra, without any tremour, left the Court. The Emperor issued a firmān which was circulated throughout the Empire. Its wordings were: "Other Mumukṣus (sages striving for final emancipation) residing in my empire are all to retire into the forest, as it is proper for those disinterested hermits to stay only there (i. e. in the forest)." "38 (334).

⁸⁸ Cf. Vijaya-Tīlaka Sūrī Rāsa Adhikāra 1, composed in S. Y. 1679 by Daršanavijaya states in verses 435 to 439 'about the time of S. Y. 1670 Jahāngir was angry and passed a banishment-order; hence several Jaina monks came to Surat from other places'; and in other verses from 1179 to 1185 describes Siddhicandra as remaining undaunted against the order of Jahāngir askin; him to marry, even under the threat of being tramplad upon by elephants and at last being called back and honoured by the Emperor Jahāngir; also vīde Hīra Sūrī Rāsa composed by Rṣabhadāsa in S. Y. 1685 pp. 185 and 186 verses 1 to 8. The attitude of Jahāngir towards recluses may be contrasted with that of his father Akbar who clearly expressed "(1) whoever by his brilliant destiny withdraws his affections from all worldly concerns attains to the Divine love which is above all others (p. 380); (2) Whoever seeks from me permission to retire from this world will meet with cheerful acquiescence in his desires. If he has really withdrawn his heart from the world that deceives but fools, to dissuade him therefrom would be very represensible; but if he only affects it from ostentation, he will receive the requital thereof." p. 387. Aini Akbari III-The Happy Sayings of His Majesty.

The best of the Upādhyāyas (Bhānucandra),—endowed with numerous virtues as he was—was honoured and kept at the Court by the Emperor. He continued to preach to the Emperor. His sermons ennobled the lives of many deserving persons. Siddhicandra, on the other hand, reached Mālapura³⁹, where in compliance with the request of the local Jaina congregation, he passed the monsoon without any inconvenience. (337)

Once the Emperor, seated in the Court and in a cheerful mood, marked that the Upādhyāya's mind, afflicted with some sorrow, did not share the joviality of the atmosphere around him. Then the Emperor affectionately called him by his side and gently asked him to state the cause of so much mental anguish. The Upādhyāya then said, "From the spiritual point of view, we bear sorrow by the fact of our existence in this world; no other sorrow affects those who are immune from worldly ties and who strive constantly for final emancipation. Still, Your Majesty, my heart is not strong enough to dispel the sorrow caused by the long separation of my best pupil". (341)

Then the Emperor remembered the adamantine firmness of Siddhicandra in the performance of his duties, and thought, "Fie upon me, who out of delusion, disregarded his religious faith". Then he cheerfully issued a firman authorizing the return of Siddhicandra to the Court. The latter received the firman at Malapura, and immediately started for Agra which he reached after a short time. A hearty and magnificent welcome awaited him there. His fame spread everywhere. (346)

Once Siddhicandra paid a visit to the royal Court, on an auspicious day. The Emperor lavished praises upon him and said, "You are the blessed among the blessed, the respected among the respected. Who is there in this world who can come to your level in being endowed with sattva (goodness)? You have not deviated even by a hair's breadth from the chosen path of duty. Your adherence to it is unsurpassed. You are the honoured of the honoured. O Patient one! out of anger I treated you rudely. You got through the test quite successfully, and turned your difficulty to an opportunity, on account of your virtues".

Then Siddhicandra, who had attained wide celebrity said to the repentent Emperor, in a thought-provoking speech, "You have committed no offence. On the contrary, O blessed one! you have obliged me because, with the strength of your help, my wicked "karma" has been annihilated. Besides, if there was any offence on my part, the same should be forgiven by you as I became instrumental in some bad "karma" accruing to you." (353)

⁸⁹ Mālapura:—is situated in Jaipur State about 50 miles distant in the East of Ajmere, and 57 miles distant in the South-Western direction of Jaipur.

The Emperor with tears of joy in his eyes, told him repeatedly, "Please tell me what is proper for me to do. I shall do it at once". Siddhicandra readily responded, "Please issue a firmān allowing the return of those monks, who were banished to forests by the order of Your Majesty, to the country as before". The Emperor immediately issued the firmān allowing the monks to stay or to go where they pleased and got it circulated everywhere. The monks returned to cities and villages where they were received with festivities on a grand scale. (358)

V. FURTHER FACTS GATHERED FROM OTHER SOURCES.

This work is silent about the early life of our hero. We gather some information about it and about other relevant matters from other sources:—

A baniā by name Rāmaji was living at Siddhapur in Gujarāt (now in Gaikwād territories). He had a wife by name Ramāde. She once saw an elephant in a dream. Thereafter she gave birth to our hero who was named Bhāṇaji. He was put to school at the age of seven. When he was about ten years old, he and his elder brother, Rangaji by name, happened to hear a religious discourse by Sūracandra Pannyāsa. Later on both the brothers were initiated into Jaina Holy Order, and were named Bhānucandra and Rangacandra, by their preceptor the said Sūracandra. They studied Jaina scriptures and earned the title Pannyāsa (a Pandit). They also initiated many persons as monks. In recognition of their intrinsic worth, Hīra Vijaya Sūri deputed them to the Court of Akbar. The Emperor was highly impressed by the learning, wisdom and personality of Bhānucandra. Saikh Abul Fazl became very much attached to him. Thus he acquired fame and name at the royal court.

We know that Akbar engaged Bhānucandra to teach the Jaina tenets to his princes Salim and Dāniāl because he recognised in him a fakir (ascetic) of the first order.

Once Akbar suffered from a severe head-ache. All the expert physicians were called, and in spite of their best efforts the pain could not be lessened a jot. Then Bhānucandra was called. He put his hand on the Emperor's head and muttered Pārśva-Mantra. Akbar experienced great relief. His faith in Jaina monks thereupon became unshakable.

When the nobles came to know of the Emperor's recovery, they proposed to the Emperor that 500 cows brought by them should be offered as an oblation. The Emperor, however, rejected the idea, and summoned Bhānucandra to his presence. He offered him the 500 cows as a gift of honour and requested him to ask for anything he desired. Bhānucandra thereupon requested him to abolish the Jaziā tax and to issue

⁹⁰ This happened at Āgrā before the autumn of 1613 A. D. (24 Shahriyar-Āsvina S'udi 2 S. Y. 1670—6-9-1613) on which day Jahāngir left Āgrā for Ajmere where he established his Camp and Court. Vide 'History of Jahāngir' Beniprasad.

proclamation that she-buffaloes and he-buffaloes, and cows and bulls should be protected i. e. should neither be killed nor be molested. The Emperor readily acceded to the request and a royal firman was issued accordingly.

Once, a Brāhmin Pandit, Satyavādi by name, came to the Court of Akbar and being proud of his learning challenged to enter into debate with any Pandit of the Emperor's Court. Bhānucandra, being asked by Akbar, accepted the challenge. Much to the Pandit's chagrin and disgrace, he was defeated by the Jaina monk. (Vide pp. 180 to 186, 189, 302 Hīrasūri's Rāsa by Rṣabhadāsa).

In or about S. Y. 1650, Bhānucandra was at Campāpuri as Prācīna-tīrtha-māļā-Sangraha at p. 130 states that in S. Y. 1646 King Kalyāņa-sena of Suvarņa-Kānti started on a pilgrimage to Śatrunjaya and reached after 3 years Sameta Śikhara from where he went to Campāpuri and paid respects to Lord Vāsupūjya and Bhānucandra Upādhyāya.

(We have seen the monk's career during the reign of Jahangir till his firman banishing all the sādhus was withdrawn. What happened thereafter is being now narrated).

From Agrā, Bhānucandra went to Mālpur where he defeated some followers of the Vījā Sect⁹¹. At his instance a Jaina temple with a gold kalas'a was erected, and he consecrated an idol therein (in S. Y. 1672)⁹². He passed the monsoon at Jālore in Mārwār and initiated 21 pupils there. (Vide Hira Sūri Rāsa p. 184 to 185).

॥ संवत् १६७२ वर्षे तपा गच्छाभिराज भट्टारक श्री पू. (प्ज्य) विजयसेनस्रीश्वराणाम् आचार्यश्रीविजयदेवस्रिप्रभृतिसाधु-संसेवितचरणार्रिदानां विजयमानराज्ये पातिशाह श्री अक्डबरप्रदापितोपाध्यायपदभारक श्रीशञ्जेजयकरमोचनाचनेकस्कृतकारक महोपाध्याय श्री भानुचंद्र गणिनामुपदेशात् अष्टोत्तरशतावधानसाधन प्रमुदितपातिशाह श्री अक्डबरप्रदत्तसुश्वराहिनाम्नां पंकिसिद्धचंद्राणां चैत्यभ्मिमहणादिमहोद्यमेन च साः बागा प्रमुख मालपुरीय संघेन श्री चंद्रप्रभासादः कारितः लीः लालचंद्र गणिना स्त्रथरी(धार)परसा।

The writer Lālacandra was the pupil of Śānticandra Upādhyāya. The idol installed by Bhānucandra must be that of Lord Candraprabha a parikara of which was consecrated by Pandita Jayasāgara on Monday Mārgasīrṣa Sudi 2nd S. Y. 1678 (5-11-1621 A. D.) got made by Mālapura's sangha.—From the copies of inscriptions supplied to me by Munis Darśanavijaya and Nyāyavijaya. The said parikara is at present lying broken, while the idol is not found in the temple. It existed till S. Y. 1698 as the same is referred to by Vijayasāgara in his SammetaS'ikhara Tīrthamālā dhāla 6 verse 4 in words "चंद्रप्रभ चिंता हर्र, मालपुर्द मन लाडि" and till S. Y. 1750 for certain as is known by its reference in Saubhāgyavijaya's Tīrthamālā dhālā 13 in words "चंद्रप्रभ चिंता हर्र, मालपुर मन रंग".

⁹¹ A sect founded by Vijā in S. Y. 1570. This sect has its temple still extant at Mālpur wherein the principal idol is that of Adinātha, and which is known as Vijaya Gaccha's temple.

⁹² This is borne out by the inscription of S. Y. 1672 inscribed on the black makrānā stone slab of the innermost portion of the larger temple at Mālpur now known as Munisuvrata's temple which clearly states that at the instance of Bhānucandra and as the result of the trouble taken by Siddhicandra in securing the land and site of the temple, the Jaina congregation of Mālpur led by Shā Bāgā constructed a temple in the honour of Lord Candraprabha. It runs as under:—

While on his way to Ahmedābād, with the royal firmān appointing him the Governor of Gujarāt, Makarabkhān⁹³ halted at Jālore and saw Bhānucandra with due respect. The Khan asked him whether he could be of any service to him. The Upādhyāya thereupon said to him that Jaina sadhus belonging to the Sāgara group were acting contrary to the behests of the late and the most revered Hīra-Vijaya Sūri: Vijayadeva Sūri had, moreover, joined hands with them, and this act of his was improper. Makarabkhān replied that if Siddhicandra was sent with him, he would act as desired by him. Accordingly, Siddhicandra started with him and both reached Siddhapur after a time.

Vijayadeva Sūri from Pātan sent a monk by name Dhanavijaya and ten leading Jainas to receive Siddhicandra at Siddhapur and invited him to come to Pātan and to receive the title of Upādhyāya from the Sūri. Siddhicandra rejected the said offer saying that he would act up to his Master's instructions. He without being deflected from his project reached Ahmedābād via Mehsāṇā.

At Ahmedābād Siddhicandra joined Somavijaya Upādhyāya who exerted his best to dissuade Vijayadeva Sūri from taking the side of the Sāgara group and suggested peaceful steps for bringing about unity. All his attempts however failed. It was then felt that adoption of some drastic action was necessary.

Prominent Upādhyāyas by name Somavijaya, Nandivijaya, Vijayarāja, Dharmavijaya and Bhānucandra and the poet Siddhicandra and other monks, who on invitation gathered at Ahmedābād from different places, got a learned monk by name Rāmavijaya invested with the title of Ācārya at the hands of Vijayasundara Sūri Bhattāraka of Vadaśākhā, named him Vijayatilaka Sūri on Paoṣa Śudi 12 S. Y. 1673 Wednesday (8-1-1617 A. D.) at Ahmedādād and accepted him as the successor of Vijayasena Sūri. At the time Siddhicandra was granted the title of Vācaka i. e. Upādhyāya. This festive occasion was celebrated with great eclat by the help of Subā Mukarabkhān who greatly honoured the new Sūri and supplied his men, horses and elephants for the occasion.

At the instance of the Sūri, Nandivijaya went to Māndu, while Bhānucandra with his pupil Siddhicandra went to Sirohi. At Māndu, Nandivijaya saw Emperor Jahāngir who was there at the time⁹⁴. The Emperor paid respects to him and remembering Bhānucandra wished that he was there.

⁹³ Makarabkhān:—or Mukarrabkhān was the 14th Viceroy of Gujarāt, from 1616 to 1618 A.D. He started for Ahmedābād to take the charge on 1st Aświn Sudi 13 S. Y. 1673 (Hindi) i. e. (13-9-1616 A.D). "In A.D. 1616, on their (Jahānagir and Nūr Jahān's) return to Delhi, Mukarrab Khān, a surgeon who had risen to notice by curing Emperor Akbar, who was ennobled by Jehāngir, and who, since A. D. 1608, had been in charge of Surat or of Cambay, was appointed 14th Viceroy of Gujarāt, with Muhammad Safi as his minister. Jehāngir appointed Shāh Jahān, 15th Viceroy of Gujarāt in the place of Mukarrab-Khān in 1618 A.D." (History of Gujarāt—Bombay, Gaz. pp. 275-6).

⁹⁴ Jahāngir leaving Āgrā in the autumn of 1613 A. D. reached Ajmere on Monday 26th Aban i. e. Mārgaṣirṣa Śudi 7th S. Y. 1670 (8-11-1613 A.D.) and from there he started on Saturday (Tuesday in Tuzuk-i-Jah. p. 340 is corrected by Debiprasad in bis Jahāngir Nāmā p. 225) the 1st Zilqāda corresponding with the 21st Aban November 2nd 1616 A. D. (Kārtika

Two Mevrās with the imperial firmān calling Bhānucandra came to Ahmedābād and handed over the firmān to Makarabkhān the Viceroy of Gujarāt. The Subā saw Vijayatilaka Sūri and learnt from him that Bhānucandra was at Sirohi⁹⁵. Bhānucandra was called by the Sūri and Dharmavijaya Upādhyāya was sent in his place at Sirohi. When Bhānucandra came to Ahmedābād, he was honoured by the Suri and the Subā. Coming to know of the Emperor's call, he forthwith started and arrived at Māndu.

Jahangir was much pleased at seeing Bhanucandra and requested him to impart religious instructions to his son Sahariyār as he used to do to his illustrious father (Akbar). He further said that he had great affection-regard for him and asked him to say what he could do for him. Bhanucandra submitted that His Majesty was well aware that Hīravijaya Sūri on invitation had paid frequent visits to his father, Emperor Akbar, who had invested the Sūri with the title of Jagadguru; his successor Vijayasena Sūri bestowed through misplaced affection the title of Acarva upon Vijayadeva Sūri who at the time acted in contravention of the resolutions passed by those predecessors of his against the Sagara group-monks and made common cause with them; consequently he and many other sādhus left his fold and appointed another Acarya; and the Emperor would be pleased to see that the said Vijayadeva Sūri and his colleagues would not do anything derogatory to those pūrvācāryas. Thereupon Jahāngir gave him to understand that he would do what he wanted him to do. Bhanucandra stayed there and began to instruct Prince Sahariyar. The Emperor gave written directions to the officers at Ahmedābād, Surat and Baroda that Sāgara group be stopped from troubling the other group.

At the time during the monsoon, there arose a great quarrel between the followers of Sāgara and Vijaya-two Tapā groups at Burhānpur. Darśanavijaya came from Burhānpur and the matter was brought to the notice of Bhānucandra who asked Siddhicandra to approach the Emperor to bring the offenders to book. The Emperor passed necessary orders to his son Khuram Sultān⁹⁶ (who was then in the supreme command of the army at Burhānpur). Peace was restored on the offenders tendering apology.

Sudi 3rd S. Y. 1673) and arrived at Mandu on Monday 3rd March 1617 A. D. (Falguna Sudi 7th 1673 S. Y.—Debiprasad J. N. p. 253) thus taking 4 months and 2 days (Tuzuk-i. Jahangiri p. 363).

⁹⁵ At Sirohi Bhānucandra composed a Sanskrit commentary on Vasantarāja's S'akuna-S'āstra as appears from its first few verses in the reign of Akṣayarāja. (This Akṣayarāja must be 2nd Akherāja son of Mahārāja Rājasimha who was killed by Prithvirāja in S. Y. 1674 (1617 A. D.). When he sat on the throne in S. Y. 1674, he was 2½ years old. He ruled till S. Y. 1720 when he was imprisoned by his son Udayabhāṇa and died in S. Y. 1730. —Vide History of Sirohi in Hindi by R. B. Gauriśankara Ozā.

⁹⁶ The Prince (Khurram) marched towards the end of October 1616 (2nd Aśvina S. Y. 1673) to the Deccan via Ajmer and reached Burhānpur on March 6, 1617 A. D., (Thursday 10th Fālguna S'udi 1673 S. Y.) accompanied by the most valiant Imperial generals to bring the Deccan war to a successful conclusion. Jahāngir with his party reached Mandu on that very day (Tuz. Jah. says on Monday the 23rd which according to Debiprasad corresponds with Fāgan Sudi 7th S. Y. 1673). Adil Shāh accepted the terms of Khurram

When Bhānucandra and Siddhicandra spoke to Jahāngir as to how the quarrel arose and peace was restored at Burhānpur, the Emperor desired that such state of affairs be stopped for ever and unity be established. Hence he called both the Ācāryas—Vijayadeva Sūri and Vijayatilaka Sūri to Māndu—Both came there. Nemisāgara Upādhyāya of Sāgara group at the bidding of Vijayadeva Sūri reached Māndu to join his side.

The Emperor called both the Ācāryas before him and wanted to know what the dispute was. Nemisāgara replied that the other side did not respect the prominent pupil and successor of the great Ācāryas (i.e. Vijayadeva Sūri). Bhānucandra forthwith retorted, 'One who would not respect Hīra Sūri's commands, and contrary to the same would have faith in the doctrines laid down in a book (Dharmasāgara Upādhyāya's Sarvajna S'ataka, a new edition of Pravacana Parīkṣā, proscribed and rejected by the late lamented Sūris as opposed to scriptures), is not entitled to any respect'. Nemisāgara insisted upon that work being in consonance with the sacred books. Jahāngir inquired of Vijayadeva Sūri what the real matter was. Vijayadeva Sūri stated that the work in question was wrongly denounced by the other side as contrary to scriptures.'

At that time the Emperor argued:—'Though they denounced the work as untrue wrongly, you should take it as such if you believe in your pūrvācāryas and inspite of that if you put faith in such work, you would be acting against your own masters'. Nemisāgara retorted saying if any statements in that work were proved untrue, his side was prepared to correct the same. The Emperor curtly said 'Is your knowledge more than that of your Masters who declared the doctrines of the work as untrue? If you would not have faith in your Masters' words, your reputation will die out. Please attend to your duties and cease fighting amongst yourselves.'

Bhānucandra pointed to Vijayatilaka Sūri as their true head and the newly nominated true successor of Vijayasena Sūri, because he acted in the footsteps of that Sūri. The Emperor opined that it was good of him to do so and that he be accepted as the true guru.

Vijaya-tilaka Süri then came to Ahmedābād where Jahāngir and Bhānucandra also arrived⁹⁷. Thus Bhānucandra and Siddhicandra had taken a prominent part

and peace was concluded. The Prince left Burhanpur reaching Mandu on October 12, 1617 A. D. (Sunday 8th Kārtika Vad S. Y. 1674 Hindi) (T. J. says Shāh Jehān paid respects and offered presents to Jahāngir on Thursday the 10th of the month Shavval 1036 H. which according to Debiprasad corresponds with Aśvina Sudi 13th S. Y. 1674 Hindi) when he was greatly honoured and styled Shāh Jahān (king of the world) by the Emperor. Then the Emperor with Nūr Jahān started for Cambay where they reached after a leisurely journey of two months, halting there for 10 days. Leaving Cambay on December 30, 1617 (Tuesday 13th and 14th of Pausa Sudi S. Y. 1674) they entered Ahmedābād on January 5, 1618 A. D. (Monday 4th or 5th Māgha Vadi S. Y. 1674 Hindi).

⁹⁷ Jahangir arrived at Ahmedābād on January 5, 1618 A. D. (Māgha Vadi 5th S. Y. 1674) See the previous foot-note.

in working against Vijayadeva Sūri. (Vide Vijayatilaka Sūri Rāsa Adhikāra I, composed by Darsanavijaya in S. Y. 1679 Mārgasirsa Vadi 8th at Burhānpur).

According to the other account, at Māndu Emperor Jahāngir asked the local leading Jaina Candrapāla to call Vijayadeva Sūri. The Sūri was passing the monsoon at Cambay and on receipt of the invitation started for Māndu and reached it on Aśvina Śukla 13th S. Y. 1673 (Gujarāti while Hindi S. Y. 1674 corresponding with English date 2-10-1617 Thursday). The next day the interview took place. The Emperor received him with due respect, and being pleased with the Sūri's strong body despite his severe austerities, gave him the title of Jahāngira Mahā-Tapā (i. e. a great austere man acknowledged by Jahāngir). He disarmed the opposition of the Sūri's opponents and enjoined the Sanghapati Candrapāla to take the Šūri in a big procession to the accompaniment of the imperial band to his halting place. Further he declared that the Sūri was the acknowledged head-preceptor of the Jaina sangha. (Vide 17th Chapter of Vijayadeva-Mahātmyam a sanskrit versical composition by Śrīvallabha Upādhyāya of Kharatara gaccha. We have already mentioned about these accounts in this introduction at pages 20-21 under the heading of Vijayadeva Sūri and Nemisāgara Upādhyāya).

[Looking from a broad point of view, both the accounts are correct so far as the general facts are concerned, though each in the end prejudicially takes one-sided view. Both the Sūris were summoned after Bhānucandra was called at Māndu by the Emperor to bring about peace and amity between the two opposing parties. That Vijayadeva Sūri was invested with the title 'Jahāngiri Mahā-Tapā', cannot be denied though the first account is totally silent on that point, as that fact is borne out by that title having been expressly engraved in the subsequent consecration-inscriptions of Vijayadeva Sūri. Both parties must have been appeased by the Emperor by sweet pursuation to the effect that the preceding Ācāryas' actions be respected and they should behave towards each other properly and live peacefully and amicably.]

It is said about Siddhicandra that once thirty two thieves at Burhānpur were on the point of being put to sword, when Siddhicandra obtained an imperial firmān and saved all of them from being put to death. They were released and provided with clothes; similarly many nobles were saved from punishments. Jayadāsa and Appo-Lād Baniās who were sentenced to be trampled under the feet of an elephant on account of their killing an elephant wrongfully, were got released by Siddhicandra (Hīra Sūri Rāsa p. 185).

In S. Y. 1690 (1633-34 A. D.) Mehājala the sanghapati led a sangha from Nādalāi on a pilgrimage to the Šatrunjaya. Vijayānanda Sūri (the successor of the above Vijayatilaka Sūri on Pauṣa Sukla 14th S. Y. 1676—Saturday 8th January 1620 A. D.) and Siddhicandra Upādhyāya joined the said sangha at Dholkā. (see the above Vijaya-tilaka Sūri Rāsa Adhikāra II composed by Darśanavijaya in S. Y. 1697 and Prācīna-tīrtha-mālā-samgraha p. 106).

No information is available as to actually when Bhānucandra died but it is

surmised that he may have died before S. Y. 1690, as Siddhicandra is mentioned to have joined the above sangha alone i. e. unaccompanied by Bhānucandra.

As to himself Siddhicandra says the title of Khuṣ-faham (a man of sharp intellect) was conferred upon him for his avadhānas not only by the Emperor Akbar Jalāldin but also by the Emperor Jahāngir Nuruddin, and the latter further invested him with the titles of Nādira-Jamān (the unique of the age) and Jahāngira-pasand (Favourite of Jahāngir) as appears in the ending prose-portion of his works Jinas'ataka Tīkā and Anekārthopasarga Vṛtti. He performed avadhānas to the number of 108 i. e. he could attend to 108 things at a time (see the initial 2nd verse of his Bhaktāmara-stotra-Vṛtti). On seeing him in his early age as handsome as cupid, Akbar treated him as his own son. (Vāsavadattā-Tīkā's intitial 9th verse) and he was just like a bee engrossed in the lotus flower in the form of the heart of Emperor Akbar (Jinas'ataka-tīkā's ending 1st verse, and Bhaktāmara-stotra-tīkā's initial 3rd verse).

It is stated in the present work that he was 25 years of age when Jahāngir the Emperor issued his unjustifiable order of banishing him and other $s\bar{a}dhus$. This happened probably in S. Y. 1668 or 1669 but certainly before S. Y. 1670 Āśvina Śudi 2nd (Monday 6-9-1613 A. D. see footnote No. 90)—the date of departure of Jahāngir from Āgrā for Ajmere. Besides he gave the year of composing his Jinas'ataka-Tikā as S. Y. 1714 at Sanghapur (near Vijāpur in Gujarāt) and in his own time his Kāvya-prakā'a khandana was copied in S. Y. 1722, hence it can be safely said that he lived at least 67 years.

We come across another Jaina monk by name Bhānucandra who was also a contemporary of our hero Bhānucandra, in the ardha-kathānaka (half autobiography) of the great Hindi Jaina poet and philosopher Banārasidāsa who states therein "I was engrossed in sexual science. Then in S. Y. 1657, Abhayadharma Upādhyāya of Kharatara gaccha visited Jaunpur with his two pupils by name Bhānucandra who was a clever monk and Rāmacandra a boy in a layman's garments. Bhānucandra by dint of his learning and saintly character became very popular. Once I with my father went to hear his sermon and by constant visits became much attached to him and used to take lessons from him. I learnt and committed to memory Panca-sandhi, Sāmayika and Pratikramana sūtras (Jaina ceremonial works), Chandasāstra, S'rutabodha, Kośa and numerous Sanskrit verses. Besides I took eight vows from him. Notwithstanding that, sexual attachment did not leave me."

VI. GENEOLOGICAL LIST OF PUPILS OF BHĀNUCANDRA.

Rṣabhadāsa a Gujarāti poet was a contemporary of Bhānucandra. He in his Hīravijaya-Sūri-Rāsa composed in S. Y. 1685 states at p. 185:— Bhānucandra from

⁹⁸ विद्या पढि विद्यामें रमे सो छहसे सत्तावने समे-

खरतर अभयथरम उवज्झाय, दोय शिष्य जुत प्रगटे आय। भानुचंद्र मुनि चतुर विशेष, रामचंद्र वालक गृहमेष॥ १७३-४ × [Vide Introduction to Banārasi—Vilāsa edited by my friend Nāthurām Premi].

Mālpur went to Marwād and passed monsoon at Jhālor where he initiated 21 laymen into the monk's order. He had in all 80 pupils, 13 of whom were invested with the title of Pannyāsa (Pandita) by name Udayacandra, and others, amongst whom the most prominent was Siddhicandra. Though, names of all his pupils cannot be had, fifteen of them can be identified with pupils of some of them, names of all ending with 'Candra'.

- 1. Udayacandra—He corrected and revised a work $Mrg\bar{a}nka$ -Carita in Sanskrit composed by his co-pupil Rddhicandra (see below no. 6). His pupil Rūpacandra composed a Sanskrit avacūri on Dandaka-prakaraņa on Thursday Jyeṣtha Śukla 6th, S. Y. 1675 and had a pupil by name Viśālacandra whose copy of a work written at Devakipātan is found in Broach Bhandār.
- 2. Bhāvacandra—He was the elder full brother of Siddhicandra. For him and others, his Master Bhānucandra composed Nāma—S'reni Vritti (vide its initial 3rd verse). He wrote the very first copy of his younger brother Siddhicandra's work entitled S'obhana—stuti-tīkā. His pedigree of pupils is Bhāvacandra—Kanakacandra—Karpuracandra—Mayācandra who had three pupils named Bhakticandra, Sūgālacandra and Vallabhacandra, the last wrote a copy of Gujarāti Caturvimsati Jina stavanas—Covisi by Sanghasoma on first Āṣādha Vadi 2 S. Y. 1771 (J. G. K. III p. 1139); Bhakticandra's pedigree of pupils is Bhakticandra—Udayacandra II—Uttamacandra—Śivacandra II who wrote a short Gujarāti poem Tārangā—mandana—Ajitanātha—stavana on Vaisākha Śudī 10th S. Y. 1874 at Rādhanpur (Broach Bhandār) and a copy of Dhundhaka Rāsa by Uttamavijaya on Māgha Vadi 5, S. Y. 1880 at Bombay for Muni Dadhicandra (J. G. K. III p. 301). The said Śivacandra II's pupil Haricandra II's pupil Gulābacandra made a copy of Uttamakumāra Rāsa by Jinaharṣa in Gujarāti on Pauṣa Vadi 13 S. Y. 1867 at Vīsalnagar (J. G. K. III p. 1155).
- 3. Siddhicandra—The author of the present work. He was the younger blood-brother of Bhāvacandra. About him we have already stated. He had five pupils by name Suddhicandra, Sabhācandra, Subuddhicandra, Amīcandra, and Karpūracandra, for the last of whom Siddhicandra composed Laghus'ānti-Stotra-Vrtti as stated by him at its end. Suddhicandra copied a MS. of Dīpālikā-Kalpa in prose at Vidyāpura (Vijāpur in Gujarāt) in S. Y. 1698 (see Prasasti Sangraha p. 209 No. 749) and Subuddhicandra a MS. of S'iladūta on Āsvina Vadi 2nd S. Y. 1701 at Karpatavāṇijya-Kapadvanj (Bhandārkar O. R. Institute Collection, Poona). Amīcandra's pupil Guṇacandra II's pupil Govindacandra copied a MS. of Padmasāgarī-Kathā on Sunday Āso Šudi 9th S. Y. 1759 (Limbdi Bhandār). Sabhācandra's pupil Bhāgyacandra's pupil Khusyālacandra wrote copies of Gujarāti poems of the same name Ratnapāla-Rāsa one by Suravijaya and another by Mohanavijaya for his co-pupil Lakhamicandra on Monday Caitra Sudi 15th S. Y. 1786 (23-3-1730 A. D.) at Gangapura in Bhāla country (J. G. K. II, p. 295 and p. 434).
- 4. Devacandra—An Osvāl baniā of Ahimmanagar (probably near Idar) in Gujarāt born of parents by name Rindo Śāha and Varabāi. His original name was

Govāla. At the age of 9 years he lost his father. Hearing sermons of Vijayasena Sūri he renounced the world along with his younger brother and widowed mother. He and his brother were named Devacandra and Vivekacandra by Pandita Rangacandra. Both lived together, studied at the feet of Bhānucandra Upādhyāya and became his pupils. Devacandra got the title of Pandita in S. Y. 1665 at Delvādā in Kāthiāwār and resorted to severe austerities. He died at Sarotarā in S. Y. 1697 Vaisākha Sudi 8th after 5 days of anasana at the age of 53 (vide Devacandra Rāsa composed by his brother Vivekacandra, a summary whereof is given in Jaina Satya Prakāsa Vol. II No. 2 and in J. G. K. III p. 1070).

He composed a Sanskrit commentary on Sobhanā's Jina-stuti (Published in Agamodaya Samiti Series No. 51) and some poems in Gujarāti (vide J. G. K. I p. 579 and III p. 1070). In one of his Gujarāti poems Satrunjaya-tīrtha-paripāti he stated that he after passing the monsoon of S. Y. 1649 at Idar went on a pilgrimage to Satrunjaya on Thursday Māgha Vadi 15 S. Y. 1695 (21-2-1639 A. D.) with his said brother and co-pupil Vivekacandra and their twelve pupils over and above 200 Jaina sādhus of Vijayadeva Sūri's group (See Prācīna-tīrtha-mālā pp. 38 to 47).

5. Vivekacandra—As stated above, he was the younger full brother of the above-mentioned Devacandra with whom he took initiation into the monks' order, lived and studied together. Both jointly initiated other pupils. Vivekacandra consecrated Pādukās of Vijayasimha Sūri, the well-known deceased pupil of Vijayadeva Suri, on Sunday Fālguna Sudi 3rd S. Y. 1709 corresponding with 20-2-1653 A. D. (Inscription No. 514 Jinavijaya II, wherein the said Vijayadeva Sūri is described as the holder of the title 'Jahāngirī-mahā-tapā' granted by Emperor Jahāngir).

Gunacandra one of the pupils was the copyist of the MS. of the present work. There were other two pupils by name Tejacandra and Jinacandra whose two pupils named Jivanacandra and Danacandra had three pupils by name Dipacandra, Dolatacandra and Pratāpacandra. The said Jivanacandra wrote a MS. copy of a Gujarāti poem-S'ripāla Rāsa by Jnāna-sāgara on Thursday Jyestha Sudi 10th S. Y. 1753 (20-5-1697 A.D.) at Pātan (J. G. K. I p. 59) and another Gujarāti poem, Prthvikumāra Rāsa, by the above Devacandra, in 12 folios on Tuesday Caitra Sudi 10th S. Y. 1756 (19-3-1700 A. D.) (J. G. K. III p. 1072); and Danacandra wrote a copy of a Gujarati poem Sādhuvandanā by Punyasagara on Aso Vadi 11 S. Y. 1742 (J. G. K. III p. 655), a MS. copy of stotras viz. Ajita-S'ānti, Bhaktāmara, S'ānti &c. at Pātan on Kārtika Sudi 11th S. Y. 1762 (Gokulbhāi Nānji's collection) and a MS. copy of Gujarāti Satrunjaya Tīrtha-Paripāti of the above Devacandra at Pātan in S. Y. 1769 (J. G. K. I p. 581). Dīpacandra copied a Gujarāti poem-Ratnakumāra Copāi by Sahajasundara on Friday Jyestha Śudi 2. S. Y. 1778 at Pātan (J. G. K. I p. 125) and another poem, Jayasena Kumāra Rāsa, by Amrtasāgara, on Caitra Vadi 14th S. Y. 1782 (J. G. K. III p. 1275) and Dolatacandra copied a Gujarāti poem-'Smaller Srīpāla Rāsa by Jinaharsa on Thursday Aso Sudi 14th S. Y. 1763 (29-9-1726 A. D.) at Pātan (J. G. K. III p. 1153). Dīpchandra's pupil Kalyānachandra wrote a copy of Samayasundara's Thāvaccā-suta Copāi on Sunday Caitra Vadi 6 S. Y. 1792 at Mandal (J. G. K. III p. 862).

The said Tejacandra had also pupils by name Tārācandra and Tatvacandra whose two pupils by name Keśaracandra and Premacandra copied a MS. of a Gujarāti poem-Ratnapāla Rāsa-by Mohanavijaya on Wednesday Āśvina Śudi 2nd S. Y. 1788 (22-9-1731 A. D.) at Lāśi (J. G. K. III p. 1379). The said Pratāpacandra had two pupils named Bhāvacandra II and Vidyācandra—the latter had three pupils by name Mukticandra, Vakhatacandra and Tārācandra II, the last of whom copied a Gujarāti poem entitled Candarājā-Rāsa by Mohanavijaya in 140 folios on Jīvavāra—Thursday Vaiśākha Śudi 3rd S. Y. 1844 (8-5-1788) (J. G. K. III p. 1385).

- 6. Rddhicandra—He composed in Sanskrit $Mrg\bar{a}nka$ —carita which was corrected by the aforesaid Udayacandra (no. 1) as stated above, and in Gujarāti $Sangr\bar{a}m Soni$ $R\bar{a}sa$ of 20 verses. His pupil Lalitacandra wrote a MS. copy of Rsi—Mandala on Saturday Mārgasirṣa Vadi 5th S. Y. 1705 (25-11-1648 A. D.) at Vīramapura.
- 7. Sumaticandra—He had two pupils by name Ānandacandra and Sujanacandra, the pupil of the former named Amīcandra II wrote for the latter a MS. copy of Rṣimandala at Māndu on Friday Māha 7th S. Y. 1724 (10-1-1668 A.D.), that of Uttarā-dhyayana-Sūtra at Nala-Kaccha (Nālchhā) a village at the foot of Māndu on Thursday Aśvina Sudi 3rd S. Y. 1740 (13-9-1683 A.D.) and a MS. copy of Upadeśamālā on Āśvina Sudi 5th S. Y. 1741 (3-10-1684 A.D.) (Praśasti-Sangraha p. 235 No. 878, p. 252 No. 953 and p. 253 No. 956).
- 8. Hīracandra—He composed a Gujarāti Bālāvabodha—gloss on Karma—grantha (J. G. K. III p. 1603). In S. Y. 1694 he in company of his brothers-co—pupils Kuśalacandra and Amaracandra and his pupils by name Dīpticandra, Rāmacandra, Jinacandra II and others and with the sangha of Sirodi had been to Ābu on pilgrimage (Inscription in part no. 163 Jinavijaya II and in full no. 82 Jayantavijaya). His pupil named Ravicandra wrote at Cambay a MS. copy of Upāsaka—Dasānga Sūtra on Thursday Fālguna Sudi 5th S. Y. 1722 (1-3-1666 A. D.) (Āṇandji Kalyāṇaji's collection at Pālitānā) and a copy of Sumitra Rājarṣi Rāsa by Rṣabhadāsa (J. G. K. III p. 917) and his pupil the said Jinacandra II composed in Gujarāti a short poem describing the pilgrimage by a congregation led by two brothers Mālji and Rāmji both Modha Banias of Ahmedābād and headed by Vijayarāja Sūri to Satrunjaya visited on Fālguna Sudi 7, S. Y. 1723 (a copy of which poem I have got). His pupil by name Mānacandra's pupil Khīmacandra's pupil Kesaracandra copied S'renīka Rāsa by Rṣabhadāsa on Wednesday Bhādrapada Sudi 3 S. Y. 1766 at Surat (J. G. K. III p. 920).

The said Jinacandra had also a pupil by name Jitacandra who had two pupils named Yaśaścandra and Labdhicandra, the former of whom wrote a copy of Pancākhyāna-Copāi by Nityasaubhāgya on Thursday Āso Śudi 2 S. Y. 1770 (J. G. K. II p. 282), a copy of Kumārapāla Rāsa by Jinaharṣa on Saturday first Āso Vadi 4 S. Y. 1814 at Kayarvādā for Dolatacandra. (J. G. K. III p. 1156). Labdhicandra's pupil named Devacandra (II) had two pupils:—Bhavānicandra and Somacandra II—the latter of whom wrote a MS. copy of Satrunjaya-Mahātmya in Sanskrit prose by Hansaratna of 246 folios at Tankāriā on Saturday Jyeṣtha Śudi 1st S. Y. 1833 (18-5-1776 A. D.)

(Puratatva-Mandira's collection); and a copy of Sāntinātha Rāsa by Rāmavijaya at the very village Tankāria on Monday Caitra Śudi 12 S. Y. 1842 for Muni Sabhācandra (probably in the said collection.)

- 9. Somacandra—He wrote a MS. copy of Vivekavilāsa by Jinadatta Sūri on Monday Fālguna Śukla 2nd S. Y. 1685 (16-2-1629 A. D.) during the reign of Vijayadeva Sūri (Peterson's Report IV p. 115).
- 10. Haricandra—He composed a Gujarāti hymn on 'Modherā Pārśvanātha' noting the consecration of the idol of Pārśvanātha at Modherā (near Pātan in Gujarāt) on Vaiśākha Śudi 8th S. Y. 1697 in the temple got built by Dośi Maniyā, the son of Panji sanghapati.
- 11. Sukhacandra—His copy of Nava-tatva Prakarana made for Pravartini Lilālakṣmī during the time of his co-pupils Udayacandra and Rddhicandra (nos. 1 and 6) is found in the collection of the late Seth Premchand Ratanji of Bhāvanagar.
 - 12. Kus'alacandra—See under the above no. 8 Hiracandra.
 - 13. Amaracandra—see under the above no. 8 Hiracandra.
- 14. S'ivacandra—He was the author of Laghuprastāvokti-ratnākara quoted by his co-pupil Siddhicandra in his Bhaktāmara-stotra-Vṛtti.
- 15. Labdhicandra—He wrote a MS. of Surasundari Copāi in Gujarāti on Tuesday Fāgaņa Śudi 7th S. Y. 1674 (9-3-1617 A. D.) and presented it to sādhvi Guṇalakṣmi pupil of sādhvi Rūpalakṣmi for her study. He composed a short hymn in praise of Navakhandā Pārṣvanātha of Ghogha in Gujarāti 37 verses. He was at Mālpur in S. Y. 1691 as appears from the unpublished inscription of the idol of Munisuvrata installed in the temple there.

VII. LIST OF WORKS BY BHANUCANDRA.

1. Sūrya-sahasra-nāma-Vrtti—a Sanskrit commentary of one thousand Sanskrit names of the Sun which the author used to recite before the Emperor Akbar every morning. These one thousand Sanskrit names of the Sun are published in a Hindi monthly Atmānanda Vol. IV No. 9 September 1933 from a MS. in the collection of the late Muni Vicakṣaṇavijaya and are herewith appended. The commentary is not available to me.

⁹⁹ संवत् १६९१ वर्षे वैशाख शुदि १० गुरुवासरे (9-4-1636 A. D.) बीजामित गच्छे पूज्य श्री गुणसागरस्रिजि आचार्य श्री कल्याणसागरस्रिजि उपदेशात माळपुरवास्तव्य श्रीमाल शातिय वृद्धशाषा मुशल गोत्रे साहा माहा भार्या प्रतापदे सुत साहोन्मर्षण भार्या मुवरंगदे आतृब्य सा॰ हरीकरण भा॰ जसवंमदे सुत सा × × भा॰ जसमाई सुत सा॰ द्रमादर भा॰ देव सा॰ गोपाल आ॰ नेमीदास स्त्रभेयसे श्री जिनभवनसह श्री मुनिसुव्रत विंवं कारितं प्रतिष्ठितं श्री तपागच्छे श्री विजयदेवस्रि एंडित लब्धिचंद्र गणि प्रणमित ॥ सुभुवन स्त्र॰ हाया ।

- 2. Ratnapāla-Kathānakam—A story in Sanskrit illustrating benefits from the charity of supplying water to the thirsty (A MS. copy written in S. Y. 1662 at Mālpur is available at Udaipur in Yati Vivekavijaya's Bhandār; also referred to in Bühler's report III of 1872-73 A. D.).
- 3. Vasantarāja-S'akuna-s'āstra-vṛtti—A Sanskrit commentary on Vasantarāja's work on omens and portents composed at Śirohi during the reign of Akherāja (who reigned from S. Y. 1674 to S. Y. 1720 and died in S. Y. 1730 see foot note no 95 at p. 62), and corrected by the author's pupil Siddhicandra. (Published by Śridhara son of Jatāśankara an astrologer of Jaipur and printed in Jagadīśvara Press Bombay in S. Y. 1940; and then also published and printed by Venkateśvara Press Bombay in S. Y. 1963 with its Hindi translation. Referred to in Mitra's notices Vol. V p. 263 No. 1939. A MS. copy of 177 felios written in S. Y. 1763 is found in Hansavijaya's Bhandār at Baroda No. 1199 and another copy is in Vivekavijaya Yati's Bhandār at Udaipur No. 194).
- 4. Kādambarī-pūrvārdha-tīkā—a Sanskrit commentary of the first half of Kādambari of Bāṇa-bhaṭṭa, composed during the times of Vijaya-tilaka Sūri Circa S. Y. 1673 to 1676); It is the only commentary extant on Bāṇa's said work (Printed and published by Nirṇaya ṣāgara Press, Bombay).
- 5. Sārasvata-Vyākaraņa-vṛtti-tippaṇa or vivaraṇa—A Sanskrit commentary on Sārasvata Prakriyā which is itself a commentary by Kṣemendra a son of Haribhatta (Buhler III, 30 N. P. i. e. North-West provinces Allahabad 1877-86 referred to in Catalogus Catalogorum 1891 A. D.) who composed it on Narendra's Dhātupātha of the Sārasvata Grammar of Sanskrit language (Cata. Cata. part II, 1896 A. D.). Bhānucandra's said vivaraṇa was corrected by his pupil Siddhicandra. (A MS. copy of 40 folios is in Pravartaka Kāntivijaya's Bhandār at Chāṇi in bundle No. 6 MS. No. 44).
- 6. Kāvyaprakās'a-vivṛti—Kāvyaprakāsa is a well-known work in Sanskrit on poetics by Mammatācārya. A Sanskrit commentary thereon was written by Bhānucandra as is stated in the initial tenth verse of this work. (A MS. thereof was seen by the late Sir Bhandārkar at Ahmedābād in Vimala-gaccha's bhandār as mentioned by him in his report of 1883-84 at p. 17 para 14. The said Bhandār is situated at Dosivāda's pole at Ahmedābad and is not now easily accesible).

It appears this work of Bhānucandra is different from Siddhicandra's $K\bar{a}vya-prak\bar{a}sa-khandana$.

7. Nāmas'reni-vṛtti—(referred to in the initial tenth verse of this work), Nāma-sangraha (referred to in Cata. Cata. II), Vivikta-nāma-sangraha (referred to in Mitra's notices Vol. X p. 151), Nāma-mālā—all these names are applied to one and the same work which is popularly called Bhānucandra's Nāma-mālā. Vivikta-nāma means asamyukta i. e. a word which is not a compound word. In this work there are six Kāndas (parts) viz. Devādhideva, Deva, Manusya, Tiryak, Nāraka and Sāmānya-Kāndas.

The author says the work was composed for his pupils Bhāvacandra and others for their proper understanding. Occasionally Gujarāti words are also used for clarification. As Vivikta-nāma-sangraha it is referred to in Mitra's notices X p. 151 No. 4015 where it is described as a commentary on the nāma-sangraha of Hema Ācārya commonly called Hema Kosha. Its colophon extracted there states that the commentary was composed during the reign of Vijayasena Sūri (who died in S. Y. 1672 Hindi) hence the maximum date of its composition is before S. Y. 1672. (A MS. copy is available in Dehlā-Upāśraya Bhandār Ahmedābād. It is of 113 folios and is written in S. Y. 1698 at Śyāmapuri i. e. Kālupur of Ahmedābād. Another MS. is lying in New Sangha Bhandār Vakhatji's Sheri at Pātan No. 25 in bundle 21).

- 8. Viveka-vilāsa-tīkā—A Sanskrit commentary on Viveka-vilāsa a work composed by Jinadatta Sūri of Vāyada Gaccha about S. Y. 1265. During the reign of Vijayānanda Sūri in S. Y. 1678, this commentary was corrected by Lābhavijaya Upādhyāya—the pupil of Kalyāṇavijaya Upādhyāya, assisted by Jayavijaya—the pupil of Devavijaya, after getting permission of Siddhicandra for the purpose. (A correct contemporary MS. copy of 201 folios no 304 and a fresh copy of 320 folios written in S. Y. 303 in Bhaktivijaya's collection with Ātmānand Sabhā, Bhāvnagar, a new copy of 145 folios written in S. Y. 1958 in Pravartaka Kāntivijaya's Bhandār at Baroda Bundle No. 9 MS. No. 55, and a copy of 300 folios written in S. Y. 1967 in Hamsavijaya's Bhandār at Baroda No. 1445 are available).
 - 9. Şat-trinsikā vrtti-(Iryāpathikī)-is in Vimala gaccha's Bhandār at Ahmedābād.

VIII. LIST OF WORKS BY SIDDHICANDRA.

- 1. Kādambari-Uttarārdha-tīkā—A Sanskrit commentary of the latter part of Kādambari of Bāṇa-bhaṭṭa. It seems to have been composed by the author after S. Y. 1673 when he got the title of Upādhyāya (Printed and published by Nirṇaya-sāgar Press, Bombay).
- 2. S'obhana-Stuti-tīkā—A Sanskrit commentary on the Sanskrit verses composed by Śobhana Muni in praise of 24 Jinas. (Three MS. copies are available—in Dehlā's Upāśraya Bhandār at Ahmedābād, No. 3 in the Bundle No. 75; in Vimala gaccha's Bhandār at Ahmedābād No. 18 in bundle No. 40 and in Vīrabāi's Pāthaśālā Library at Pālitānā. It is referred in Bhandārkar's Report VI No. 1411 Published by Agamodaya Samiti, No. 51).
- 3. Vṛddha-prastāvokti-ratnākara—A large collection of Sanskrit verses for recital on appropriate occasions. See no. 5 below.
- 4. Bhānucandra—caritam—The life account of the author's Master Bhānucandra—the present work.

- 5. Bhaktāmara-stotra-vṛtti—A Sanskrit commentary on the Sanskrit hymn composed by Mānatunga Sūri in praise of the first Jina Rṣabhadeva beginning with words "bhaktāmara". In this commentary the author has quoted verses from his above works Nos. 2, 3 and 4 and his co-pupil Śivacandra's Laghu-prastāvokti-ratnakara. (Published by Bhīmsi Māṇek, Bombay).
- 6. Tarka-bhāṣā-tīkā—A Sanskrit commentary on the work of Hindu logic by name Tarka-bhāṣā composed by Keśavamiśra (a MS. copy is in Vimalagaccha's Bhandār at Ahmedābād No. 16 bundle No. 6).
- 7. Sapta-padārthi-tikā—A Sanskrit commentary on another work of logic by name Sapta-padārthi composed by Śivāditya (Ibid. No. 48 bundle No. 36).
- 8. Jina-s'ataka-tīkā—A Sanskrit commentary on Jina-sataka. The original work is a hymn in praise of Jina (conqueror i. e. Tīrthankara) composed by Jambu-Jambunāga of Candra gaccha about S. Y. 1005; while Sāmba Muni of Nāgendra gaccha wrote a short commentary—panjikā in S. Y. 1025. On the basis of the panjikā Siddhicandra wrote an extensive commentary by name Candra-candrikā in S. Y. 1714 at Sanghapura (a village near Vijāpur of Gujarāt). (A MS. copy of 34 folios written in the same year on Vaisākha Sukla 3 at the same village Sanghapur is found in the Vimala gaccha's Upāśraya Bhandār at Vijāpur of Gujarāt).
- 9. Vāsavadattā-vṛtti or vyākhyā-tīkā—A Sanskrit commentary on the Sanskrit campu Vāsavadattā of Kavi Subandhu. (A good copy of 62 folios is found in the above place at Vijāpur and another referred to in Peterson's Report IV No. 781 of 1886-92 A. D. is available at the Bhadārkar Oriental Research Institute, Poonā).
- 10. Kāvya-prakās'a-khandana—A sort of a commentary-vivṛti-as the author calls it in Sanskrit on the well-known work of poetics Kāvyaprakāsa by Mammatācārya, whose several theories Siddhicandra has refuted. (A MS. copy of this also, in 62 folios written in the author's time S. Y. 1722 is available at the above place at Vijāpur).
- 11. Anekārthopasarga-vṛtti—A Sanskrit commentary iu the form of a lexicon, on Sanskrit words having different meanings as treated in *Amarakośa*, composed with the aid of several lexicons. (A MS. copy of 55 folios is also found in the above place at Vijāpur, and another MS. is available in Pravartaka Kāntivijaya's Bhandār at Chāṇi No. 82)
- 12. Dhātu-manjarī—A work on Sanskrit grammar relating to dhātus (verbroots). This is different from the work known as Ākhyāta-vāda-tikā. (A MS. is available in Limbdi Sangha Bhandār No. 65 bundle 27 and referred to in Buh. III p. 8).
- 13. Akhyātavāda—tīkā—A commentary on a portion of Sanskrit grammar i. e. Akhyāta which is defined as under:—

धात्वर्थेन विशिष्टस्य विधेयत्वेन बोधने । समर्थः खार्थयन्नेन शब्दो वाऽऽख्यातमुच्यते ॥

(A MS. is lying in Vimala Gaccha's Bhandar at Ahmedabad No. 6 Bundle No. 3).

- 14. Prākrita-subhāṣita-sangraha—An anthology being a collection of elegant witty or enigmatic prākrit gāthās-verses—selected by the author. (A MS. of 25 folios written in the author's time is also found in the above place at Vijāpur).
- 15. Sükti-ratnākara—A collection of 377 elegant Sanskrit verses of different poets including the author himself on six seasons viz. vasanta, grīṣma, prāvrt, śarada, hemanta and sisira. The poets and works quoted are many, some of whom are unknown and some anonymous; so they furnish us a field of research relating to the said unknown poets and works. The works quoted are Sūkti-kalpalatā, Sūkti-sudhā, Sūkti-sahasra. Kāvyaprakāsa, Meghābhyudaya and Kṛṣṇa-krīdita-kāvya. Poets quoted are: Bhojadeva, Kşemendra, Rājasekhara, Sarvadāsa, Bhartrhari, Amaracandra the author of Bālabhārata, Bāṇabhatṭa, Amaru, Goi and Dhoi, Kulapati, Bhāravi, Trivikrama, Vijjikā (poetess). Pāṇini, Gāndhika Bhalluka, Raghupati, Bhānukara alias Vaidya Bhānupandita, Lolimba or Lolimbarāja, Rāmajisņu son of Harihara Koka, Rudra, Kumāradāsa, Kālidāsa, Nāthakumāra, Bihlaņa, Yāgesvara, Rudrața, Śrīharsa, Vyāsa, Bhattisvāmi, Śrutidhara, Rāma, Madana, Someśvara, Madhusūdana Sarasvati, Bhagiratha, Laksmidhara, Dandi, Amṛtavardhana, Mahāmanuşya, Vankalāvartta and Mayūra¹⁶⁰ (A correct MS. copy is found in 16 folios in Pravartaka Kāntivijaya's Bhandār—Baroda No. 1613, wherein first 5 folios covering description of the first season Vasanta are wanting, hence poets and works quoted in that portion cannot be mentioned here).

(1). (Vide Dr. Har Dutt's article 'An Analysis of authorities quoted in the Śarangadharapadhati' Annals of B. O. R. Institute Vol. XVIII pages 77 to 84). Bhattisvāmi is the famous author of Bhatti-kāvya; Madhusūdana Sarasvati is the author of Advaita-

100 Most of the poets quoted here are also quoted in S'arangadhara-paddhati (Bom. San-

Series No. 37) as stated hereunder with the total number of verses assribed to the particular author mentioned in bracket therein and with the indication of other anthologies, if referred to therein such as: Saduktikarnāmṛta (=Skm), Kavīndravacana-samuccaya (=Kvs) Vallabha's Subhāṣitāvali (=Sbhv.) and Jalhaṇa's Sūktimuktāvali (=Sml). Amara-Amaruka (28) and Skm, Kvs, Sbhv. Amarasinha's Bālabhārata (1). Amrtavardhana (1) and Sbhv. Kālidāsa (the great poet) (26) and Skm; Kvs; Sbhv. Kumāradāsa the author of Janakiharana (4) and Skm; Kvs; Sbhv. Ksemendra (61) and Sbhv. Trivikrama Skm; - Vaidya Trivikrama (3); Trivikrama Bhatta (8) and Sbhv. Dandinauthor of Dasakumāra carita (19) and Skm; Kvs; Sml. Dhoi-Skm. alias Dhoyika (1) and Sml. Nāthakumāra (1). Pāṇini (2) and Skm; Kvs; Sbhv. Bāṇabhaṭṭa—author of Kādambari (16) and Skm; Kvs; Sbhv. Bilhana (17) and Skm; Sbhv; Sml. Bhattisvāmin-Bhattasvāmin (1); Bhartrhari (62) Skm; Sbhv; Sml. Bhalluka Gandhin may be Bhallata (11) and Sbhv. Bharavi (6) and Skm; Sbhv. Bhojadeva-Bhoja Narendra or Bhojaraja (13) and Skm) Kvs; Sml. Madana (2). Mayura (5) and Skm; Kvs; Sbhv; Sml. Mahamanusya (2; and Skm; Sbhv; Sml. Rajasekhara (14) and Skm; Kvs; Sbhv. Rudra (9) and Skm; Kvs. Sml; Sbhv. Rudrata (2). Laksmidhara (5) and Skm; Kvs; Sml. Vijjikā-Vijjakā-Vidyā (13) and Skm; Kvs; Sbhv; Sml. Vaidya Bhanupandita-Bhanukara (4)-Bhanupandita (2). Vyāsa (32) and Skm; Sml. Śrīharsa (11) and Skm; Kvs; Sbhv; Sml. Śrutadhara Rāma may be Śrutadhara (2) and Sbhv. Sarvadāsa-Śarvadāsa (1). Somes'vara-Bhatta Somesvara

- 16. Mangalavāda—A very short work discussing the utility of Mangala (benedictory verses) in any work or composition in the style of neo-logicians—navyanaiyāyikas citing opinions of Cintāmaṇikāra (Gangeśabhaṭṭa), Udayanācārya, Pragalbhacaraṇa and others and agreeing with the theory of Cintāmaṇikāra (AMS. of 5 folios No. 2089 is found in Pravartaka Kāntivijaya's Bhandār, Baroda).
- 17. Sapta-smarana-Vrtti-Amongst most of the Svetambara Jainas nine hymns are meant for daily recital viz. (1) Navakāra-stotra (2) Uvasagga-haram or Upasargahara-stotra by Bhadrabāhu (3) Tijayapahutta or Saptatyadhikasata-Jina-stotra (4) Namiuna or Bhayahara-stotra by Mānatunga Sūri (5) Ajia-Santi or Ajita-S'anti-stotra by Nandisena (6) Laghu-S'ānti-stotra by Mānadeva Sūri and (7) Brhat-S'ānti-stotra by Vādivetāla Šānti Sūri (8) Bhaktāmara-stotra by Mānatunga Sūri and (9) Kalyānamandira-stotra by Siddhasena Divākara. The author composed a separate commentary on the said Bhaktāmara which is above referred to. This is a commentary on the above first 7 hymns. That on (1) Navakāra and (2) Uvasaggaharam is published along with Samayasundara's Anekārtha-ratna-Manjūṣā in Sheth Devchand Lālbhāi Jaina Pustako ddhāra Fund Series No. 8. A MS. referred to in Peterson's Report V, No. 885 of 1892-95 A.D. of 13 folios written in S. Y. 1792 is available in Bhandarkar O. R. Institute, Poona which contains gloss on the said two (1 and 2) hymns already published and on (3) Tijayapahutta and (4) Namiuna only. A nearly complete copy is formed by two incomplete MSS. of 17 and 14 folios the first containing gloss on first 4 hymns and two gāthās of the 5th hymn, and the second being gloss on the remaining gāthās of the 5th hymn and 6th and 7th hymns respectively, found at Dehlā-Upāśraya's Bhandār, Ahmedābād Nos. 141 and 140 of bundles Nos. 40 and 41.
- 18. Lekha-likhana-paddhati—[AMS. copy written in S. Y. 1711 at Vidyāpura (Vijāpur of Gujarāt) is lying in the collection of the late Muni Vicakṣaṇavijaya].
- 19. Samksipta Kādambarī-khathānaka—A brief summary of the plot of Kādambari in Gujarāti prose which furnishes a sample of Gujarāti prose of the beginning of Vikrama 18th Century (Published in Purātatva Vol. V, No. 4 pps. 244 to 257 from a MS. copy of 8 folios written in S. Y. 1747 at Pātan kept in Dāyarā Upāśraya Bhandār at Pālanpur).

We find, from his above works, the author was a voluminous writer—a lexicographer, grammarian and commentator. His original work is the present poem. Besides, he was a voracious reader, as is evident from several works composed by well-known authors copied and got copied by him. One of these by name $K\bar{a}mandakiya-N\bar{\imath}ti-s\bar{a}ra$ got copied in 39 folios by the author is found at the above-mentioned place at Vijāpur.

siddhi. Lolimba-Lolimbarāja is that of Vaidyajīvana. Kulapati; Bhagiratha, Yāges'vāra, Goi, Raghupati, Rāmajiṣṇu son of Harihara Koka (Harihara Koka may be Harihara quoted in S'ār. Paddhati) and Vankalāvartta remain to be traced. Kāvyaprakāśa is the famous work of Mammatācārya on poetics. Other works are yet to be found out.

IX. THE PRESENT WORK.

The present work is divided in 4 Chapters, each dealing with certain special events and hence all are not in sequence of time—one after the other. It is edited from a single MS. made available to me by my friend Mr. Agarchand Nāhatā of Bikaner from Jayacandra Yati's collection at Bikāner. The said ms contains 33 folios of 13 lines on its each side and measures 10½ inches in length and 4½ inches in width. It is written on somewhat rough and thick country paper. It was copied by Guṇacandra, a pupil of Devacandra and Vivekacandra—the latter two, pupils of Bhānucandra our hero and co-pupils of the author. The present text of this work seems to be somewhat incomplete as evidently appears from the absence of three following verses of Bhānucandragaṇi-Carita quoted by the author in his later work entitled Bhaktāmara-stotra-Vrtti while commenting on the 39th verse of the said stotra:—

वक्तुः शिरांसि श्रूराणां पतितानि महीतल्छे । जयश्रियो रक्तपङ्के पादन्यासोपलश्रमम् ॥ १ ॥ अधिमरिप यियासुभिः प्रविश्य, प्रतिभटमूर्धिनि कोऽपि दक्तपादः । फलमिह मनुजन्मनोपलन्धं यशिस रितिमईतां न देहिपिण्डे ॥ २ ॥ महित समरसंकटे भटोऽन्यः प्रतिभटनिर्दलनात्समाप्तशस्त्रः । अगणितमरणः प्रविश्य वेगादिरकरतः करवालमाचकर्षे ॥ ३ ॥

—इत्यसन्निर्मितमहोपाध्यायश्रीभानुचंद्रगणिचरित्रात्।

As no other manuscript of the work could be obtained, some errors are likely to have escaped notice in spite of utmost care taken and it is hoped the readers will excuse the same.

This is a historical composition. The authenticity of the incidents mentioned therein is proved as they are corroborated by independent and comtemporaneous authorities consulted and quoted by me. My thanks are due to my friends Messrs Ācārya and Mohanlāl Mehtā Advocates as well as to Mr. Mohanlāl Jhavery Solicitor for going through portions of my manuscript, and specially to Mr. Ratilāl J. Desāi M. A. for revising the same and Khānbāhadur Prof. M. S. Commissariat M. A. I. E. S. (Retired) for revising the Appendix II.

It is difficult for a student to obtain rare old books required for preparing a composition particularly on such an old historical subject. For enabling me to avail of the books necessary for the preparation of this introduction I am indebted to Seth Hiralal Amratlal B. A., Pandit Lalachandra B. Gandhi of Baroda Oriental Institute, D. B. Krisnalal M. Jhaveri, Mr. 'Kokil' and Bombay University Library.

Lastly, Sri Jinavijayaji, the learned and able General Editor, of the excellent Singhi Jaina Series deserves my gratitude for his prompting me to undertake the work of editing this work with an elaborate English introduction and Bābu Bahādur Singhji Singhī, is all the more to be thanked as he, a great lover of literature and culture, has utilised his wealth towards founding the present unique Series, in order to bring out many precious gems of Jaina literature.

THE LIST OF BOOKS MAINLY CONSULTED

I English.

- 1 Hīravijaya Suri or the Jainas at the Court of Akbar by C. (Chimanlā Dāhyābhāi Dalāl M. A.) in the Divāli issue of Jaina Śāsana Vīrāt 2437.
- 2 Ain-e-Akbari Vol. I translated by H. Blochman and Vols. II and III by H. S. Jarrett. (A. A.; Ai-Ak.)
- 3 Akbarnama Vols. I, II, III translated by Beveridge.
- 4 Al-Badāoni Vol. I translated by Ranking and Vol. II by W. H. Lowe. (Badāoni).
- 5 Akbar the Great Mogul by Vincent Smith.
- 6 The Jain Teachers of Akbar by Vincent Smith in Bhandarkar's Commemoration Volume.
- 7 Tuzuk-i-Jahāngīri or Memoirs of Jahāngīr translated by Rogers and Beveridge (T. J.)
- 8 History of Gujarat being Vol. I Part I of Gazeteer of the Bombay Presidency.
- 9 An Indian Ephemeris by Pillai.
- History of India as told by its own Historians by Elliot and Dawson Vols. V & VI.
- 11 History of Emperor Jahangir by Prof. Beniprasad.

II Sanskrit.

- 12 हीरसौभाग्य महाकाव्यं सटीक by देवविमल.
- 13 विजयप्रशस्ति कान्यं by हेमविजय, & टीका by गुणविजय in S. Y. 1688.
- 14 जगद्गुरकाव्यं by पद्मसागर.
- 15 कृपारसकोश by शान्तिचन्द्रउपाध्याय edited by श्री जिनविजय.
- 16 कर्मचन्दवंशोत्कीत्तनकं काव्यं by जयसोम उपाध्याय in S. Y. 1650, and टीका by गुणविनय उपाध्याय in S. Y. 1656.
- 17 विजयदेवस्रि माहात्म्यं by श्रीवह्नभ उपाध्याय edited by श्री जिनविजय.

III Gujarāti.

- 18 हीरविजय स्रिरास by ऋषभदास in S. Y. 1685 published in आनंद-काव्य-महोदिध Series Vol. V.
- 19 लाभोदयरास by दयाकुशल in S. Y. 1649.
- 20 कर्मचन्द्रप्रबन्ध by गुणविनय in S. Y. 1655.
- 21 विजयतिलकस्रिरास-अधिकार १ and २ by दर्शनविजय in S. Y. 1679 and 1697 embodied in ऐतिहासिकराससंप्रह Vol. IV.
- 22 प्राचीन जैन लेखसंप्रह Vol. II with inscriptions in Sanskrit by श्री जिनविजय.
- 23 जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास by me.
- 24 प्राचीन जैन तीर्थमालासंप्रह.
- 25 अकबर by बंकिमचंद्र लाहिं translated by सुशील.
- 26 सूरीश्वर अने सम्राट् by मुनि विद्याविजय (S. S.)
- 27 मीराते अहमदी translated by निझामखान नूरखान.
- 28 जैन गूर्जर कविओ Parts I, II & III by me (J. G. K.)

IV हिन्दी.

29 जहांगीरनामा by मुन्शी देवीप्रसाद (J. N.)

APPENDIX I

This contains the initial and final portions of available works of Bhānucandra and Siddhicandra and is appended with the text at its end.

APPENDIX II

Translations of Imperial Farmans granted by the Emperors Akbar and Jahangir.

1 Farmān of the Emperor Jalāl-ud-din Muhammad Akbar Shāh Bādshāh Gāzi ordering his officials not to allow slaughter of animals during 12 days of the Jaina *Paryuṣaṇa* festival. Dated 7th Jumād-ul-Sani 992 Hijri (6th June 1584 A. D.—1st Āṣādha Śukla 9th S. Y. 1641 Hindi.)

[When Sir John Malcolm was stationed in Mālvā as a political officer in the first quarter of the 19th century, he was shown Akbar's farmān to which he refers in his Memoirs of Central India (Ed. of 1832) II, pp. 163-4-5 footnote, (Ed. of 1880) II, pp. 135 and 136 n. to this effect:—'An application was made to me to prevent the slaying of animals during the Putchoosur, or twelve days which they hold sacred; and the original Firman of Akber (carefully kept by their high priest at Oojein) was sent for my perusal. The following is a literal translation of this curious document':—]

"In the name of God, God is great."

"Firman of the Emperor Julalo-deen-Mahomed Akber, Shah, Padshah, Ghazee.

"Be it known to the *Moottasuddies* of Mālwā, that as the whole of our desires consist in the performance of good actions, and our virtuous intentions are constantly directed to one object, that of delighting and gaining the hearts of our subjects, &c:

"We, on hearing mention made of persons of any religion or faith whatever who pass their lives in sanctity, employ their time in spiritual devotion and are alone intent on the contemplation of the Deity, shut our eyes on the external forms of their worship, and, considering only the intention of their hearts, we feel a powerful inclination to admit them to our association, from a wish to do what may be acceptable to the Deity. On this account, having heard of the extraordinary holiness and of the severe penances performed by Hirbujisoor (Hīra-Vijaya Sūri) and his disciples, who reside in Guzerat, and are lately come from thence, we ordered them to the presence, and they had been ennobled by having permission to kiss the abode of honour......

"After having received their dismissal and leave to proceed to their own country, they made the following request:—That if the King, the protector of the poor, would issue orders that during the twelve days of month Bhodon, called Putchoossur, (which are held by the Jains to be particularly holy), no cattle should be slaughtered in the cities where their tribe reside, they would thereby be exalted in the eyes of the world, the lives

of a number of living animals would be spared, and the actions of his Majesty would be acceptable to God; And as the persons who made this request came from a distance, and their wishes were not at variance with the ordinances of our religion, but on the contrary were similar in effect with those good works prescribed by the venerable and the holy Mussulman, we consented and gave orders that, during those twelve days called *Putchoossur*, no animal should be slaughtered.

"The present sunnud is to endure for ever, and all are enjoined to obey it, and use their endeavours that no one is molested in the performance of his religious ceremonies. Dated 7 th Jumad-ul Sani 992 Hejirah" (6th June 1584 A.D.) See p. 7.

2 Farmān of the Emperor Jalālu-d-din Muhammad Akbar ordering Azam Khān the Governor of Gujarāt, to see that Hīravijaya Sūri and other Jainas be respected and their temples and religious places allowed to be repaired or re-erected. Dated the 6th of Azār in the Ilāhi year 35, i. e. the 28th of Muharram Hijri year 999 (1591 A. D.)

God is great.

Farmān of Jalāl-ud-din Muhammad Akbar Bādshāh Gāzi.

"Be it known to Mubariz-ud-din Azam Khan, having received royal favours and being exalted with the honour of getting more gifts, who is the supporter of the great empire, loyal to the great kingdom, gifted with good temper and best virtues. strengthener of the invincible empire, trustworthy for the best empire and a typical model of Khans of high order, that in order that persons of different modes of conduct. adherents of particular and different faiths, civil and uncivil, small or great, prince or pauper, wise or unwise, persons of every order or type in this world,—every individual whereof is the place for the divine lustre to become manifest, and the real spot for the fate destined by the Creator of the world to unfold itself, as well as the reserved site full of wonders of the Mover of the creation,-may remain firm in their respective best paths and enjoying physical and mental happiness may remain occupied in daily worship and ceremonials and in achieving all their objects, and may pray that we may have long life from the Giver of excellent gifts, and that we may be urged to do good acts, because the perfect wisdom in raising one of mankind to the position of a king and clothing him with the garb of a leader lies in this way that he may keep before his eyes general kindness and great mercy which is the light of God's perfect mercy, and if he cannot attain friendship with all, at least he lays the foundation of peace with all and walks on a road of grace, love and mercy of all the servants of the Adorable and directing his attention on rendering help to all things created by God, who are the fruits of the creation of God the highest, may assist them in fulfilling their objects and in carrying out their usages and practices, so that the strong may not be able to persecute the weak and every man may be pleased and happy.

'Therefore, keeping in view of the genuineness of the yoga practices and search for God of Hīrvijay Sūri Sevdā (who is the best of those practising yoga) and of the followers of his faith, who have received the honour of presenting themselves before us, and who are real well-wishers of our Court, it is ordered that no inhabitant of that city should interfere with them, not should lodge in their temples and upāśrayas (resting-places) nor insult them. Besides if any (of their temples or upāśrayas) has fallen down or became dilapidated, and if any one among those respecting and liking him or desirous of giving in charity, desired to repair it or rebuild it, there should not be any restraint by any having superfluous knowledge or fanaticism. And as those who do not know God, level against those humble God-knowing men accusations of rain-stopping and such other acts which are in God's power, under the belief due to foolishness and stupidity that those are the result of some magic, and put them under many hardships, such misdeeds should not be repeated during your administration and protection as you are a man of good fortune and intellect. Besides, it is heard that Hāji Habibullāh101, who knows little of our quest for truth and realisation of God, has harmed this community, hence our pure mind, which manages the world, has been afflicted with pain; so you should remain so watchful over your riasat that none can persecute any one. The guiding principle of the present and future Hākems, Nawābs, and Mutasaddis administering in full or in part the riāsat on that side, is that they should consider the order of the king, which is another form of God's farman, as the means of bettering their position and should not act contrary to the same, and in doing so they should find happiness of the faith and the world and genuine renown. This farman should be read and after keeping its copy be supplied to them, in order that the same may prove to be a sannad for them for ever, and they may not feel concerned while doing their devotional cermonies, and may be inclined to be devoted to the contemplation of God. This should be taken as duty and no infringement thereof should be allowed to occur. Written on Khurdad, the sixth day of the month of Azar in the Ilahi year 35, corresponding to the 28th of the month Muharram in Hijri Year 999 (1591 A. D.)"

On the strength of the writing of Abul Fazl the humblest of murids (followers) and the record of Ibrahim Huasien.

[Translated by me from the Gujarāti rendering as published in the Appendix (3) of Sūrīšvara and Samrāt.]

3 Farmān of the Emperor Akbar, with the Nishan of Prince Salim, which confirms the former farmān prohibiting the slaughter of animals during nearly six months in the year, and orders his officers in Gujarāt and Sorath to see that Vijayasena Sūri and other Jainas be respected and their old temples and religious places be allowed to be repaired and rebuilt. Dated the 1st of Shaharyur Ilāhi Year 46, i. e. the 25th of Safar Hijri Year 1010 (August 14,1601).

¹⁰¹ Hāji Habibullāh—'Habibalo'—a powerful Khojā of Cambay who expelled Hīravijaya Sūri from Cambay-see S. S. pp. 188 to 191 and Akbarnāmā. III p. 207.

'God is great.'

Nishān of Abul Muzaffar Sultān [Shāh Salim Ghāzi].

At present the exalted Nishan has the honour by royal favour to be issued that the present and future Hākems (Governors), Jāgirdārs 102, Karoris (tax-gatherers) and mutasaddis (administrators) of the Subah of Gujarāt and the Sarkar of Sorath have been given the farman with the execllent and happy mark, prohibiting killing of cows, bullocks, she-buffaloes and he-buffaloes at any time and flaying them in the presence of Sevdas (Jaina monks) and on the reverse of the said excellent farman it is written that in every month during several specified days (described below), the noneating of the flesh of these should be enjoined. This should be considered as dutiful and proper. Also the hunting or encaging of those creatures who kept their nests in houses or on trees, should be carefully avoided. Moreover, it is written in the said farman, worth to be obeyed that Vijayasen Süri Sevdā, disciple of Hīrvijaya Süri, the best of those practising yoga, and the adherents to his faith, had the honour of being present at our court and were special well-wishers of our court, and that in view of the genuineness of their growing yoga practices and search for God, it was ordered that no one should put up in their temples or upāsrayas (resting-places) nor insult them, and if these (religious places) became too old and in consequece any of their followers, admirers or those doing charity repaired or rebuilt them, no one with superficial knowledge or fanaticism should prevent them (from doing so). And as those, who do not know God, level on those humble God-knowing men accusations of rain-stopping and such other acts, which are the acts of the Almighty, under the belief due to foolishness and stupidity that these are the result of some magic, and put them to hardships of many kinds, and stop them from performing their religious ceremonies, we ordain that imputations for such acts should not be levelled against those humble men and they should be freely allowed to devote themselves to God at their quarters and resting places and to perform ceremonies in accordance with their religion.

Hence the said excellent farman should be carried out and strict warning be given that the same be executed in the best manner and none should pass any order contrary to the same. (Everybody) should consider it as his duty and should not excuse it and should not act against it. Dated the 1st of the month Shaharyur Ilāhi Year 46, corresponding with the 25th of the month Safar Hijri Year 1010 (Hindi S. Y. 1658 Bhādrapad Vadi I2th—14th August 1601 A. D.)

Details on the reverse

The month of Farvardin, days during which the sun passes from one zodiac to another, Mehr day, Sundays in every month, the day which intervenes between two days of Sūfiā, Mondays in the month Rajab, the month Abān which is the birth-month of the

¹⁰² Jägirdärs—"The higher mansabdärs were mostly governors of Subähs. The governors were at first called Sipahsälärs: towards the end of Akbar's reign we find them called Hākims, and afterwards, Sāhib Sūbah or Sūbahdars, and still later merely Sūbahs. The other mansabdärs held jägirs, which after the time of Akbar were frequently changed." Ain-Ak. I, p. 241-42.

Emperor, the first day of every Shamshi month known by the name of Hormaz, and the twelve sacred days, viz., the last six days of the month of Śrāvan and the first six days of the month of Bhādarvā." (See p. 8).

This copy of the Nishān-i-Alishān is as per the original.

(In the Seal only the name of Kāzi Khān Muhammad is legible)

(Another seal has the words 'Akbar Shāh murid-jādā Dārāb'108)

[Translated by me from a Gujarāti rendering as published in the Appendix (w) in Surīshwar and Samrat]

4 Farmān of the Emperor Jalāl-ud-din Muhammad Akbar ordering prohibition of animal-slaughter for additional 7 days from Āṣādha Śukla 9th to 15th every year at the request of Kharatarācārya Jinacandra Sūri, renewed at the request of Jinasimha Suri on the 31st Khurdād Ilāhi Year 49 of the accession (1604 A. D.).

"Farmān of Jalālu-d-din Muhammad Akbar Bādshā Gāzi"

"Be it known to the exalted Governors, Jāgirdārs, Karoris, and all Mutasaddis (administrators) of Multan Subah that it is our eternal desire that all men and animals get happiness, whereby all people living peacefully and free from anxiety continue to devote themselves to the contemplation of God. Before this time, (our) well-wisher, Jayacand (Jinacandra) Kharatar had remained in our service (presence), and when his devotion to God became manifest, we made him to participate in our great royal favours. He prayed that before him Hīravijay Sūri had the honour of having an audience and requested that for twelve days every year, no animal should be killed in the Imperial territories and none should harm any bird, fish or other creaturas; his prayer had been granted. He also hoped that for one week more a similar order be made for this well-wisher.' Thereupon, we made the order by virtue of our general mercy that during the days from Asad Sukla ninth to Purnamasi each year, no animal should be killed and no man should harass any being. The real point is this: when God has created for a human being things of various kinds, he should not harm any animal nor make his stomach the grave of animals; but with some objects former intellectual men have prescribed in that way. At this time Acharya Jinasimh alias Mansinh got an application made that the farman which we had made 104 was lost, hence we have granted the new farman in accordance with the old farman. It is required that the order should be put into force in the same way as the document was given in writing. In this respect this should serve

¹⁰³ Dārāb—his full name was Mirzā Dārāb Khān and he was a son of Abdur Rahim Khān Khānān, son of Bairām Khān, see Ain. Ak. I p. 339. Murid-jādā means a son of the follower (of Akbar).

¹⁰⁴ It was dated Shaharyur 4th month Mahar Ilāhi year 37 (1593 A.D.) as published on p. 306 of Yugapradhāna S'ri Jinacandra Sūri.

as an order with strict warning and with such force that no alteration should be allowed to exist in its terms. Dated the 31st Khurdād Ilāhi Year 49 (1604 A. D.).

Written at the despatch of the order to Daulatkhān who remains with Hajrat Emperor, in the Chouki of Rāi Manohar the noble Amir and assistant and at the newswriting period of Khvājā Lālchand. (See p. 12)

[Translated by me from the Hindi rendering made by the late Munshi Devipra-sādji as published in the Hindi monthly Sarasvati, XIII, no. 6 of June 1912, p. 293, and reproduced in the introduction of Kṛpārasakośa at p. 32, in Jaina Yuga, V, p. 478, and in Yugapradhāna S'ri Jinacandra Sūri at p. 278.]

Farmān of Abul Muzaffar Sultān Shāh Salim Gāzi (afterwards Emperor Jahāngir) confirming the farmān of Akbar prohibiting slaughter of animals during nearly six months in a year and making the oart at Unā tax-free. Dated the 14th of Shehrivar Ilāhi year 55 (? 50—A. D. 1610? 1605).

'God is great'.

Farmān of Abul Muzaffar Sultān Shāh Salim Gāzi obeyed by the world.

'Be it known to those issuing orders relating to important affairs, those executing those orders, their clerks and the present and future Mutasaddis......and others and particularly those of Sorath Sarkār, having received and further expecting royal favours, that whereas Bhānucandra Yati and Siddhicandra Yati-the holder of the title 'Khushfaham', made an humble representation to us that 'the Jazyā, toll, the slaughter of animals, viz. cows, she-buffaloes, he-buffaloes and bullocks, killing of other animals on specified days of each month, confiscation of the property of the dead, taking people as captives, and the poll-tax on the pilgrims visiting mount Satrunjaya exacted in Sorath Sarkār—all these had been abolished and prohibited by Alā Hazrat (the Emperor Akbar). And as we are perfectly kind to all people, we have also prohibited (slaughter of animals) as per below-written list after adding to it one more month at the end whereof our birth took place—they (the officers) should carry out this our best order and should not deviate from or go against it.

And Vijayasena Sūri and Vijayadeva Sūri who are there (in Gujarāt) should be properly attended for, and Bhānucandra and Siddhicandra after they return there should be properly looked after, and whatever thing they may represent to be done, should be done perfectly, so that they may remain occupied in praying for the permanency of the victorions kingdom with happy mind.

Further, there is in the pargana of Unā an oart wherein the footsteps of their teacher Hīrji have been located; it should be considered as free from taxes, etc. as per old custom, and no interference or impediment should be offered in respect thereof.

Written on the 14th day of the month Shehrivar in the Ilāhi year 55th(?)¹⁰⁵ (Hindi S. Y. 1667 Aso Vadi 4—A. D. 1610 August 28th).

Details as under

"The month Farvardin, days during which the Sun goes from one zodiac to another, Id day, Mehr days, Sundays of every month, the day coming between two days of Sufiā, Monday of the month Rajab, the birth-month of the Emperor Akbar called Ābān month, the first day of every Shamshi (Solar) month called Ormaz day, twelve sacred days, viz., last six days of the month Śrāvaṇa and first six days of Bhādarvā".

The copy is as per original. (1) Seal is not legible. (2) Seal in which Kāzi Abdussami's¹⁰⁵ name appears. (3) Seal in which Kāzi Khān Muhammad's name appears; other words are illegible."

(Translated by me from a Gujarāti rendering as published in the Appendix (a) in Sūrīšvara and Samrāt)

Farmān of the Emperor Nur-ud-din Muhammad Jahāngir to Vivekaharşa and Paramānanda ordering his officers to allow repairs to and re-erection of their temples and resting-places; also to allow them to visit their Satrunjaya Tirtha tax-free, and prohibiting animal-slaughter on certain specified days. Dated the month of Yar(?) in the 3rd year of the accession (1608 A. D.).



¹⁰⁵ This year is doubtful and seems to be inaccurate. The correct year should be probably 50th (i. e. Hindi S. Y. 1662 and A. D. 1605), i. e. just before the death of Akbar, when 'an order was given that the *Diwāns* should manage the affairs of the Kingdom in accordance with the advice of Prince Sultān Salim, and that his seal should be affixed to the grants of the officer's mansab'.—Akbarnāmā III, p. 1257.

¹⁰⁶ Kāzi Abdussami—see Aine Akbari I, p. 545 no. 112

Be it known to the noble Governors and the Officers (who by) thriftiness (bring about) prosperity, and the Jagirdars and tax gatherers and the accountants connected with the important affairs and all (those) having to do with the protected territories especially of the Soobah of Gujarat that: -Whereas, the heart of him, who knows his duty (and is) truly a well-wisher of the creatures of God, namey, of every Section and Community, is occupied with and takes an interest in the prosperity of all creatures, therefore at present Bekah Harakh and Parmanand Jatis 108 having presented themselves in the presence of the protector of creatures, made a representation to those who were standing at the foot of the throne as follows:—(That as) Bāji Sen Soor (Vijayasena Sūri) and Bāji Dev Soor (Vijayadeva Sūri) and Khushfaham Nand Bāji Paran (Nandivijaya Pannyāsa) have temples and Dharamshālās in every place and every town and are engaged in (the practice of) austerity and devotion and seeking after God. And whereas the circumstances relative to the devotional exercises and meditating on God of the abovementioned Bekah Harakh and Parmanand Jatis became known (to us), thereupon the order of the King of the world (and) the nations was issued as follows:—"No one shall put up in the temples and Dharamshālās of that ommunity and no one shall enter into them without permission. And should they wish to rebuild them, no one shall oppose them. And no one shall alight at the houses of their disciples. And should (they go) to the holy place (Tirath of) Satrunjaya in the country of Sorath for the purpose of worshipping, no one shall ask and demand from them (any thing)". And further in accordance with the representation and request of those men, (His Majesty's) exalted order was issued that on Sunday and Thursday in every week, and the day of new moon of every month and the days of feasts and every new year's day and in the month of Navroj and one day in the month of Yar Mah on which blessed (day) we were weighed 100 for governing the permanent Kingdom shall be observed year after year as long as the years of our permanent Kingdom shall pass on .- On those days there shall be no killing of animals in (our) protected Kingdom; and no one on that day shall hunt and catch and kill birds and fish and such like. It is necessary that paying attention to the abovementioned order they shall not deviate and go astray, in respect of its being carried out and becoming permanent. This shall be considered as (their) duty. Dated the month of Yar in the year 3.

(Sd.) FLYNN,
(Chief Translator, High Court, Bombay).
26th June, 1875.

A true translation.

GOOLAM MOHAIDEEN

Translator.

(From 'Memorial of Sheth Āṇandji Kalyānji...re the Shatrunjaya Hill'-with slight necessary alterations by me)

¹⁰⁷ Bekah Harakh—Vivekaharsa—originally pupil of Harsananda, pupil of Śripati, pupil of Anandavimala Sūri, and then a pupil obedient to the commands of Vijayasena Sūri. See p. 20 and footnote no. 19.

Parmānand—originally a pupil of Harṣānanda and then under the command of Vijayasena Sūri; author of Hīravijaya Sūri Nirvāṇa in Gujarāti in S. Y. 1652 and Vijaya Cintāmaṇi Stotra or Nānādeṣadeṣibhāṣāmaya Stavana before S. Y. 1671 (see J. G. K. I, pp. 310 and 480).

¹⁰⁹ Moaning that His Majesty was weighed on that day against gold, silver, etc.

Farmān of the Emperor Nur-ud-din Jahāngir ordering his officials throughout the Empire not to allow slaughter of animals during 12 days of the Jaina Pāryuṣaṇa festival. Dated the 26th of Farvardin in the 5th year of the accession (1610 A. D.).

God is great

Copy of the Farman as issued on 26th day of the month Farvardin in the 5th year.

"Be it known to the noble Governors, worthy Divans, officers of civil important affairs, administrators of the state affairs, Jāgirdārs and tax-gatherers of all the protected territories that: - Whereas our just intention, over and above our object of conquering the world, is occupied in pleasing God, and the full purpose of our intention is announced to be for pleasing the whole world which has been created by God, and specially (we) direct our attention to satisfy those who are possessed of pure thoughts and saints whose object of life centres in the quest of truth and the attainment of Godhood, therefore at present Bekah Harakh (Vivekaharşa), Parmānand, Mahānand and Udai-Harakh (Udayaharşa), who are pupils of Tapā Jatis Bajisen Soor (Vijayasena Süri) Bajideb Soor (Vijayadeva Sūri) and Nand Baji (Nandivijaya), who is the holder of the title of 'Khushfaham', presented themselves before us and made representation and request to the effect:—'If during our holy twelve days—the days of Bhadarva Pajusan (Paryusana), there be no slaughter of animals of any kind in the slaughter-houses in all Your Majesty's protected Kingdom, we shall have reason for being honoured, and many animals will be saved by Your Majesty's high and holy order and its good reward will accrue to Your Majesty's pure and happy Kingdom.'

"And as we have directed our royal merciful attention towards encouraging the objects and actions of every caste and creed, rather towards making every creature happy, we consented and issued our Jahāngīri order accepted and acceptable by the world, that during these twelve days each year, no animal should be slaughtered in the places of killing in all our protected territories, and no preparation (even) for such an act should be made. Besides no new order or sanad in respect thereof should be requisitioned.

"They (i. e. the officers) should carry out the present order and should not deviate from or go against the farman. They should consider it as (their) duty.

From the writing of the humblest Abul Khair¹¹⁰ and from the record of Muhammad Said.¹¹¹ (See p. 20).

Seal is not legible.

[Translated by me from a Gujarāti translation given in S. S. Appendix (4)].

¹¹⁰ Abul Khair—a younger brother of Abul Fazl (see Darbāri-Akbari pp. 355 and 326 and Aine Akbari, I, Introduction p. 33, Abul Fazl's Biography).

¹¹¹ Muhammad Said—son of Shujāata Khān Shādibeg and then adopted son of Śaikh Farid (see Aine Akbari I, pp. 416 and 481).

8 Farmān of the Emperor Nur-ud-din Jahāngir making a permanent grant of ten bighās of land in Akbarpur near Cambay to Chandu Sanghavi. Dated the 17th of the Ilāhi month of Asfandarmuz in the 10th year of the accession (1615 A. D.).

God is great

Farmān of Nur-ud-din Muhammad Jahāngir Bādshāh-i-Gāzi.

Copy of the farman dated the 17th of Rajab-ul-murajjab Hijri year 1024.

'Whereas the present is an important occasion for announcing and giving publicity to this grand farmān, it is ordered that land admeasuring ten bighās situate in the village Muhammadpur (Akbarpur) in the Chorāsi Pargaṇā near Khambhāt is granted in jāgir as 'Madad-i-maāsh' permanently from the beginning of its crops—from the season of Tawishkan-il to Chandu Sanghavi¹¹² as per undermentioned terms, so that he may make use of the income from its every crops and every year in defraying his expenses and he may continue to pray for the permanence of the eternal Empire.

The present officers, patvāries, jāgirdārs and thekedārs of goods are required that they should endeavour to always execute this holy and exalted order. The parts of the above written land should be measured and its boundaries should be ascertained and the same should be granted to Chandu Sanghavi. No change or alteration of any kind should be made therein. No trouble should be given to him. No demand should be made of him for dues of any kind—as for example costs for preparing the deed of grant, nazrānā, costs of measurement, costs of giving possession of land, registration charges, patvār fund, charges of Tahsildār and Dāroga, begār, hunting and village expenses, costs of numbering, fees for Jaildāri at 2 Rs. per cent, Kanugo fees, ordinary annual charges for some special work, fees exacted at the time of ploughing, and this land is made free from all such divāni sultāni exactions for ever. There should be no necessity for a new order of directione very year with regard to this. The order which is (hereby) given should not be infringed. All should consider it as their duty

¹¹² Chandu Sanghavi may be probably Sanghapati Chandrapāla of Āgrā who in S. Y. 1667 consecrated installation of the two idols of Sumatinātha—one of them being as of the principal deity (Mūlanāyaka) as per inscriptions thereon:—

१ श्री आगरानगर वास्तव्य संघपित श्री चंद्रपालेन प्रतिष्ठा कारिता ॥ सं०.१६६७ वर्षे माघसित ६ ग्रुरी ओसवाल्जातीय जडीआ गोत्रजन्म सा० केसा पुत्र सा० जमु पुत्र सा० नानू पुत्र सा० सूर्य पुत्र सा० रुडमहोन [मातृ पाटमदे] भार्या मुलादे सक्तादे पुत्र सा० जीनदास भाईदास पौत्र परतापर्सिंघ खुषा जीणादे प्रमुख कुढंबयुतेन श्री सुमतिनाथ विंबं महोपाध्याय श्री विवेकहर्ष गणिनामुप देशात् कारितं प्रतिष्ठितं श्री तपा गच्छेन्द्र भट्टारक श्री विजयसेनस्रिभिः।

२ श्री आगरानगर वास्तन्य सं. श्री चंद्रपालेन प्रतिष्ठा कारिता ॥ सं० १६६७ वर्षे माघसित ६ उ० ज्ञा० जंडिआ सं० होला पुत्र सं० पूरणमञ्ज पुत्र सं. चंद्रपाल पुत्र सं० राजा भार्या राजलदेव्या श्री सुमितनाथ वि० उ० विवेकहर्षे गण्युपदेशात् का० प्रतिष्ठितं श्री तपा गच्छाधिराज भट्टारक श्री विजयसेनस्रिभिः ।

⁽See Jaina Satyaprakāśa II, p. 508)—Further see Nāhar Inscriptions nos. 322 and 1453. In the above inscription no. 2 Sanghapati Candrapāla's father and grandfather's names given are Pūraṇamalla and Holā while they do not quite resemble those incorrect names of Chandu Sanghavi's father and grandfather as are given on the reverse of this farmān.

due to the government. Dated the 17th of Asfandārmuz—Ilāhi month in the 10th year of the accesion (1615 A. D.).

The Reverse of the farman issued by Jahangir granting permanently land near Cambay to Chandu Sanghavi.

Dated the 21st day of Amardad—Ilahi in the 10th year of the accession—corresponding with the 17th day of Rajab-ul-murajjab Hijri Year 1024, Thursday.

Whereas on account of the dispatch made by Sayyad Ahmad Kādri, the mainstay of perfection and excellence and a truthful and learned man, on account of the support of Jogi a modern Jalinus (a great physician) and a modern Jesus Christ, on the introduction made by Subahan a benevolent magnate of the present times, and at the recommendation of Isahāk an humble disciple and a recorder, Chandu Sanghavi, his father being Boru (?), and grandfather being Vajivan (?), an inhabitant of Agra, and a Sayajavam (follower of Svetāmbari Jaina monks), with forehead broad, eye-brows extended, eyes like those of a ram, colour dark, beard shaved, face with several smallpox spots (and) ears with holes at several parts thereof, of modarate height and of nearly 60 years of age, made a present of a ring set with one precious stone before the noble eyes of the Emperor and prayed that land admeasuring ten bighas in the village Akbarpur be granted for the purpose of making thereon a temple of the deceased teacher Vijayasena Sūri, a garden, a fair and a memorial in honour of him. Thereupon an order, shining like rays of the sun and worth being obeyed by the world, was passed that Chandu Sanghavi be granted a plot of agricultural land admeasuring ten bighās at Akbarpur in Chorāsi pargaņā which is near Cambay as a jāgir known as madad-i-maāsh. This is written after ascertaining it in accordance with the order. In the margin it is stated 'the writer is right'.

Order of Itimād-ud-daulāh¹¹² who is Jumlat-ul mulk Madār-ul-mahām-"Let the Application be made again".

Mukhliskhan¹¹², who is worthy of being favoured, made an application for the second time to the Emperor (again this document is being produced). Dated the 21st day of the month Yār Ilāhi, in the 10th year of the accession.

Order of the Jumalut-ul-mulk Madar-ul-maham—'the order be reduced to writing from the beginning of Kharif—Noshkaneil'.

Order of the Jumalut-ul-mulk Madār-ul-mahām-'the application in a proper form be made'.

¹¹² Itimād-ud-daulāh—His real name was Mirzā Ghiāsuddin Muhammad. and short name Ghiās Beg—see Aine Ak. p. 508 (no. 319), and 512 and Tuzuk, I, pp. 22 and n. 2, 57, 122, 199, 200, 249, 264, 278, 280-1, 318, 326, 374, & 368. Mukhlis Khān, one of the confidential servants of the court of Jahangir-see Tuzuk. I, p. 306.

Final order of the Jumalut-ul-mulk Madār-ul-mahām is "this (Chandu Sanghavi) be exempted from (tax) in the village Muhammadpur."

The seal is illegible. This copy is true as per the original.

[Translated by me from the Hindi rendering as published in the appendix (4) of Súrīsvara and Samrāt.]

9 Farmān of the Emperor Nur-ud-din Jahāngir ordering his officials throughout the Empire to allow complete freedom of worship to the monks (jatis) of the Jain community. Dated the 2nd of the Ilāhi month of Amardād in the 11th year of the accession (July, 1616).

(Tughra) The Farmān of Abul Muzaffar Nur-ud-din Muhammad Jahāngir Bādshāh-i
-Ghāzi.

(Seal) Nur-ud-din Muhammad Jahangir Badshah-i-Ghazi (in the inner circle).

"Since Bikhe Hārkhe (Vivekaharşa), and Jayanand Jati, the disciples (chelā) of Baji Dev (Vijayadeva) Sūri and of Nandji (Nandivljaya) presented themselves before the auspicious presence with a request, and begged for an august Farman in favour of the monks of the Jain community (jamāt), who are virtuous and have no other business except the worship and adoration of God, this Jahangiri (royal) order, which is obeyed by the world and which it is necessary to follow, obtained the dignity of being issued and the honour of being published, to the effect that the noble officers, and the efficient functionaries, and the jagirdars, and the mutasaddis, and administrators of the royal affairs and transactions of all the Protected Dominions (i. e. Empire), should not interfare with or obstruct in any way the practices of this community, and should allow them to attend to their worship and devotion and the adoration of God (yazdan parashti) in perfect peace of mind, so that they may continue to pray for the permanence of the holy, exalted and auspicious Empire, as also for the augmentation of the royal dignity and glory and of the eternal kingdom. They (i. e., the officers) should not go against or deviate from this order, and they should consider it as urgent. Written on the second day of Amardad Mah-i-Ilahi in the 11th year of the accession (July, 1616)."

Translation of the reverse of the Farman issued by Jahangir granting freedom of worship to the Jaina monks (jatis) throughout the Empire¹¹³.

"The subject-matter of the orders in favour of Bikhe Harkhe and others in accordance with the Selection from the Diary (yad-dasht) for the 24th of the month

¹¹³ Prof. Muhammad Shafi, Principal of the Oriental College and University Professor of Arabic at Lahore, has kindly helped in the decipherment and translation of these memoranda on the reverse of Jahangir's Farman, which are written in the Shikastah script.

of Bahman in the Ilāhi year 10, corresponding to Saturday, the 24th of the month of Muharram-al-Harām, 1025 H. (Feb. 2, 1616), during the *chauki*¹¹⁴ of him who is worthy of favour, mercy and kindness, Khwājā Ibrāhim Husain¹¹⁵, through the mediation of Azamat Khān¹¹⁶, who is worthy of favour and kindness, and during the waqinavisi of the slave of the court Abdul Wasi, to this effect:

Bikhe Harkhe (Vivekaharşa), Jayānand Jati, the disciple of Bajidev (Vijayadeva) Sūr and of Nandji (Nandivijayaji), appeared before the exalted and holy presence in the Ghusal Khānā¹¹⁷ on the 22nd of Dai Ilāhi year 10, and an order obeyed by the world and brilliant like the sun was given: that the Jatis who are Jains are virtuous and have no other business except worship; Having carefully considered and weighed matters, they (the officers) should not harm this class of persons so that they may be engaged in worship with perfect peace of mind and may devote themselves to prayers for the permanence of the everlasting Empire.

Sharh (endorsement): In granting this request the exalted order was to the effect that having carefully understood and weighed the fact that he Jatis are a class of men who are certainly virtuous, they should be left to themselves so that they are virtuous and have no other business except worship. Having carefully considered and weighed matters, they may devote themselves to worship and be engaged in prayers for the permanence of the everlasting Empire. Written in accordance with the Yad-dasht.

(Sharh of the Waqinavis is his own hand): The above is correctly stated.

(Another Sharh in the hand of Jumlat-ul-Mulki Madār-ul-Mahami Itimad-ud-Daulat)¹¹⁸: Let it be submitted again.

- 114 Chauki means here the period of duty of the commandant of the mounted guard at the palace. Two officers, viz., the Mir'Arz and the commandant, were, day and night, in attendance at the palace ready to execute any orders His Majesty may issue. For Abul Fazl's account of the rules about mounting guard, see Blochmann's Ain, I, 257. [vide also Akbarnāmā III p. 207]
- 115 This is probably the same Ibrahim Husain who is mentioned by Jahāngir in his Memoirs as the Mir Bahr and as the Bakhshi of the ahadis (? Bakhshi of the Subah of the Deccan) and as one of his most trusted attendants (Tuzuk-i-Jahāngiri, trans. by Rogers and Beveridge, I, 149, 257-8).
- 116 Azamat Khān was one of Jahāngir's nobles who is mentioned in the *Memoirs* as having been sent with 3,000 Rupees, during the Imperial stay at Ahmedābād in 1618, to the tomb of Shaikh Ahmad Khattu at Sarkhej where the money was to be distributed among the faqirs and indigent people (*Tuzuk*, I, 432).
- 117 The term Ghusal Khānā, though it meant originally the royal bathroom, came to signify under Jahāngir the private chamber in the palace adjoining the bath-room where the Diwan or the Bakhshi and a few trusted nobles were admitted to see the Emperor transacting state-business. Shāh Jahān gave the chamber the name of Daulat Khāna-i-Khās (Ibn Hasan The Central Structure of the Mughal Empire, 77-78).
- 118 This is no doubt the father of the famous Nur Jahan, who was at one time Vazir of the Empire.

(Sharh in the hand of Muqarrab-ul-Muqarrab-us-Sultāni Diyānat Khān¹¹⁹ to the following effect): On the 22nd of Ardibihist Ilāhi year 11, corresponding to Wednesday, the 24th Rabi-us-Sani of the year (?), in the waqinavisi of Muhammad Husain Khushnavis, it was again submitted and confirmed.

(Sharh in the hand of Jumlat-ul-Mulki Madār-ul-Mahami Itimad-ud-Daulah): All the officers of Ahmadābād and the parganās were informed.

(Sharh in the hand of Jumlat-ul-Mulk): Let the farman be put in writing.

Written to all the officials of the realm.

[The small seals on the margins of the document read as follows: (a) Dated the 15th of the month of Amardad, year 11: the servant Asaf Khan, and (b) Banmali Ram Rai, the slave of Jahangir, the country-conquering king].

[Notes—Jahāngir evidently held his court at Ajmer when, as stated on the reverse of the Farmān, he gave the interview in the Ghusal Khānā on the 22nd of the month of Dai in the tenth year of the reign (Feb. 2, 1616) to the leaders of the Jaina religion. In the record for the tenth Julus year in the Tuzuk he says: 'On the 7th month of Dai, when I was coming from Pushkar and returning to Ajmer, on the way forty—two wild pigs were taken' (Rogers and Beveridge, I, 304). He would thus have arrived at Ajmer on the 22nd of the month of Dai. The Farmān itself is dated the 22nd of Amardād in the eleventh year of the accession (July, 1616) which shows that an interval of about six months elapsed between the recording of the order at Ajmer in the Diary and the issue of the Farmān in its final form. This delay was partly due, no doubt, to the Emperor's absence from his capital.

Vijayadeva Sūri was the disciple of Vijayasena Sūri, who became the Pontiff of the Tapā Gachha on the death of Hīravijaya Sūri. He received dīkshā at Ahmedābād in V. S. 1643 and became an Ācārya in V. S. 1656. In V. S. 1674 (A. D. I618) he waited on Jahāngir at Māndu. Under the influence of his teaching, the Mahārāja Jagatsingh of Udaipur prohibited fishing in the Pinchholā and Udayasāgar lakes, as also the slaughter of animals on the anniversary days of his accession. Similarly, under his advice, Jām Lākhā of Nawānagar, Rāo Kalyānmal of Idar and the Portuguese at Div imposed restrictions on the slaughter of animals. He died at Unā in Kathiawar in A. D. 1657-8 (Surishwara and Samrat, 384n, 385n).]

[Reproduced with its footnotes and notes from K. B. M. S. Commissariat's article entitled 'Imperial Mughal Farmāns in Gujarāt' published in the Journal of the University of Bombay Vol. IX, Part I July 1940].

¹¹⁹ Diyanat Khan is also mentioned in the Memoirs as a very trusted noble under Jahangri (Tuzuk, I, 123, 260, 331).

10 Farmān of the Emperor Jahāngir in the form of a sealed letter written to Vijayadeva Sūri in a friendly way, asking him to pray for the permanence of his Empire. Dated the 19th of the month Shābān Hijri year 1027 (1st August 1618 A. D.—Bhādarvā Vadi 6th S. Y. 1675 Hindi).

Be it known to Vijayadeva Sūri who discerns the right and practises yoga and who had obtained our special favour:—'as I had seen you at Pattan (Māndu-Māndavgadh), I constantly inquire for the news about you; and am sure that you would also be free from breaking connection with us as a true friend. At the present time your disciple Dayākuśala Pannyāsa¹²⁰ presented himself before us; the news about you has been learnt from him; we are (thereby) very much pleased. Your disciple is also much experienced and possessed of logical faculty. We treat him with perfect kindness and whatever he says is being done. If there be any work here, you will write it to your disciple (so that) the same be known by us (directly through him) and the same will receive our attention in every way. You will remain free from anxiety from us and will be engaged in praying for the permanence of our Kingdom by worshipping those who are worthy to be worshipped. Nothing more remains to be written. Written on the 19th of the month Shābān in the year 1027 (Saturday 1st August 1618 A. D.). See p. 32.

The seal contains the words "Shāh Navāz Khān 121, murid (follower) of Jahāngir."

[Translated by me from a Gujarāti rendering published in the Appendix (&) of S. S.]

N. B. It is not known whether the original of the Farmān no. 1 is extant or where it is to be found at present. It is probably somewhere in Ujjain in Malwa in Jain custody. As to the originals of the Farmāns nos. 2, 3, 5, 7, 8, and 10, they were found some years back in the collection of old books then located in the Sāgara Upāśraya at Sāgotāpāda, Cambay by Muni Vidyāvijaya, transcripts whereof are printed as Appendices to his Gujarāti work entitled Suriśvara and Samrāt; they are still extant and are probably in the possession of the said Muni. The original of the Farmān no. 4 was seen in the Kharatara Gaccha's old library at Lucknow by the late Vijayadharma Sūri in S. Y. 1968 and is probably still there or in the said Sūri's bhandār at Āgrā; The original of the Farman no. 6 is now in the possession of the firm of Sheth Āṇandji Kalyāṇji at Ahmedabad, a fascimile of the same being reproduced in the printed 'Memorial' referred to above. Farmān no. 9 is reproduced by K. B. M. S. Commissariat in facsimile Plate I of his article in the Journal of the University of Bombay, and the original is in the possessoin of Sheth Kasturbhāi Manibhāi Nagarsheth of Ahmedābād.

¹²⁰ Dayākuśala—pupil of Kalyāṇakuśala pupil of Hīravijaya Sūri, and under the command of Vijayadeva Sūri at the time when he was the head of the Tapā Gaccha. See p. 22 and J. G. K, I, p. 296 and III, p. 797.

¹²¹ Shāh Navāz Khān—see Aine Akbari I pp. 339-341 and 491 (no. 255) and Darbār-i-Akbari pp. 642 to 644. His name was Iraj, eldest son of the Khankhanan who was dignified by Jahāngir with the tltle of Shāh-nawāz Khān. See Tuzuk-i-Jahāngiri (Rogers) I p. 197 and pp. 21, 180, 190, 192, 204, 221, 234, 243, 295, & 313.

Index of Proper Names and Terms.

[The figure shows page number; n. = footnote and its figure indicates number of the footnote of the Introduction.]

 ${f A}$ bhirāmābād (Ebrāhimābād) 8. Abdullā Khān Bahādur Firāz Jang n. 82, n. 84. Abdullā Khān Uzbeg n. 67. Abdussami Kāzi 83, n. 106. Abdullāh Biluc n. 37. Abhaya 40, n. 56. Abhayadharma 65. Abiya Kāshmīrī n. 37. Aboo Sayed 83. Abu n. 78, 68. Abul Fazal (The Saikh) 2, n. 3, 4, 5, 6, 7, 9, 10, 15, 24, n. 22, n. 23, n. 24, n. 25, 27, 28, 32, 33, n. 40, 34, 36, 37, 42, 79, n. 110, n. 114, see Shaikh. Abdul Khair 85, n. 110. Acārya 11, 14, 32. Adil Shāh n. 96. Ādinātha n. 91 Adinātha Temple 8. Advaita-siddhi n. 100. Affat Bānu n. 37 Agamodaya Samiti 67, 71. Agrā (Ugrasenapura) 6, 8, 20, n. 19, 22, 23, n. 21, 25, 26, n. 29, 43, n. 62, n. 63, n. 67, 45, n. 74, 51, 52, n. 85, 58, n. 90, 60, n. 94, 65, n. 112. Ahimmanagar 66 Ahmedābād 6, n. 6, n. 12, 18, 24, n. 27, 26, n. 43, n. 44, 48, n. 76, n. 77, n. 82, 61, n. 93, 62, n. 97, 63, 68, 70, n. 116, 90.

Ahmednagar n. 66, n. 67. Aine Akbari 2, n. 1, n. 2, 5, n. 18, n. 20, n. 23, n. 24, n. 27, n. 28, n. 29, n. 34, n. 35, n. 41, n. 43, n. 44, n. 46, n. 54, n. 64, n. 65, n. 70, n. 72, n. 88, n. 102, n. 106, n. 110, n. 111, n. 114, n. 121. Ajam Khān-Khān-i Azam-Mirza $\mathbf{A}\mathbf{j}\mathbf{i}\mathbf{z}$ Kokāh Khān Azam 35, n. 44, n. 70, n. 82, Azam Khān 78. Ajaya (Jaya) rāj 45. Ajita-sānti 67,-Ajia-santi 74. Ajiz Kokāh-Kokaltāsh Mirza 11, n. 12 Aziz Kokā 29, n. 34, 46, n. 70, n. 78, Aziz Kokā 29, n. 34, n. 82. Ajmere n. 22, n. 89, n. 90, n. 94, n. 96, 65, 90. Akbar (The Emperor) 1, 2, 3, 4, 5, 9, 10, 11, 12, 13, 14, 15, 16, 19, 20, 22, 23, n. 22, n. 23, n. 24, 25, 26, 28, 29, n. 34, 30, 31, n. 37, n. 38, 32, 33, 34, 35, 36, 37, 38, 39, n. 54, 40, 41, 42, n. 59, 43, 44, n. 65, n. 67, 45, n. 69, 46, 47, n. 76, n. 82, 59, n. 93, 69, 77, 78, 79, n. 102, 81, 82, 83, n. 105. Akbarnāmā n. 14, n. 24, n. 26, n. 35, n. 37, 33, n. 46, n. 59, n. 60, n. 63, n. 72, n. 101, n. 105, n. 114. Akbarpur 87.

Akbar-the Great Mogul (Akbar) 9, 10, 15, 17, n. 24, 33, 34, n. 59, n. 67. Akṣayarāja-Akheraj II n.95. Akhyātavāda-tīkā 72. Al Badaoni n. 3, 4, n. 29. Ali Quli Istajlu n. 86. Allāhābād 8, n. 73, n. 74. Amaracandra 73. Amaracandra 68, 69. Amarakośa 72. Amarasinha n. 100. Amrtasāgara 67. Amaru 73-Amara-Amaruka n. 100. Amicandra I 66 & II 66, 68. Amrtavardhana 73, n. 100. Anandacandra 68. Ananda—Kāvya—mahodadhi 13. Anandavimala Sūri n. 107. $Anekar{a}rth$ a- $m{r}$ atna- $m{m}$ anj $ar{u}$ ṣ $ar{a}$ 13, ` Anekārthopasarga Vrtti 65, 72. Appo 64. Arāmrāl (Amreli?) n. 43. Ardha-Kathānaka 65. Arjuna 17. Asafkhan 90. Asera (Asirgarha) 44. n. 66, n. 67. Aśoka 1, 9, 15. Așta-lakși 13, n. 45. Atmānanda 69. Ātmānanda Prakāsa n. 77. Attock 33. Aurangābād n. 65.

Azamat Khān 89, n. 116. Aziz Kokā 29, n. 34, n. 82 see Ajiz Kokāh. Babar 83. Bacchāvat n. 38. Badaoni 3, 4, n. 3. see Al Badaoni. 'Bade Guru' 11. Badhel (Vāghers) n. 35, n. 43. Bāgā Shā n. 92. Bahadur n. 76. Bahādur Shāh (Miran Bahādur Shāh Farūki) n. 65. Bahat-Behat (Jhelum) n. 46. Bahroch (Bharoj-Broach) n. 6, n. 28. Baji Dev Soor 84, 88, 89 see Vijayadeva Sūri. Baji (Bijai) Sen Soor (Sūr) 5, 84 see Vijayasena Sūri. Bakhsi n. 117. Bālabhārata 73. Balaksa (Balkh) 54. Baluchies n. 38. Bāṇa 23-bhatta 70, 71, 73, n. 100. Banmāli Rāmrāi 90. Banārasidāsa 65. Banārasi-vilāsa n. 98. Bārā-mūla 33-Barahmulah n. 46. Baroda 62, see Vatapadra. Barodāh (Baroda) n. 6. Barra (Bardā) n. 43. Baunti n. 54. Begam Sultan n. 37. Behār 5. Bekah Harakh 84, n. 107, 85 see Vivekaharșa. 'Belgār Khān' n. 80. Benares 12. Benarasidās Prof. 22. Bengāl 5, n. 21, n. 73. Beniprasād Prof. 19, n. 20,

n. 37, n. 73, n. 76, n. 86, n. 90. Berar n. 22. Bhābhut n. 28. Bhadrabāhu 74. Bhagiratha 73, n. 100. Bhagwan(t) Dās, Rājā n. 37, 33. Bhāgyacandra 66. $Bhaktar{a}mara$ stotra 67,72,74. Bhaktāmara-Stotra Vrtti 65, 69, 72. Bhalluka Gāndhin (Bhallata) n. 100, see Gāndhika Bhalluka. Bhakticandra 66. Bhāla 66. Bhāṇaji 59. Bhānchand (see Bhānucandra) 5, 17. Bhandarkar Sir 70. Bhandarkar Com. Vol. 15, n. 85. Bhankorā n. 28. Bhānucandra (The Upādhyāya) 5, 9, 10, 14, 15, p. 15 n., 19, 21, 22, 23, 27, 28, n. 32, 29, 33, n. 40, 34 to 38, 40 to 45, n. 68, n. 69, 46, 50, 51, 52, 58, 59, 60, n. 92, 61 to 67, 70, 71, 75, 82. Bhānucandra (Kharatara) 65. $Bh\bar{a}nuc$ andra-caritam 71,75. Bhānukara 73, Vaidya Bhānupandita n. 100. Bhānupandita 73. Bhāravi 73. Bhārmal n. 19. Bhartrhari 73 n. 100. Bhatti-Kāvya n. 100. Bhațța (i) Svāmi 73, n. 100. Bhāvacandra I 40, 66, 71, II 68.

Bhavānicandra 68. Bhidabhanjana Pars'vanātha 45. Bhilsā n. 63. Bhimbhar 73-Bhambhar-Chibhan 34, n. 42. Bhojadeva 73, n. 100. Bhojarāja Soni n. 69. Biānah n. 21, n. 29. Bibi Karnutty n. 37. Bihar n. 73. Bihār Bānu n. 37. Bihlana 73. n. 100. Bijai (Baji) Sen Sür (Soor) 5, 84. Bijāgarh n. 59. Bikheharkhe 88, see Vivekaharsa. Bikramājit Rājah n. 76. Bikanir 17, n. 38. Bilādā 20. Bir Singh n. 76. Blochman n. 3, 15, n. 23. Bombay 66. Boru (?) 87. Brāhman-Brahmin 3, n. 3, -learned Brāhmins 10, 28, 39, n. 54,-s 42. Brahma-putrā 34. Brhat S'ānti stotra 74 Broach (see Bahroch) n. 12. Buddha n. 87. Buddhism 15. Buddhists 3, n. 3, 15. Buhler's Report 70. Burhanpur n. 6,-Buhranpur n. 63-Barhānapura 44, n. 65, 45, n. 64, n. 69, 62, n. 96, 63. Burhānshāhi King n. 19. C. 10. Cambay (Khambhāyat, Trambāvati) 10, 11, 21, 48,

n. 77, n. 93, n. 96, 64, 68,

n. 101, 87.

Campāpuri 60. Candarājā Rāsa 68. Candra Candrikā 72. Candra Gaccha 72. Candrapāla 21, 64. see Chandrapāla Candraprabha n. 92. Catalogus Catalogorum. (Cata. cata.) 70 Caturavimsati-Stavanas (covisi) 66. 'Central Structure of the Mughal Empire' n. 117. Chalmer 3. Chāmpāner n. 6, 27. Chāṇasmā (Jarsima) 17. Chandasāstra 65. Chandrapāla n. 112. see Candrapāla Chandu Sanghavi 86, n. 112, 87, 88. Chāran n. 35. Chārvāk 3, n. 2, 25. Chauki 82, 89, n. 114. Chimanlal Dalal-C. 4. Chinab 33 Chitor n. 76. Christians 4. Cintāmani 41. Cintāmaņi Pārs'vanātha 43, n. 62, n. 69. Cutch n. 19, n. 34, n. 35, n. 43. Dadhicandra 66. Dalathambhana 25. Daman n. 6. Dāmara-Dābar lake 7, n. 8. Dānacandra 67. Dānaśaha-Dāniyāl 24, n. 22,-Dāniāl n. 65, 59. Dandaka-prakarana Avacūri 66. Dandes (khāndes) n. 65.

Dandi 73-Dandin n. 100.

Darāb 81, n. 103. Darbāri-Akbari n. 110. Darsanavijaya n. 68, n. 69, n. 88, 62, 64. Darśanvijaya and Nyayavijaya n. 92. Dariyā Malbhas-Darya Komm n. 37. Daśakumāracarita n. 100. Daulatabad n. 26, n. 65. Daulat Khān-i-Khās n. 117. Daulat Nisā n. 37. Dayākuśala 22, 91, n. 120. Deccan n. 22, n. 26, n. 63, n. 67, n. 73, n. 74, n. 84, n. 96. Dehāri n. 26. Dek n. 38. Delhi 61. Delvādā 67. Derveshes or Oriental Spiritulism n. 87. Devacandra I 66, 67, 75 II 68. $oldsymbol{Devacandra}$ $oldsymbol{Rar{a}}$ sa 67. Devavijaya 71. Devavimala n. 30. Deviprasād n. 94, n. 96, 82. Devkāpātan n. 19-Devakipātan 66. Dhanavijaya 61. Dhār n. 59. Dharmalābha 11. Dharmamūrti Sūri 22. Dharmasāgara 21, 63. Dharmavijaya 61, 62. Dhātu-manjārī 72. Dhatu-patha 70. Dhāturatnākara -Dhātupātha Vrtti n. 17. Dhoi 73,-Dhoyika n. 100. Dholpur n. 63. Dhundhaka Rāsa 66. Dianat Khan 90, n. 119, n. 121.

Digambaras n. 2. Dipacandra 67. $Dip\bar{a}lik\bar{a}$ - $K\bar{a}lpa$ 66. Dipālpur n. 63. Dipticandra 68. Div (Dvīpa) 41, 90. Divan n. 117. Dolatacandra 67, 68. Dungara (Harşavisāla) 11, n. 45. Durjanasalya 38, n. 51, 45. Durjanaśāl-Bāvni n. 51. Dvipa (Div) 41. Dwarka (Jagat) n. 6, 11, n. 12. Ebrāhim Ibn Adham n. 87. Edar (see Idar) n. 6. Elliot and Dowson 3, 18-Elliot n. 46, n. 60. Elphinstone 15. Farūki n. 65. Fattepur 3, Fatehpur 5,-Sikri n. 8, 8, 15, n. 22, 26, n. 29, n. 32. Forbes Gujarāti Sabhā Traimāsika n. 77. Gandhār 6, 25, n. 28, 50, n. 81. Gāndhika Bhalluka 73. Gangapura 66. Ganges 23. Gangesa 41-Gangesabhatta 74. Gauri 45. Gauriśankara Ozā R. B. n. 95. Gautama 27. Ghelot (Gohils) n. 43. Ghogāh n. 43,-Ghogha 69. Ghusal Khānā 89, n. 117, 90. Girināra n. 78. Godhrā n. 6. Godi-Pārśvanātha n. 69.

Gohilwārah n. 43. Goi 73, n. 100. Gopācala (Gwalior) 43, n. 64. Govāla 67

Govindacandra 66. Gujarāt 5, 6, n. 5, Subāh of Gujarāt n. 6, 8, 9, 10, 15, 16, 19, n. 21, 24, 25, n. 27, 27, n. 34, n. 35, 30, 36, 41, 46, 47, n. 76, n. 80, n. 82, 59,61, n. 93, 62, 66, 78, 79, 82. Guzerat

77. see Gurjaratrā. Gulābacandra 66.

Gumli n. 43.

Gunacandra I 67, 75.

Gunacandra II 66.

Gunalakşmi 69.

Guņaratna Sūri 28.

Gunavinaya 12, 13, n. 16, n. 38.

Gurjaratrā (Gujarāt) 41. Gwālior (Gopācala) 43, n.

63, n. 64. Hāji Habibullāh 79, n. 101. Hakims n. 102.

Hānā Rsi 27.

Hansaratna 68.

Harsānanda n. 107, n. 108.

Haribhadra Sūri 28.

Haribhatta 70.

Haricandra I 69.

Haricandra II 66.

Harihar Koka n. 100.

Hariji Sür 5.-Hirbuji Soor 77 Hirji 82. see Hīravijaya Sūri.

Harşavisāla (Dungara) 11. Harşasāra 14.

Hasti Bhanj (Hasti Watar)

Hawkins (William) n. 85. Hazāra 33.

Hema Acārya 71. Hema Kosha 71.

Hemavijaya 8.

Hemavimala Sūri n. 31.

Hindu 8.

Hiracandra 68, 69.

Hīra-Saubhāgya-Mahākāvya 8, n. 11, 12, n. 30, n. 32, n. 40, n. 47, n. 53, n. 62. Hīravijaya Rāsa 8, n. 36, 32, n. 39.—Hīrasūri Rāsa n. 40, n. 50, n. 69, n. 88, 60, 64, 65.

Hīra-Vijaya Sūri 5 to 8, n. 10, 9, 12, 14, 15, 21, 25, 26, 27, n. 32, 32, 33, 35, 36, 37, n. 48, 38, 40, 41, n. 62, 59, 61, 62, 63, 78, n. 101, 90, n. 120.

Hīravijaya-Sūri-Nirvāna n. 108.

History of Gujarāt-Bombay Gazeteer n. 34, n. 44, n. 76, n. 82.

History of India by Elliot see Elliot and Dowson.

History of Jahangir 19, n. 20, n. 76, n. 86, n. 90.

History of Sirohi n. 95.

Hoomayun 83.

Hormaz day 81.

Ibādatkhānā 2, 4, 5.

(Abhirāmā-Ibrahimābād bād) 8.

Ibrahim Hussein Khwājā 89, n. 105.

Ibrahim Hussain M. n. 37. Idar (see Edar) n. 6, 66, 90. Indian Ephemeris n. 14. Intikhāb-i-Jahāngir 18.

Iraj n. 121.

Isahāk 87

Ishvarprasad Prof. 14.

Itimād-ud-daulāh 87, n. 111, 90.

Jadiā n. 51.

Jadroop 19.

Jagadguru 7, 62.

Jagat (Dwārkā) n. 6, n. 12, n. 43.

Jagat Gossain (Jodhbāi) n. 37.

Jagatsingh 90.

Jagirdars n. 102.

Jaguśāha n. 51.

Jahangir (see Salim) 16, 17, 18, 19, 20, n. 19, 21, 22, 23, n. 22, n. 54, n. 65, n. 68, 47, n. 76, n. 80, n. 82, 51 to 59, n. 85 & 86, n. 88, n. 90, 61, n. 93 & 94, 62, n. 96, 63, n. 97, 64, 65, 83, 85, 86, 87, 88, n. 115, 90, n. 119, 91. 'Jahangira-Kuli-Khān 50,

n. 82 & 83.

'Jahāngir-Mahātapā' 21, 64,

Jahangir-nama n. 20, n. 94. Jaina Aitihāsika Rāsamālā

Jaina Gurjara Kavio (J. G.-K.) n. 31, n. 51, n. 53, J. G. K. 66, 67, 68, n. 108, n. 120.

Jaina Sāhitya Samsodhaka 13, n. 19, 22, n. 76.

Jaina S'āsana 4.

Jaina Satya Prakāśa n. 19, 67, n. 112.

Jainas 78-Jains 77.

Jaipur State 8, n. 89.

Jaitwal (Jethvās) n. 35.

Jalayātrā 49, n. 72, **5**0. Jalinus 87.

Jalnapur n. 22.

Jalor n. 6, 10, 60, 61,-Jhalor 66.

Jām 29, n. 34 & **35,**-Jām Rāval n. 35.

Jambu-Jambunāga 72. Jambukumāra (later Jambusvāmi) 27. Jām Lākhā 90. Jamnā (Kālindi) 23, n. 21. Janaki-harana n. 100. Jarsima (Chāṇasmā) 17. Jati 3, 4. Jaunpur 65. Jayadāsa 64. Jaina Jayanal Lankā 9, Lankā 36, n. 40. $oldsymbol{Z}$ ain Lanka n. 40. Jayānand 88, 89. Jayavijaya 71. Jayasāgara n. 92. Jayasena Kumāra Rāsa 67. Jayasoma 11, 14, n. 16, n. **3**8. Jerome Xavier n. 59, Xavier n. 61. Jew 3. Jhanjhmer n. 43. Jhelum 33, Jihlam (see Bahat) n. 46. Jinacandra I 67, II 68. Jinacandra Süri 10, 11, 12, 13, 14, 20, n. 38, 81. Jinadatta Sūri 23, 69. Jinaharsa 66, 67, 68. Jina-sataka 72. Jinasataka-Tikā 65, 72. Jinasinha Sūri 10, 11, 12, 17, 20, 81. Jinavijaya 21. Jitacandra 68. Jivaji n. 31. Jīvanacandra 67. Jnānasāgara 67. Jodhbāi 16 (Jagat Gossain) n. 37. Jodhpur 16. John P. Brown n. 87. Jumlat-ul-mulk 87, 88-i 89, 90.

Junāgadh n. 34, n. 43,-Junagarh n. 70. Kābul 5, 33. Kacchavâhas n. 54. Kādambari 23—Pūrvārdhatīkā70—Uttarārdhatīkā71. Kālidāsa 73, n. 100. Kalij Khān n. 76. Kālindi (Jamnā) 23, n. 21. Kalyānacandra 67. Kalyāņakuśala n. 120. Kalyāṇamandira Stotra 74. Kalyāņavijaya 71. Kalyāņasāgara 22. Kalyānasāgara Sūri Rāsa 22. Kalyāņa-sena King 60. Kamalakalaśā śākhā n. 65. Kamandakiya Nīti-sāra 74. Kambhāyat (Cabmay) n. 6, n. 12. Kanakacandra 66. Kanakavijaya n. 78. Karmacandra Mantri 10, 11, 31, n. 38, 32. Karmacandra-vamsa-prabandha (Sans.) 11, n. 16, n. 38 & 39 (Guj.) 12, n. 38 & 39. Karmacandra Vamsotkirtanakam Kāvya (Karmacandra Vamsaprabandha) n. 45. Karmagrantha Bālāvabodha Karpatavāņijya (Kapadvanj) Karpūracandra I & II 66. Kāśmir 9, 11, 13, n. 14, n. 37, 33, 34, n. 41, 35, n. 42, n. 45, 37, 38, 42, n. 59. Kathiawar 10, 67. Kāvi n. 28. Kavindra-vacana-samuccaya n. 100.

 $K\bar{a}vya$ -prakāsa 23, 41, 70, 72, 73, n. 100-Vivrti 70. Kāvya—prakāsa - khandana 65, 70, 72. Kayarvādā 68. Kedāra 37. Kesaracandra I 68, II 68. Keśavamiśra 72. Khākhar n. 19. Khāndes n. 6, (Dandes) n. 63, Khāndesh n. 65. Khanda-Prasasti Vrtti n. 16. Khandwā n. 65. Khān-i Āzam 11, n. 12. Khān Jahān n. 76. Khānkhāna n. 19,—Khānkhānān 33, n. 121. Khān Muhammad Kāzi 81, Kharatara 17, -s 34, 35, 36, n. 45, 43, 49, 51. Kharatara Gaccha 10, 14, 17, 31, 64. Kherwā n. 66. Khimacandra 68. Khizr Khān n. 65. Khuram—Khurram Prince 62, n. 96. Khuram-Mirza Khurrum 46, n. 70. Khush-faham 9, 20, 38, 41,65, 84, 85. Khusrau 19. Khusyālacandra 66. Kīshū Rāhtor n. 37. Kokasāstra Catuspadi n. 65. Konkan n. 19. Kṛpā-Rasa-Kośa 8, n. 32, 82. Krpāsāgara 22. Krsna-bhārati 27. Krisnadāsa 73. Krsna-Krīdita-Kāvya 73.

Ksemendra 70, 73, n. 100.

Kumārapāla Rāsa 68. Kulapati 73, n. 100. Kumaradāsa 73, n. 100. Kunrapala 22, n. 76. Kuśalacandra 68, 69. Kuśalamānikya n. 31. Kutbuddin Muhammad Khān n. 12. Labdhicandra I 69 II 68. Lābhapura (Lāhore) 27, 38, 42. Lābhavijaya 71 Lābhodaya Rāsa n. 53. Laghu-prastāvokti-Ratnākara 69, 72. Laghu-śānti-stotra 74-Vṛtti 66. Laksmidhara 73, n. 100. Lālacandra n. 92. Lalbagh n. 65. Lahore 9, 10, 11, 12, 13, 14, 15, 30, n. 36, n. 37, n. 38, 33, n. 45, 38, n. 51, n. 52, 42, n. 59, n. 63, n. 67, 45, n. 78. see Lābhapura. Lakhamicandra 66. Lālchand Khvājā 82. Lāli 49, n. 78. Lalitacandra 68. Lāthi n. 43. Leigh Hunt n. 87. Lekha-likhana-paddhati 73. Lilālaksmī 69. Lolimba or Lolimbarāja 73, n. 100. Lonkā Gaccha n. 31. Lowe W. H. n. 3, 8, n. 33. Lumpāka 27. Luni n. 54. Lunkā or Lonkā 27. Madana 73, n. 100. Madar-ul-maham 87, 88, 89. Mādhavadāsa 51, n. 83. Madhusūdana Sarasvati 73.

Magadha n. 56. Mahābhāşya 41. Mahāmanuşya 73, n. 100. Mahānanda 20, 85. Mahāvīra Lord 27, n. 56, n. 69. Mahisanapura (Mehsāņā) 49. Mahuvah n. 43. Makrabkhān 20, 61, n. 93, 62. Mālapura 58, n. 89. Malcolm Sir John 77. Mālpur 60, n. 92, 66, 69. Mālji 68. Malleson 15. Malva n. 5,-Malwa 77. Mammata 23,-Acārya 41, 70, 72, n. 100. Mānacandra 68. Mānadeva Sūri 74. Manamohana Parśvanātha n. 68 & **6**9. Mānasinha-Mānsingh (Jinacandra Sūri) 10, 11, 14, 17, 18, 19, n. 39, n. 45. Mānasimha Kalyāņa n. 39. Mānasimha King n. 54. Mānatunga Sūri 32, 72. Māndu-Māndavgadh n. 19. 20. n. 20, 21, 61, 62, n. 94. n. 96, 63, 64, 68, 90, Mangalavāda 74. Maniyā Dośi 69. Mansabdārs n. 102. Mān Singh Rāja 34. Mārwād 66. Masud $\mathbf{Be}_{\mathbf{g}}$ Hamazāni (Hamadāni) n. 82, 74, 81. Mathurā n. 38. Maxmuller 2. Mayura 73, n. 100. Medatā (Mertā) 18, 20. n. 38. see Medinipur. Medinipur (Mertā) 51.

Mehājala 64. Mehsāņā 61 See Mahiśānapura. Memoirs of Central India 77 Memoirs of Jahāngir 48, n. 119, See Tuzuk-i-Jahāngiri Mewrās-Mewrāhs 6. n. 4, 62. Mihurrinisa-Nür Jahān n. 37. -Mehirunnisa n. 86. Miron 83. Mirāt-i-Ahmadi n. 12. Mirāt-i-Mustafābād n. 80. Mitra's Notices 70. Modherā 69. Modherā Pārsvanātha Stavana 69. Mohammad Mirzā 83. Mohanavijaya 66, 68. Mohan Dās n. 82. n. 83. Motā Rājā n. 37. Mṛgānka-Carita 66, 68. Mubārik Shāh n. 85. Mudad-i-maāsh 87. Muhammad Husain Khushnavis 90. Muhammad Hussein Mirzā n. 12, 83. Muhammad Kāsim 33. Muhammadpur 86. Muhammad Safi n. 93. Muhammad Said 85, n. 111. Mukarrabkhān see Makarabkhān Mukhlis-khan 87, u. 112. Mukticandra 68. Munisuvrata n. 92, 69. Murād n. 22, 25. n. 26, 33. Murid 91-s 79. Murid-jādā 81, n. 103. Murtazākhān n. 82. Muzaffer of Gujarat n. 12. n. 34. n. 76. Nādalāi 64. Nādir-Jamāñ 65.

Nādot (Nāndod) n. 6. Nāgendra Gaccha 72. Nägher n. 43. Nāhtā 12, n. 38. Naisadha 41. Nala-kaccha (Nālchhā) 68. Nāma-Sreni-nAckarthanāma $m\bar{a}l\bar{a}$ 23 — Vrtti 66, 70. Nāmasangraha —Nāmamālā 70. Namiuna Stotra 74. Nānā-desa-desibhāṣā Stavana n. 108. Nand Bāji Paran (Nandavijaya Pannyāsa) 84-Nandji 88, 89. Nandişena 74. Nandivijaya 9, 12, 13, 21, 38, 61. see Nand Bāji Paran Nānu n. 51. Naoroz day 8. Narbada n. 28, n. 67. Narbudācārya n. 65. Narendra 70. Nāsik n. 66. n. 84. Nasirkhān n. 65. Nāthakumāra 73, n. 100. Nāthurām Premi n. 98. Navakāra Stotra 74. Navakhandā Pārsvanātha 69. Navarang Khan 11, n. 12. n. 19. Navatatva Prakarana 69. Nawānagar n. 35, 90. Nawazish Khān n. 80. Nazarene 3. Neminātha (Śaiveya—son of Sivā) 45, n. 69. Nemisāgara 21, 63, 64. Nemisāgara Nirvāna Rāsa **2**2. Nimār 65. Nityasaubhāgya 68. Nizamuddin Ahmed n. 46.

Nūramahalla 54. n. 86. Nūr-Jahān n. 93, n. 96, n. See Mehru-nnisā-108. Nūramahalla. Nuruddin Mohammad Jahāngir Pādsāh Gāzi 16. Oojein 77 see Ujjain Omar 83. Orissā 33. n. 73. Padmasundara 12, n. 13. Pādukā 67. Pāhadi 24, n. 22. Pajusan 85 see Paryuşana Pakli-Pakhli 33, n. 42, n. 46. Palitanah n. 43. Pancākhyāna Copāi 68. Panca-Sandhi 65. Pandita (Pannyāsa) 67. Pānini 73. Panji 69. Panjikā 72. Pannyāsa 59, 66. See Prajna, and Pandita. Parmananda 20, 83, 84, n. 108, 85. Parsis 4. Paryuşana 7, n. 7, 8, 12. n. 19, 26, 29, 85 see Pajusan and Patchoossur. Patanjali 41. Pātan-Pattan 20, 49, n. 78, n. 80, 67. Patchoossur 77. Pāthaka 14. Pattan (Pātan) n. 6, 20. n. 27, 49. (Māndu) 91. Pausadha 14. Persia n. 41. Peterson's Report 72, 74. Pim Bahādur Uzbeg n. 76. Pinchhola lake 90 Pinheiro 15. Pīr Panjāl (Pantsāl) 33, 35, n. 42, 42.

Prācīna Tīrthamālā Sangraha n. 69, 60, 64. Pragalbhacarana 74. 'Prajna (Pandita, Pan-nyāsa) 27, 59. Prākrita- subhāṣita-sangraha Pratikramana Sūtra 65. Prasati Sangraha 66, 68. Pratāpacandra 67, 68. Pratisraya 40. Pravacana Parīkṣā 21, 63. Prayāga 23. Premacandra 68. Price n. 37. Prthvicandra Rāsa 67. Prithvirāja n. 95. Pundarika Mount 35. Punjab 5, n. 67. Punyasāgara 67. Puranamalla n. 112. Purātatva 74. Purnā n. 26. Qilijkhān n. 76. Rādhanpur 9, 21, —Rājadhanyapura 33, n. 52, 66. Raghupati 73, n. 100. Rājasimha Mahārāja n. 95 Rai Manohar 82. Rāi Patr Dās n. 76. Rai Rayan n. 76. Rai Sal Darbari n. 54. Rai Simha n. 38. 'Rajah Karan' n. 54. Rājanagara (Ahmedābād) Rajasekhara 73, n. 100. Rajatarangini n. 54. Rāma 73. Rāmacandra 65, 68. Rāmadāsa Rājā 13, n. 19, 39, n. 54, —Rāmadāsa 51, n. 84.

Portuguese 90.

Ramade 59. Rāmaji 59. Rāmajisnu 73, n. 100. Rāma-Setu-Pradipa n. 54. Rāmavijaya 61, 69. Ramer (Amer in Jaipur state?) 45. Rāmji 68. Rāmrāj Mahārāj Śri n. 19. Rangacandra 41, 59, 67. Ranthambhor n. 54 —Ronthambūr n. 84. Rao Kalyānmal 90. Rao Kalyān Simha n. 38. Ratnakumara Copāi 67. Ratnapāla-Kathānakam 70. Ratnapāla Rāsa 66, 68. Ratna-Panjāla 35, n. 42, 42. Rāvi n. 38. Ravicandra 68. Rawlinson 19, n. 85. Rāy Ali Bhatī n. 76. Rāy Singh Bhurtiyā 17. Rddhicandra 66, 68, 69. Rikhu 45. Rindosaha 66. Rogers 16, 90, n. 121. Rohā 40, n. 56. Rohtās 33, -Rohitās n. 45, n. 46, 37. Ŗṣabhadāsa 8, n. 88, 60, 65, 68. Rşabhadeva 72. Rsi-mandala 68. Rudra 73, n. 100. Rudrata 73, n. 100. Rüpacandra 66. Rūpalakşmi 69. Sābarmati (Savarņamati) n. 27. Sabhācandra 66, 69. Sad-daréana-samuccaya 28. Sādhukīrti 14, n. 16. Sādhusundara n. 17.

Sādhuvandanā 67. Sadūktikarnāmrt n. 100. Sādullā-Sādullā Khān 50, Sāgara group (gaccha) 61. Sahajakuśala n. 31. Sahajasundara 67. Sahariyār 62. Sāhebkhān 6, n. 5, -Shihāb Khān-Shihābu-d-din Ahmed Khān n. 5, 25, 26. Sāhib Sūbah or Sūbuhdārs n. 102. Saidkhān n. 37, n. 80. Sakalacandra 27. Salim 13, 16, 17, n. 22, 30, n. 37, 31, 32, —Prince n. 67, 46, 47, n. 73, n. 74, 59, 80, 82, n. 105. see Sekhooji. Samanis n. 3. Sāmāyìka Sūtra 65. Samayasundara 13, n. 14, n. 45, 67, 74. Samasuddin Mirzā 50, n. 82. See Samsudin Sāmba 72. Samsudin 35, n. 44. Sameta Sikhara 60. Samkşipta Kādambari-Kathānaka 74. Sammeta-S'ikhara Tirthamālā n. 92. Sanghapur 65, 72. Sanghasoma 66. Sangrahani Bālāvabodha n. Sangrāma Soni Rāsa 68. Šankheśvara n. 78. Šānti 67. Sānticandra 8, 9, 27, 28, n. 32, n. 92. Sāntinātha n. 69. Sāntinātha Rāsa 69. Sānti Sūri Vādivetāla 74.

Sapta-padārthi-tikā 72. Saptasmarana Vrtti 74. Saptatyadhika-Jina-stotra Sārangadhara-paddhati 100. Sārasvata-prakriyā 70. Sārasvata – vyākara**ņa –v**ṛtt**i**tippana-vivarana 70. 'Sarasvti' 12, 82. Sardhār n. 43. Sarkhej n. 116. Sarotarā 67. Sarvadāsa 73. —Sarvadāsa n. Sarvajna S'ataka 21, 63. Satr (Satran) 3. Sat-trinsikā-vṛtti 71. Satrunjaya 8, 9, 11, 14, 23, n. 38, 34, 35, —Satrunjah n. 43, 36, 37, 43, n. 78, 64, 67, 68, 82, 83. Satrunjaya Māhātmya 68. Satrunjaya- tīrtha- paripāti 67. 'Sattarabhedi Jina-Pūjā' 27. Sattoji-Sattarsāl (Satruśalya) Jām n. 35. Satyavādi 60. Saubhāgyavijaya n. 92. Saurāstra (Sorath) 30, 35, n. 43, 41, 43, 46, n. 70. 'Savai Hīravijaya Sūri' 10. Sayajam 87. Śekhooji-Śekhuji (See Salim aud Jahangir) 16, 24, n. 22, 31, -Shaikhu Bābā n. 22, n. 67. Setubandha Kāvya n. 54. Sewra (Siura) 18. Sewa Wadhel n. 12. Shah Jahan n. 65, n. 96, n. 117. Shāh Navāz Khān 91, n. 121.

Shaikh (Abul Fazal) 36, 37, 39, 40, 42. Shaikh Ahmad Khattu n. 116. Shaikh Farid n. 111. Shaikh Mubaraka 15. Shaikh Salim Chisti n. 22. Shaikhu Bābā n. 22, n. 67. Shamsi Mirzā n. 44, n. 82, see Samasuddin. Shekh Burhan-u-ddin n. 65. 'Sher Afkun' n. 86. Shia 3. Shikastah script n. 113. Short History of Jaina Literature n. 13, 13, n. 16, 28, n. 38. Short History of Muslim Rule in India 14. Shujā-at Khān u. 111. Siddha Mount 33, 37. Siddhapur 59, 61. Siddhasena Divākara 74. Siddhicandra 9, 16, 19, 21, 22, 23, 40, 41, 42, 43, 44, 45, 46, 47, 48, 49, 50, 51, 52, 53 to 59, n. 86, n. 88, n. 92, 61, 63, 64, 65, 69, 70, 71, 72, 75, 82. S'iladūta 66. Silavijaya n. 69. Simhavimala n. 30. Sind 33. Sipahsālārs n. 102. Sirodi 68. Sirohi n. 38, 61, 62, n. 95, 70. Sir Thomas Roe n. 65. Siura-(sewra) 3, n. 2, 16, 17. Sivāditya 72. Sivacandra I 66, 69, 72. Sivacandra II 66. Sivanidhāna n. 15. Sobhana 71. Sobhana-stuti-tīkā 66, 71. Somacandra I 69, II 68.

Somavijaya 61. Someśvara 73, n. 100. Somnath n. 34, n. 43. Sonapāla 22, n. 76. Sorath n. 6, -Sarkar of n. 43. n. 80, 79, 82, 84. see Saurāstra. Sramanas 3, n. 3. Srenika King n. 56. Srenika Rāsa 68. Śrī Harşa 41, 73, n. 100. Srinagar 33, 35, 42. S'rīpāla Rāsa 67, smaller 67. Srīpati n. 107. Srīvallabha 21, 64. Srutabodha 65. Śruti(a)dhara Rāma 73,-Śrutadhara n. 100. Sthānakavāsi 27. Sthānasimha (Thansimha) 26, n. 30. Subahān 87. Subhāsitāvali n. 100. Subuddhicandra 66. Suddhicandra 66. Sudharmā Svāmi 27. Sufi 3. Sugālacandra 66. Sujānacandra 68. Sujāwalpur n. 63. Sukhacandra 69. Sūkti-kalpalatā 73. Sūkti-ratnākara 73. Sūkti –sahasra 73. Sultān Murād n. 22, n. 26, n. 44, -Prince n. 67. Sūkti-Sudhā 73. Sultān Parviz n. 37, -Prince n. 65. Sultān-unnisā Begum n. 37. Sultān Zainul Abidin n. 46. Sumanis-Samanas 3. Sumaticandra 68. Sumatinatha n. 112. Sumitra Rājarşi Rāsa 68. | Tursamkhān 38.

Sunni'3. Supārśvanātha n. 69. Sūracandra 27, 59. Surasundari Copāi 69. Sūrīśvara and Samrāt 79, 81, 83, 85, 88, 90, 91. Surat n. 6, n. 93, 62. Sūryasahasranāma 23. -Vrtti **6**9. Sutlaj n. 38. Suvarņa-Kānti 60. Syāmapuri (Kālupur) 71. Švetambara 3, n. 2, 4, 16, 18, 19, 27. $Sy\bar{a}d$ - $v\bar{a}da$ 56. Talājā n. 43. Tangtalah n. 42. Tankāriā 68. Tapā 17, -s 35, 43. Tapā Gaccha 10, 14, 27, n. 31, 49, 90, n. 120. Tāpti n. 65. Tārācandra I 68, II 68. Tārangā-mandan Ajitanāthastavana 66. Tarka-Bhāṣa·Tīkā 72. Tarry Rev. 16. Tatvacandra 68. Tatva-Cintāmani 41. Tejacandra 67. Thansing 7, (Sthanasimha-Thānasimha) 31, 32. Thāvaccā Copāi 67. Tibet Little n. 46. Tijayapahutta Stotra 74. Timoor 83. Tīrthamālā n. 69, n. 92. Todarmall n. 5, 33. Trambāvati (Cambay) 48. Trivikrama 73, -Vaidya Trivikrama n. 100. Trivikrama Bhatta n. 100. Tumbel n. 35-Timbel n. 43. Turkastān n. 41.

Tuzuk-i-Jahāngiri or Memoirs of Jahāngir 16, 18, 20, 48, n. 80, n. 82, n. 84, n. 94, n. 115, n. 116, 90, n. 121. Tuz. Jah. n. 96. Udaipur 90. Udayabhāņa n. 95. Udayacandra I 66, 68, 69. Udayacandra II 66. Udayaharsa 20, n. 19 – Udaya harakh 85. Udayanācārya 74. Udayaraja n. 54. Udayasagar lake 90. Udayasāgara Sūri 22. Ugrasenapura (Agrā) 43. Ujjain n. 20, n. 63. see Oojcin 77. Umrao Singh Tank n. 38. Unā 10, 41, n. 58, 82, 90. Upadesamālā 68. Upādhyāya 8, 10, 32, 33, n. 40, 40, n. 78. Upāsaka-Dasānga Sūtra 68. Upāśraya 27, n. 36, 31, 32, 45, 50. -s 78. Utsūtra-Kanda-Kuddāla 21 Uttamacandra 66. Uttamakumara Rāsa 66. Uttamavijaya 66. Uttarādhyayana Sūtra 68. Uvasaggaharam - Upasargahara Stotra 74. Vācaka 61, = Upādhyāya. Vada-śākhā 61. Vādindra 14. Vaidya Bhānupandita 73. Vaidya jivana n. 100. Vairāt (Bairāt) 8. Vajivan (?) 87. Vakhatacandra 68. Vallabha —Śrivallabha 21, 64.

Vallabha n. 100. Vallabhacandra 66. Vankalāvartta 73, n. 100. Varabāi 66. Vardhamāna Lord 40. Vardhamāna Vidyā 40. Vasantarāja's S'akuna (śāsra) 23 —commentary on n. 57, n. 71, n. 95, 70. $Var{a}$ savadatt $ar{a}$ –Tī $kar{a}$ or Vrtti-vyākhyā 72. Vāsupūjya Lord 60. Vatapadra (Baroda) 50. Vāyada Gaccha 71. Velankar Prof. n. 16. Vicaksanavijaya 69. 74. Vidyāpura (Vijāpur in Gujarāt) 66, 74. Vidyācandra 68. Vidyāvijaya n. 77. Vijāpur (Vidyāpura) in Gujarāt 65, 66, 72, 74. Vijā Sect (Vijaya Gaccha) 60, n. 91. Vijayacintāmaņi Stotra Vijayadeva Sūri 20, 21, 49, n. 77 & 78, 61, 62, 63, 64, 69, 82, 90, 91, see Baji Dev Soor. Vijayadeva Sūri-māhātmyam 10, 21, 22, n. 78, 64, 67. Vijaya Group 62. Vijayānanda Sūri 64, 71. Vijaya-praśasti Kāvya 10, 13, n. 52, n. 53, n. 55, 70. Vijayarāja 61. Vijayarāja Sūri 68. Vijayasāgara n. 92. Vijayasena Sūri 5, 9, 10, 12, 13, 14, 15, 20, n. 19, 21, 38, 39, 40, 46, 48, 49, n. 77, 61, 62, 67, 71, 79, 80,

82, n. 107, n. 108, n. 112, 90, n. 121. see Baji Sen Soor. Vijayasimha Süri 67. Vijayasundara Süri 61. Vijayatilaka Sūri 61, 62, 63, Vijaya-tilaka Sūri Rāsa n. 69, n. 69, n. 88, 64. Vijjikā 73, n. 100. Vikramārka 46, n. 76. (Vincent) Smith n. 10, 9, n. 14, 15, 17, n. 59, n. 61, n. 67. Vimala Mount 34, -Vimalācala 43, 46. Viramapura 68. Viśeṣāvaśyaka Sūtra n. 25. Viśalacandra 66. Vivekacandra 67, 75. Vivekavilāsa 23, 69, 71. Vivekaharşa 20, n. 19, 83, n. 112. see Bekah Haraka & Bikheharkhe. Vivikta-nāmā-sangraha 70, Von Noer 15, (Noer) n. 46, Voyage in East India 16. Vrddha - prastāvokti - ratnākara 71. Vyāsa 73. Wagi n. 43. Wālāk n. 43. Wuler lake n. 46: Yāgeśvara 73, n. 100. Yaśaścandra 68. Yātim Bahādur n. 76. Yugapradhāna 11, 13, 14, 20. Yugapradhāna Sri Jina. candra Sūri 12, n. 38, n, 104, 82. Zabdatu-t-tawārikh n. 60. Zoroastrian 3.

Abbreviations

Buddhi. Jaina Dhātu-Pratimā Lekhasamgraha by Buddhisāgara.

Epi. Indica. Epigraphica Indica.

J. B. R. S. Journal of Bombay Royal Asiatic Society.

Jinavijaya. Prācīna Jaina Lekhasamgraha edited by Jinavijaya.

Nāhar. Jaina Lekhasamgraha by Pūran Chand Nāhar M. A. B. L., M. R. A. S.

[For Abbreviations used for other works, see 'The List of Books mainly consulted' at p. 76 wherein the same are bracketted.]

उपाध्यायश्रीसिद्धिचन्द्रगणिविरचितं महो पा ध्या य महा प्रभा व क पु रु ष-

श्रीभानुचन्द्रगणिचरितम्।

॥ प्रथमः प्रकाशः ॥

।। पण्डितश्री ५ श्रीदेवचन्द्रगणि-पण्डितश्री ५ श्रीविवेकचन्द्रगणिगुरुभ्यो नमः ॥ § ९. मंगलादिविधानम् ।

श्रेयःश्रीललनाविलासरसिकः पायादपायात्स वः	
श्रीमन्नाभिनरेन्द्रसृतुरमरैः संसेव्यमानान्तिकः।	5
रेजे यस्य कचावली भुजिहारोदेशे लुठन्ती किमा-	
लग्ना शैवलमञ्जरी शमसुधापाथोनिधौ मज्जतः ॥ १ ॥	
श्रीज्ञान्तिः शिवतातिरस्तु सततं सम्यग्हशां भूस्पृशाम्	
मातुः कुक्षिमुपेयुषि क्षितितछे यस्मिन् जगद्वान्धवे ।	
नष्टाः कापि ययुस्तरामतितरां सोत्कण्ठकण्ठीरव-	10
क्ष्वेडाक्षुच्धमनःक्ररङ्गततिवत् सर्वो विपत्पङ्कयः ॥ २ ॥	
पञ्चेव प्रसवेषवः प्रहरणं किन्तूग्रसत्त्वाधिको	
निःशेषां भुवनत्रयीमपि वशीकर्त्तेत्यहंकारभृत्।	
जिग्ये येन विना युधेन मदनः सङ्कल्पमात्रादिष	
श्रीमान्नेमिजिनेन्दुरिन्दुविदाद्ज्योतिर्यद्याः पातु सः ॥ ३ ॥	15
सुस्निग्धाञ्जन्पुञ्जमञ्जलक्विनिःशोषदिग्मण्डलम्	
प्रेङ्खच्छीर्षफणामणीगणविभाविद्यद्भिरुद्योतयन् ।	
नव्यामभोधरसन्निभः सदमृतानन्दाय वामाङ्गभू-	
र्भूयाद्वो स्वनप्रसभवभृतां संसारतापापहः॥ ४॥	
श्रीसिद्धार्थधराधवान्वयनभोभानुर्यथार्थाभिधः	20
श्रेयःश्रेणिविष्टद्वये भवतु वः श्रीवर्द्धमानप्रभुः।	
यत्पादाञ्जयुगं जगद्वुजिनहृत् प्रासादयत् केसरी	
नानाजन्तुविघातपातकमपाकर्तुं किमङ्कच्छलात् ॥ ५ ॥	
मातर्वाणि ! हृदि स्थितस्य महिमा नामाक्षरस्यैष ते	•
माद्दम् मातृमुखोऽपि यद् विवदिषुर्वर्णावलीमुज्ज्वलाम् ।	25

10

15

20

25

यह्लोहोत्तमतामयः शकलमप्यासादयत्याश्चतः किञ्चित् सिद्धरसप्रसङ्गजनितं माहात्म्यमुज्जम्भते ॥ ६ ॥ विद्वद्विसायकारिचारुचरितं वक्तुं न शक्यं गुरोः श्रीमद्वाचकवृन्दवन्दितपदः श्रीभानुचन्द्रस्य यत्। वक्तं वाञ्छति मादशोऽपि जडधीस्यक्तत्रपस्तोयधिं तद्विस्तीर्णतरं तरीतुमुङ्जपेनोत्कण्ठते कुण्ठधीः ॥ ७ ॥ प्रागलभ्यं भुजगेश्वरोऽपि न भजेजिह्वासहस्रोऽपि चेत् यस्योद्यद्भणवर्णनव्यतिकरेऽन्येषां पुनः का कथा। मादक्षस्य निरक्षरस्य विमतेस्तत्रावकाराः कुतो यद्वाडमी वयसोऽपि किं निजगिरा नो संगिरन्तेतराम्॥ ८॥ यः सर्वार्थसहस्सहस्रमहसः शुद्धा[ः] सहस्राभिधाः साहिश्रीमद्कब्बरक्षितिपतेरध्यापयामासिवान्। यसौ सोऽपि समस्तजन्तुहननव्याषेध-शत्रुंजय-क्षोणीभृत्करमोचनप्रभृतिकृत् प्रादात् स्फुरन्मानकम् ॥ ९ ॥ खेनावृत्ति-वसंतराजविवृती वृत्तिश्च कादम्बरी, श्रीसारखतवृत्तयश्च विवृतिः काव्यप्रकाशस्य च। नामश्रेणि-विवेकपूर्वकविलासग्रन्थवृत्ती तथे-त्यादीन यो रचयांचकार रुचिरग्रन्थांश्च निर्ग्रन्थराट् ॥ १० ॥ सर्वे निर्विषयीकृता यतिजनाः श्रीमजिहांगीरभू-भर्त्रा गूर्जरमण्डले खसविधे सत्कृत्य यः स्थापितः। श्रीमद्वाचकसिद्धिचन्द्रगणियुग् युक्तं युगान्ते मस्त् कैलासान्वितमेक्तोऽपरमगं कं कं न चाकम्पयत् ॥ ११ ॥ स श्रीवाचकभानुचन्द्रमुनिपः प्राप्तप्रतिष्ठोऽभवत्, साहिश्रीमदकव्यरं नरवरं सम्बोध्य सौभाग्यभूः। तसाचाईतशासनस्य महिमाऽत्यर्थं यथा पप्रथे तद्भृत्तान्तलवः स वर्णनिकरैरुत्कर्णमाकर्ण्यताम् ॥ १२॥ न चार्धिकं सायावेशाद्, न च न्यूनं तदस्यपात्। यथार्थमेव यज्ञातं तत्त्रथैव निगयते ॥ १३॥

§२. उग्रसेनपुरवर्णनम् ।

जम्बूद्वीपाभिधे द्वीपे भरतार्द्धे च दक्षिणे।	
उग्रसेनपुरं मध्य-मण्डले भाति चन्द्रवत् ॥ १४ ॥	****
उत्सङ्गे विनिवेश्य येन विसरत्कल्लोलवेल्लद्गजा	
तीरस्थैः प्रतिमागतैर्न्टपर्गृहैरङ्गैरिवालिङ्गिता ।	5
कालिन्दी कलुषीकृतेव रानकैः संलीय गुङ्गामनु	
त्रासादुद्गतपाण्डिमेव जलिंधं कम्पोत्तरं गच्छति ॥ १५ ॥	
नागानिन्द्रगजोपमांश्च तुरगानुचैःश्रवःसंमितान्	
दातृन् कल्पतरुप्रभांश्च दात्रोो रामारमायाः समाः।	
यच्च प्रेक्ष्य पर्योधिनोपरि विधेर्यस्तं पुरा यद्विषं	10
देवादेवगणैस्तदेव मिलितैर्नुनं समुद्गारितम् ॥ १६ ॥	
नानामण्डपिकासु यत्र धनिकव्यापारिभिः सश्चिता-	
नुत्तुङ्गानधिरुद्य पण्यनिकरान् शैलोपमान् कौतुकात् ।	
पुंसां प्रेक्षणकारिणां चिरतरं चेतांसि चक्ष्रंषि च	
श्रान्तानीव ततोऽवरोदुमसहान्यध्यासते निश्चलम् ॥ १७ ॥	15
मातङ्गांस्तुरगानवगान् (?) वृषवरान् दासेरकानेडकान्	
तत्तदेशसमुद्भवानपि नरान् वासांसि रत्नानि च।	
स्वादिष्टं फलमूलशाकमतुलं सर्वेर्तुजं सर्वेदा	
यत्र प्रेक्ष्य च देशकालविवृतौ सर्वेऽपि संशेरते ॥ १८ ॥	
मिलिता इव यत्र मञ्जभिर्वलभीभिर्भुखकान्तिभिर्मिथः।	20
अतिसङ्कलतां गता गृहास्तदुदस्यन्ति भुजानिव ध्वजान् ॥ १९ ॥	
चन्द्रकान्तजलैश्चन्द्राकरेश्च मिलितैर्मिथः।	
चन्द्रस्य चन्द्रकान्तानां ज्ञायते यत्र नान्तरम् ॥ २० ॥	
चन्द्रकान्तेषु संकान्तश्चन्द्रमाः ग्रुग्नुभे निशि ।	
. खयं कुर्वन्निव स्नानं इयामताऽपहृतीच्छया ॥ २१ ॥	25
सौधोत्सङ्गनिषण्णानां योषितां वदनेन्दुभिः।	
हारतारावलीयुक्तैर्यत्र राका निज्ञाऽनिज्ञम् ॥ २२ ॥	
बहिरेति पथः समाक्रमन्नविधार्योऽपि च यत्र संविदान्।	
उद्घाविव निम्नगारयः कचिदागन्तुगणो विलीयते ॥ २३ ॥	
शतशोऽत्र नृपास्तु यादशामलमेकोऽपि दिशं विभूषयेत्।	30
पिटके हि भवन्ति भूरिशो मणयो ये तनुमण्डनाः पृथक् ॥ २४॥	
प्रदोषे यद्गवाक्षस्यैर्विणिनीवदनोत्करैः।	
सोराम्भोरुहसंशोभि सरोवत्प्रतिभासते ॥ २५ ॥	

स्पर्शाचन्द्रयुतेर्यत्र काशन्ते चान्द्रसद्धृहाः। क्षरद्वारिकणैः खस्थैः पतन्मुक्ताफलैरिव॥ २६॥ सुकृतामृतसिक्तानां यत्र भान्ति ध्वजाश्रलाः। तीर्थेशवेश्मनां पुण्यद्धमाणां पस्नवा इव ॥ २७ ॥ क्रतपापविषय्रासाः प्रासादाः काममहैताम् । 5 यस्यां पताकाजिह्वाग्रैर्लिइन्तीव सुधाकरम् ॥ २८ ॥ यस्यामनुपमानोऽपि सोपमानोऽभवज्जनः। मणिमन्दिरभूमीषु खैरेव प्रतिबिम्बितः ॥ २९॥ निर्निमेषा मिथोरूपदर्शनाइम्पतिव्रजाः। धर्मक्षेत्रे बसुर्यत्र खर्गपौरा इवागताः ॥ ३०॥ 10 रत्नकुम्भान्विताः : प्रोचैर्यत्र चैत्यैः सतां पुरः। मोहध्वान्तद्वहो दीपा इव मोक्षाध्वदर्शने ॥ ३१॥ यदवर्णिनीमुखेभ्योऽपि पुरस्तादिन्दुमण्डलम्। अलक्ष्यत वियज्जीर्णभित्तौ कृमिपुटोपमम् ॥ ३२ ॥ वियद्भमणिवन्नानां गभिस्तरथवाजिनाम्। 15 यत्सौधवैजयन्त्योऽपि भृशं व्यजनतां ययुः॥ ३३॥ विभावर्यामपि जना विभावर्याङ्गभूषणैः। ध्वस्तध्वान्तभरा यत्र यान्ति प्रान्तरवर्त्मसु ॥ ३४ ॥ यत्रेश्वराः प्रतिगृहं गौर्योऽपि च गुणाधिकाः। तत् पुरं पौरसङ्कीर्णं खर्गादप्यतिरिच्यते ॥ ३५॥ 20 अनेकधनदोपेतं तत् पुरं वीक्ष्य तज्जनः। अलकां चैकधनदां जातुचित्र समीहते ॥ ३६॥ क्रण्डलीकृतकायेन शेषेणेव समन्ततः। निधानमिव तद् रेजे ज्ञालेन परिवेष्टितम् ॥ ३७ ॥ परिखाजलसंक्रान्तेर्वजन्नरनराधिपैः। 25 नागलोकः समायातो वीक्षितं तत् पुरं किम्रु ॥ ३८ ॥

§ ३. शाहिश्रीमदकब्बरप्रतापवर्णनम् ।

30

तथा तत् पालयामास शाहिः श्रीमदकव्यरः ।
नीत्या यथैव नासार्षीत् कोशलेयं जनोऽखिलः ॥ ३९ ॥
यत्प्रतापाग्निना दग्धाः शलभा इव दस्यवः ।
केवलं ग्रामवृद्धेषु र तहातैव व्यावस्थिता ॥ ४० ॥
शञ्जुस्त्रीनेत्रवाष्पुरैः साञ्जनैः सश्चितोऽपि हि ।
यद्यश्चाश्चन्द्रमाः श्वेतोऽभविच्नित्रमिदं महत् ॥ ४१ ॥

प्रथम प्रकाश	
पीतशाश्रवरक्तापि यस्य निस्त्रिशसैरिभः।	
ददौ शुभ्रं यशोदुग्धं चित्राचित्रमिदं महत् ॥ ४२॥	
श्रीतोऽप्यत्यन्तशुभ्रोऽपि चित्रं यस्य यशःशशी।	•
वैरिणां हृदये दाहं मुखे च श्यामतां व्यधात्॥ ४३॥	
शोषिता यत्प्रतापेन द्विषतां सौर्यवस्रयः।	5
पत्रैरिवासिभिर्भृष्टै रणारण्यमपूरयत् ॥ ४४ ॥	
नित्यं यदीयधर्मस्य वर्द्धमानस्य सर्वतः।	
चैत्यश्रियः सा तन्वन्ति न्युञ्छनानि ध्वजाश्रहैः॥ ४५॥	
उदेष्यतः प्रतापाग्नेर्धूमदण्ड इवोन्मुखः।	
यदसिर्युधि राष्ठस्त्रीनेत्रैर्दष्टो जलाविलैः ॥ ४६ ॥	10
कर्पूरपूरवद् यस्य यशोरोदःसमुद्रके ।	
जज्ञेऽरिदुर्यदाःकृष्णागारसङ्गाचिरं स्थिरम् ॥ ४७ ॥	
यदीयप्रचलत्सैन्यधूलिधूसरिताननाः।	
अदृश्यतां दिशः प्रापुस्तत्क्षणाद्वैरिभिः सह ॥ ४८ ॥	
यद्यात्राहतनिःखाननिःखनैर्वधिरीकृतः ।	15
नागलोकस्ततो लोकैर्दकर्ण इति गीयते ॥ ४९ ॥	1
यत्सैन्यभेरीभाङ्कारैब्रिह्माण्डस्फोटदाङ्कया ।	
अवष्टम्भकृते दिक्षु किं घात्रा विधृता गजाः॥ ५०॥	
यत्सैन्यप्रोच्छलढ्लीधोरणीपातशङ्कितः ।	
गतागतान्यसौ चक्रे पयोधिः प्रत्यहं किम्रु ॥ ५१ ॥	20
मा कार्षीदर्थिसान्मेरुमसाविति विरश्चिनः।	
पुष्पदन्ताविमौ चके तत्र प्राहरिको किमु ॥ ५२ ॥	
वर्षन्तं खर्णधाराभिर्वीक्ष्य धाराधरो हि यम्।	
इयामास्यः समभूत् सौवदानशौण्डत्वहानितः॥ ५३॥	
षड्दर्शनपशुग्रामं गोपाल इव पालयन् ।	25
सरसायां रसायां स भूपालः स्रुतरां बभौ ॥ ५४ ॥	
यत्सैन्यपोच्छलद्वाहखुरञ्जुण्णघरारजः।	
तथा तद्यानशे व्योम यथा रात्रिरभृद्दिवा॥ ५५॥	
न सा कला न तद् ज्ञानं न तद् धैर्यं न तद्कलम्।	
शाहिना युवराजेन यत्र नैवोद्यमः कृतः ॥ ५६ ॥	30
यत्प्रतापाग्नितापार्त्तः कृष्णः द्योते किमम्बुधौ ।	
्तुहिनाद्रौ स्थितः शम्भुः खयम्भूः पङ्कजेऽगमत्॥ ५७।	l,
अद्य यावदभूदेककर्णा साग्रमेखला ।	
अनेन दानशौण्डेन द्विकर्णा समजायत ॥ ५८॥	

10

15

20

25

30

इयं सार्वित्रकी ख्यातिर्यत् तिलाजायते खलः।
तिचत्रं यद् रणेऽनेन खलाः सर्वे तिलीकृताः॥ ५९॥
संग्रामाभिमुखं वीक्ष्य यं दृपं त्रिदिवोकसः।
मा खर्गमिप गृह्णीयाद्गीलेवाखप्रतां ययुः॥ ६०॥
शोषुजी-पाइडी-दानशाहाख्याः सत्त्वशालिनः।
त्रियस्त्रिमुवनख्याताः स्नवस्तस्य जित्तरे॥ ६१॥
यत्सर्वसैन्यसप्तीनां लक्षाः स्युः सप्तविंशतिः।
खारोहणकृते ते च सहस्रा द्यधिका दश् ॥ ६२॥
चतुर्दशसहस्राः स्युः सिन्धुरा यस्य बन्धुराः।
चतुरस्था इमे श्रेयाः सैन्ये लक्षमिताः पुनः॥ ६३॥
खकीयभुजदण्डेन वैरिवर्गं विजित्य यः।
जग्राह गुर्जरं देशं खर्गखण्डिमवापरम्॥ ६४॥
अनेकदेशोपगतैर्विवुधैर्विवुधोपमैः।
संकन्दन ह्वासेव्यमानः स सुतरां बभौ॥ ६५॥

।। इति श्रीअक वरशाहिवर्णनम्।।

§ ४. शाहिसचिवशेखअबरुफजरुवर्णनम् ।

धीगुणैरष्टभिर्युक्तः खामिभक्तः शुभादायः। विशिष्टाचरणासक्तो बिरक्तः पापकर्मतः॥ ६६॥ अबलात्फजलः शेखः समभूत् तस्य धीसखः। निःशेषवाङ्मयाम्भोधेः पारदृश्वा विदांवरः॥ ६७॥ जैने मीमांसके बौद्धे सांख्ये वैद्योषिकेऽपि च। चार्वाके जैमिनीये च काव्ये पातञ्जलेऽपि च ॥ ६८ ॥ वेदान्ते राब्दशास्त्रे च संगीते नाटकेऽपि च। अलङ्कारे पुराणे च छन्दोग्रन्थे च शाकुने ॥ ६९॥ ज्योतिःशास्त्रे तथा संख्याशास्त्रे सामुद्रिकेऽपि च। नीतिशास्त्रे च कोकाल्ये शालिहोत्रे च पालके ॥ ७० ॥ इत्यादिसर्वशास्त्रेषु विस्तृता यस्य शेमुषी। नास्ति तद्वाद्यये तेन न दृष्टं यच न श्रुतम् ॥ ७१ ॥ अदोषैः दोमुषीमुख्यविदोषैः दोखपुङ्गवम् । विशिष्टं वीक्ष्य यं वेधा व्यधात् शङ्कां खनिर्मितौ ।। ७२॥ पृष्ठे घृत्वा क्षमां शेषो नाभूदुच्छ्वसितुं क्षमः। हृयसौ तां दधानोऽपि चित्रं यत्प्रगुणोऽभवत् ॥ ७३ ॥

यद्गामभाषगुण विक्ष्य समुद्रत्व गताञ्मबुधिः।	
यद्धियं च तिरोभूतो मन्ये चित्रशिखण्डिजः॥ ७४॥	
आकल्पोपगतं शाहिमुरादं खात्मसम्भवम् ।	
श्रुत्वाऽपाच्यां प्रसुः प्रैषीत् यं कृत्वा दण्डनायकम् ॥ ७५॥	
देवभूयंगते तस्मिन् शाहिसूनी समुच्छितम् ।	5
भग्नं रात्रुबलं येन सैन्यं खस्य च रक्षितम् ॥ ७६ ॥	
तदुदन्तं समाकर्ण्य संमदोह्रसितेक्षणः।	
'दलथम्भन' इत्याख्यां चक्रे यस्य घराघवः ॥ ७७ ॥	
।। इति शेखशीअवलफजलवर्णनम्।।	
अकन्वरिज्ञासायां हीरसूरेर्गुणवर्णनम् ।	10
अन्येद्युः पृथिवीपालो मध्यमण्डपमध्यगः ।	
पप्रच्छ गुर्ज्जरायातान् सामन्तानिति सादरम् ॥ ७८ ॥	
तपस्वी निःस्पृहो दान्तः सौम्यमूर्त्तिः जितेन्द्रियः।	
युष्माभिः साम्प्रतं तत्र कोऽपि दृष्टः श्रुतोऽथवा ॥ ७९ ॥	
तन्निदाम्य ततः पोचुः सामन्तास्ते प्रभोः पुरः ।	15
एताद्दक् श्रूयते तत्र हीरसूरिर्न चापरः ॥ ८० ॥	
असाभिस्तद्वणाः सर्वे वक्तुं शक्या न जातुचित्।	
तथापि खिंघया किश्चित् दिङ्मात्रमिह दर्र्यते ॥ ८१ ॥	
तथा हि—	
वक्तुं सहस्रजिह्नोऽपि न क्षमो यद्गुणानिति ।	20
त्रपयेवाहिनाथः किं वडवामुखमीयिवान् ॥ ८२ ॥	
अनन्यलभ्यां यन्मुद्रां भूयो भूयो विलोकयन् (?)।	
नाकिनो निर्निमेषत्वमाषुः का गणना नृणाम् ॥ ८३ ॥	
स्नेहपीयूषपानार्थमुभे वर्त्तुलिके किमु।	
यन्नेत्रमिषतो मन्ये निर्मिते विश्वरेतसा ॥ ८४ ॥	25
यद्वक्रनिर्मितेः दोषदलैरन्यदलान्वितैः ।	
विधिश्चन्द्रं व्यधात्तेन विज्ञीर्णोऽङ्कमिषात्किमु ॥ ८५ ॥	
सदा विनिद्रं मधुपैर्नोच्छिष्टं कण्टकोज्झितम् ।	
इति विज्ञाय यद्वजाम्बुजे तस्यौ सरस्रती ॥ ८६ ॥	
गुणान् गणियतुं यस्य न क्षमोऽभृद्वहस्पतिः।	30
इति कौलि(ली)नभीत्येव प्रागेव त्रिदिवं ययौ ॥ ८७ ॥	
यदीयाद्धतसौन्दर्यिलिप्सयेव निशापतिः।	
शस्भग्नीर्षवहद्रङ्गेपकप्ठे करुते तपः॥ ८८॥	

5

10

20

25

30

दीप्तिमन्तो भृशं यस्य राजन्ते दशनास्तताः।
स्तोद्गतशुभध्यानवृक्षस्य प्रसवा इव ॥ ८९ ॥
विभान्ति यिच्छरोदेशे पिलतालकपङ्कयः।
राहुभीलेव शरणागता इव शशित्विषः॥ ९० ॥
यद्गिरो वीक्ष्य माधुर्यमितिशायि सितोपला।
लज्जयेवाविशकाचधीं संक्षिप्तविग्रहा॥ ९१ ॥
दश्यते साम्प्रतं यस्मिन् निःस्षृहत्वमलौकिकम्।
न जातुचिद्दीयमानं धनं गृह्णाति कस्यचित्॥ ९२ ॥
भव्यामभोरुहसन्दोहविबोधनदिवाकरः।
वैराग्यरसपाथोधिसमुल्लासनचन्द्रमाः॥ ९३ ॥
अत्युग्रतपसां धाम ध्यानासक्तमनाः सदा।
भैक्ष्यमात्रोपजीवी च ब्रह्मचारी महामुनिः॥ ९४ ॥
इत्थं श्रीगुर्जरायातसामन्तादिजनोदितम्।
श्रीहीरसरेराकण्यं परभागं विशांपतिः॥ ९५ ॥

15 **§६. अकन्बरकृ**तहीरसूरेराकारणम् ।

स्फुरन्मानं ततः प्रैषीत्तेषामाहृतिहेतवे। श्रीमत्साहिबलानस्य गुर्जरेशस्य शाहिराट् ॥ ९६ ॥ क्रमेण तत्क्रमाम्भोजे तिसन् हंस इवागते। सम्यक खान्ते तदन्तःस्यं प्रमेयं प्रविभाव्य च ॥ ९७ ॥ श्राद्धान् वृद्धानथापृच्छय राजद्रङ्गनिवासिनः। गुरूनाजूहवत्सोऽपि ततो गन्धारबन्दिरात् ॥ ९८ ॥ आकर्ण्याकारणं ज्ञाहेः प्रतस्थे श्रीगुरुस्ततः। जाङ्गिकैः राकुनैः सानुकूलैः सूचितवैभवः॥ ९९॥ क्रमादहम्मदावादपुरे सूरिः समीयिवान्। नभोनीरधिवर्णिन्याः प्रतीरे सुप्रतीकवत् ॥ १०० ॥ प्रीतिप्रह्नैः प्रभुस्तत्र परिववे व्रतिवजैः। सुनासीर इवास्थानीमासीनः खर्गिणां गणैः॥ १०१॥ प्रबोधयन् सुरक्पद्मान् कुरक्पङ्कांश्च शोषयन् । स्पर्द्धयेव रवेः सुरेः प्रतापो व्यानदो दिदाः ॥ १०२ ॥ प्रातस्तत्रत्यसङ्घेन सार्द्धमुन्नतिपूर्वकम्। समं साहिबखानेन सुहृद्गोष्ठीं व्यधाहुरुः ॥ १०३ ॥ भृशमभ्यध्र्यमानोऽपि तेन यानादिवस्तुभिः। तदीयं नाग्रहीत् किञ्चिन्निःस्पृहा मुनयो यतः ॥ १०४ ॥

आगलोपाश्रये तत्र स्थित्वा सल्पित्नानि सः।
ततः प्रतस्ये सूरीदाः पूर्वाद्वेरिव भानुमान्॥ १०५॥
आद्भवर्गः प्रतिग्रामकृतप्रावेद्दिकोत्सवः।
श्रीहीरः पावनीचके कमात् फत्तेपुरं पुरम्॥ १०६॥
अनेकवाद्यनिर्घोषविधरीकृतिदेङ्मुखः।
श्रीसंघः स्थानसिंहाद्यः सर्वः संमुखमीियवान्॥ १०७॥
नमस्कृत्य कणेहत्य क्रमं तद्देशनारसैः।
गाङ्गेयरूप्यमुद्राभिरङ्गपूजां व्यधाच सः॥ १०८॥
तत्तत्तदङ्गविन्यस्तं खर्णमुद्रामिषात् किम्र ।
श्रीगुरून् सेवयांचके खर्णं तत्कान्तिकाङ्क्ष्या॥ १०९॥

गिरास्तदम्भतः किं तद्ववयच्द्रं निषेविरे॥ ११०॥

् ६ ७. शाहिअकब्बर-हीरसूरिसम्मिलनवर्णनम् ।

तिसन्नेव दिने प्रीतिपूर्वकं शाहिना समम्। पूर्वोक्तसचिवद्वारा मिलितास्ते महौजसः ॥ १११ ॥ 15 हर्षोत्कर्षोस्लसस्सान्तषकत्रौ तत्रैव विष्टरे । पुष्पदन्ताविवैकन्न ताबुभावपि तस्यतः ॥ ११२ ॥ धर्म पप्रच्छ भूभर्ता खागतप्रश्नपूर्वकम्। सर्वोत्कृष्टतमं ते च दयामूलं तमभ्यधुः ॥ ११३॥ अत्यन्तमृगयासक्तमनसोऽपि महीपतेः। 20 तदाकण्यीभवत्तस्य क्रूपया कोमलं मनः ॥ ११४॥ कारं कारं नमस्कारं दर्श दर्श च दर्शनम्। सारं सारं गुणग्रामं वारं वारं ऋपोऽवदत् ॥ ११५ ॥ अहो ! पादुरभृद्गाग्यमहो ! वृष्टिरभ(९७न ?)भ्रभुः । लोचनाभ्यां यद्य त्वं दृष्टः शिष्टशिरोमणिः॥ ११६॥ 25 भूलोके भोगिलोके च खलींके स न कश्चन। येनोपमीयसे तेन त्वमेव त्वन्निदर्शनम् ॥ ११७ ॥ भूमान् भूयोऽप्यभाषिष्ट तद्गुणान् वीक्ष्य विस्मितः। श्रीमद्भ्यः किं निरीहेभ्यो दातुमौचित्यमञ्चति ॥ ११८॥ ततोऽसदीयसौधेऽस्ति जैनराद्वान्तपुस्तकम् । 30 **ऊरीकृत्य तद्**साकं विधेयोऽनुग्रहो महान् ॥ ११९ ॥ इत्युदीरितमाकण्यं सकर्णगणकेसरी। तत् समादाय तत्रैव चित्कोशीकृत्य मुक्तवान् ॥ १२० ॥

10

पुनः प्रोचे पुरस्तस्य भूजानिर्भृभृतां वरः ।

यदिष्टं भवतामसाद् गृह्यतामनुगृह्य नः ॥ १२१ ॥

प्रसुः पर्युषणापर्वदिनान्यष्टौ विशिष्टधीः ।

अहिंसां सर्वजन्तृनां ययाचे भूमरूत्वतः ॥ १२२ ॥

ततः प्रशान्तमूर्त्तित्व-निःस्पृहत्वादिरक्षितः ।

तान्यहानि ददौ तसौ चतुरम्यधिकानि सः ॥ १२३ ॥

श्रीशाहेर्मिलने लाभो गुरूणां योऽभवत् तदा ।

अनेकाभी रसज्ञाभिः शक्यो वर्णयितुं न सः ॥ १२४ ॥

वर्षाश्चतस्रह्ये प्रविधाय प्रतस्थिरे ।

शान्तिचन्द्रमुपाध्यायं तत्र मुक्तवाऽथ सूरयः ॥ १२५ ॥

शोधयन्तः प्रतिग्रामं भव्यलोकांश्च भूरिशः ।

गूर्जरं पावनीचकुः कमात् श्रीहीरसूरयः ॥ १२६ ॥

प्रतापाक्रान्तदिक्चको भृशकः शक्विकमः ।

अगात् तद्गमनादर्वाक् शाहिलीभपुरं पुनः ॥ १२७ ॥

सूरेर्भूघनबोधनादिचरितप्रोद्भृतकीर्त्तिप्रथां प्रीत्याऽऽकण्यं शिरो विघूर्णनपरे जातेऽखिले विष्टपे। श्रोतुं सोत्सुकमानसो दशशतीमक्ष्णामिवाखण्डलः कर्णानाममरावतीविरचितावासाद्वृणीते विधेः॥ १२८॥

इत्युपाध्यायश्रीसिद्धिचन्द्रगणिविरचिते श्रीशत्रुख्यादिसमस्ततीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृतकारिमहोपाध्यायश्रीभानुचन्द्रगणित्रभावकपुरुषचरिते नगरनृपसचिवभट्टारकश्रीहीरविजयस्रिश्रीशाहिमिलनधर्मगोष्ठीकरणद्वादशदिवसामारिस्फुरन्मानप्रदानश्रीगुरुगूर्जरागमनादिवर्णनो नाम प्रथमः प्रकाशः ॥ १ ॥

20

15

॥ द्वितीयः प्रकाशः ॥

इतश्च - कोऽपि मेधाविमूर्द्धन्यो लुम्पाकानां मतेऽभवत्।	
श्रीहानर्षिरिति ख्यातो नाम्नाऽमेध्ये मणिर्घथा ॥ १ ॥	
सिद्धान्तानेष निध्याय कदाचिचित्तचक्षुषा ।	
प्रतिमामाईतीं चित्रवर्ह्धीं चाष इवैक्षत ॥ २ ॥	5
स्त्रम्पाकानां मतात्तस्मादिव कारानिकेतनात् ।	
निर्गन्तुं कामयामास स हानर्षिम्रनिस्ततः ॥ ३ ॥	
तन्मताधिकृतान् वेषधरान् वाग्रुरिकानिव ।	
पाद्ये पातयतो मुग्धान् मृगानिव विवेद सः ॥ ४ ॥	
अमी बीङ्कां प्रकुर्वन्ति बका इव शनैः शनैः।	10
सर्ता सम्यग्दद्यो हन्तुं काङ्कृतः राफरीरिव ॥ ५ ॥	
विगोपनमिवैतेषां वेषं वेषभृतामवैत्।	
तन्मतस्यं पुनर्मेने सोऽन्धकूपगतं निजमु ॥ ६ ॥	
आप्तोक्तिरत्नगभीयाममीषां प्रतिमाईताम् ।	
निधिकुम्भीव दुःस्थानां पथिकी नाभवृदृशोः ॥ ७॥	15
ऐहिकामुष्मिके सौख्ये दूरेऽत्र स्थायिनो म[म]।	
नीरतीरे सरःपङ्के निमग्रस्थेव दन्तिनः ॥ ८॥	
स पल्वलमिवामेध्यं हंसो लुम्पाकपुङ्गवः।	
अत्याक्षीत् पक्षमात्मीयं समं शिष्यैः परःशतैः ॥ ९॥	
लक्ष्मीलीलाललामं स तुपापक्षमशिश्रियत्।	20
प्राणमत् प्रतिमां जैनीं जयी राजेव मातरम् ॥ १० ॥	
तस्य निःशेषशिष्येषु चूडारत्नसमप्रभः।	
अभूत् सकलचन्द्राख्यः श्रीवाचकपुरन्दरः ॥ ११ ॥	
कृतोद्वाहार्थसामग्रीमप्यायोज्य व्रतोत्सवे ।	
वैराग्यादग्रहीदीक्षां सः श्रीजम्बुकुमारवत् ॥ १२ ॥	25
निपीय भारतीर्यस्य नाद्रियन्ते बुधाः सुधाम् ।	
तेनाङ्कयाजतश्चन्द्रे संजातः दौवलोदयः ॥ १३ ॥	
प्रावर्त्तत यतः सप्तदशभेदजिनार्चनम् ।	
जाह्नवीव हिमप्रस्थाज्जगत्कर्तुरिव प्रजा ॥ १४ ॥	
प्रतिद्रङ्गं प्रतिग्रामं प्रतिपर्वोत्सवं च यत् ।	30
कर्त्तुः कीर्त्तिरिवाद्यापि जनैः सर्वेत्र गीयते ॥ १५ ॥	
निःशेषशेमुषीमुख्याः शिष्या विख्यातकीर्त्तयः ।	
बभवः शतशस्तस्य हिमाद्रेरिव सुनवः ॥ १६ ॥	

तेषां श्रीसूरचन्द्र-श्रीशान्तिचन्द्राभिधौ पुनः। मुख्यौ बभूवतुः शिष्यौ ज्योतिषां पुष्पदन्तवत् ॥ १७॥ सहस्रार्चिरिवादर्शि सूरचन्द्रस्तु सूरिभिः। निजैयों घीगुणैर्युक्तं धिक्चके द्वादशार्चिषम् ॥ १८॥ विभाव्य प्रतिभां यस्य सर्वेशास्त्रावगाहिनीम्। 5 प्राप्तरूपैरिति प्रोचे किमियं कृष्णभारती ॥ १९॥ वादार्थे वादिनोऽनेके यत्समीपमुपस्थिताः। न वक्तमपि शक्तास्ते कृतमीनवता इव ॥ २०॥ विसायोत्पादिकैः पद्यैरपि सद्यो विनिर्मितैः। यः सुधीः पण्डितंमन्यैर्विवादं वादिभिव्येघात् ॥ २१ ॥ 10 भानुचन्द्राभिधस्तस्य शिष्यः सौभाग्यभाग्यभूः। अभूदन्तिषदां मुख्यः खर्नाथः खर्गिणामिव ॥ २२ ॥ सोऽनवद्यास्ततो विद्याः साधीते गुरुसन्निधौ। हार्द तासां च जग्राहाभिज्ञवन्मुग्धचेतसाम् ॥ २३॥ स्फुरत्कलिन्दिकावल्लीमुन्मदिष्णुकुवादिनः । 15 जयन यः सफलीचके वर्षन्निव घनाघनः ॥ २४॥ तदा तदाननज्योत्सानाथे स्वणिमामृतम्। चकोरेणेव पिवता नरते गुरुचक्षचा ॥ २५ ॥ प्रीतिवापीपयःपूराष्ठवनैः पुलकाङ्किताः । द्दुः 'प्राज्ञ'पदं तस्य श्रीहीरगुरवः खयम् ॥ २६ ॥ 20 कलौ खकामितापाप्ते लोकानालोक्य सीदतः। पूर्णकामांश्चिकीर्पुस्तान् खःसुरद्वमिवागतम् ॥ २७ ॥ खोदयाय कार्ले छुन्वा किम्रु कर्तुं कृतं युगम्। नक्तं दिनमिवादित्यं धर्मे मूर्त्तमिवोद्गतम् ॥ २८॥ चतुर्थार्कवल्लोकान् पश्चमेऽप्यारकेऽथवा । 25 अवतीर्णिमिवोद्धर्त्ते कृपया गौतमं पुनः ॥ २९ ॥ तपगच्छश्रिया लीलाललाममिव जङ्गमम्। यं सर्वोऽपि जनः स्नेहादैषीदेष निषेवितुम् ॥ ३० ॥–चतुर्भिः कलापकं ॥ वचनागोचरागण्यभाग्यसौभाग्यसेवधिः। दीक्षयामासिवानेषोऽनेकानिभ्यतनूभवान् ॥ ३१॥ 30 द्विषां भानुरिवासद्यः सतां सौम्यस्तु चन्द्रवत्। इति सान्वर्थनामानं भानुचन्द्राभिधं बुधम् ॥ ३२॥ शासनोन्नतिरेतसाङ्गाविनीति विभाव्य तम्। प्रैषीदकव्यरक्ष्मापसन्निधौ हीरसृरिराट् ॥ ३३ ॥–युमम् ॥

प्रमाणीकृत्य तद्वाचं वाचंयमिशारोमणिः।	
अगाह्याभपुरं प्रीत्या माकन्दं कीरवत् क्रमात् ॥ ३४ ॥	
तत्र श्रद्धाधिकः श्राद्धैः कृतपावेशिकोत्सवः।	
कुर्वन् भानुरिवोद्चोतं स प्रतिश्रयमागमत्॥ ३५॥	
ततोऽईच्छासनौन्नत्यं कर्त्तुकामः क्रमेण सः।	5
श्रीदोखधीसखद्वाराऽमिलद् भूजम्भविद्विषा॥ ३६॥	
वशीकृतेन्द्रियग्रामं प्रशान्तरसपूरितम् ।	
जगदुद्भृतये धर्ममवतीर्णिमिवातमेना ॥ ३७॥	
अथो निर्मन्थनाथं तं दर्शं दर्शं मुहुर्मुहुः।	
तर्काधीतीव कुरुते वितर्कानिति भूपतिः ॥ ३८॥-युगम् ॥	10
अद्वेतानां किमद्वेततयेवैकोऽवतीर्णवान् ।	
बितीयः किं मृगाङ्को वा तृतीयः किमु नेत्रयोः॥ ३९॥	
चतुर्थो वा किमु ब्रह्म चन्द्रच्डमुरद्विषाम्।	
वेदानां पश्रमः किं वा षष्टः किं सुरभूरुहाम् ॥ ४० ॥	
ऋतूनां सप्तमः किं वा वार्द्धीनां वा किमष्टमः।	15
न्वमः किं दिगीशानां निधीनां दशमः किम्र॥ ४१॥	
विष्णोदेशावताराणामसावेकादशः किमु।	
रुद्राणां द्वादशः किं वा किं वाडकीणां त्रंयोदशः॥ ४२॥	
विश्वविश्वत्रये विश्वदेवानां किं चतुर्दशः।	
र्कि चतुर्देशरत्नानामयं पश्चदशोऽथवा ॥ ४३ ॥	20
शरन्निशीथिनीनाथकलानां किमु षोडशः।	
क्षमाधुन्या धुनीदाः किं घियां कोदाः किमक्षयः ॥ ४४॥	
यशःसुमनसः किं वा वृन्दारकमहीरुहः।	
अनेकगुणरत्नानां किं सङ्केतनिकेतनम् ॥ ४५ ॥–सप्तभिः कुलकम् ॥	
सोत्साहस्तानिति पाह प्रथिवीपाकशासनः।	25
किचजागर्त्ति वो वार्त्तं वपुर्नाकामिति क्रमः॥ ४६॥	
नास्ते वस्तपसां वाधः सुप्रसन्नं मनोऽस्ति वः।	
अस्रजनपदे धर्मः कचिद्रः सुखमेधते ॥ ४७॥	
इदं निर्दिश्य दिल्लीशे मौनमालम्ब्य तस्थुषि ।	
सहस्राक्षेम्रीसुर्णामाचचक्षे विज्ञांपतिः॥ ४८॥	30
परमाप्तवचःश्रेणीसुधापानविधायिनाम् ।	
र्खार्गणामिव नो वार्त्तमस्ति नास्ति पुनः क्रमः॥ ४९॥	
इन्द्रियाश्वान् निरीहत्वरज्वा यंत्रयतां खयम्।	
पवर्तन्ते विना विष्यमनांसीव त्यांसि नः॥ ५० ॥	

अर्थोनामिह सर्वेषामनित्यत्वादिभावनैः। इवाम्भः कतकक्षोदैः सुप्रसन्नं मनोऽस्ति नः ॥ ५१ ॥ त्वय्यासमुद्रमेकातपत्रां धात्रीं प्रशासित । धर्मे विग्नः कुतोऽस्माकं सिंहे गर्जिति रङ्कवत्॥ ५२॥ इत्युक्तियुक्तिमाकण्यं महीदाकश्चमत्कृतः। 5 प्रमोदस्य परां कोटिमध्यगादवदत्पुनः ॥ ५३ ॥ भूषयन्तु भवन्तो मे सभां सौभाग्यशालिनः। प्रत्यहं त्रिद्शावासप्रभोः सप्तर्षिभूरिव ॥ ५४ ॥ खयमेव समाहूय प्रोचे दौवारिकं रूपः। एते मत्पार्श्वमायान्तस्त्वया वार्या न जातुचित्॥ ५५॥ 10 ध्वनत्सारध्वजध्वानपूरिताशेषदिङ्गुखम्। प्राप्तश्रीद्याहिसंमाना आययुस्ते प्रतिश्रयम् ॥ ५६ ॥ प्रत्यहं ते नृपाभ्यर्णं ततः प्रभृति वव्रजुः। निःप्रत्यूहमजायन्त श्रेयःकृत्यानि चाधिकम् ॥ ५७ ॥ अन्येद्युः प्रश्नयांचकुस्तानाऽऽहूय सगौरवम् । 15 खयं व्युतिपत्सवः शेखाः षड्दर्शनसमुचयम् ॥ ५८ ॥ तदुक्तं सविद्येषं तत् श्रुत्वा श्रीदोखपुङ्गवः। प्रोचे श्रीमन्मुखादेव शिक्षणीयमिदं मया ॥ ५९ ॥ प्रारेभे तल्लिपीकर्नुं श्रीशेखैः प्रत्यहं ततः। तहिनाद भवत्तेषां प्रीतिः स्फीतिमती मिथः ॥ ६० ॥ 20 अन्तर्गेडु स्वकीयस्यावस्थानं वीक्ष्य वाचकः। खप्रस्थानकृते दोखाः प्रार्थिताः प्रीतिपूर्वकम् ॥ ६१ ॥ ततः प्रोचे घराधीशं शेखस्तज्जल्पितं रहः। क्रर्वन्तु ते यथाभीष्टमित्युत्तरमदान्नृपः ॥ ६२ ॥ अद्यप्रभृति मत्पार्श्वे साम्प्रतं ये समागताः। 25 रक्षणीयास्त एवेति तमूचे च्पतिः पुनः ॥ ६३ ॥ प्रोचे शेखैस्ततः शान्तिचन्द्रानाहूय सत्वरम्। श्रीमतां चलनाज्ञाभूद् भानुचन्द्रास्तु रक्षिताः ॥ ६४॥ ततः शेखैरनुज्ञाताः शान्तिचन्द्राः प्रतस्थिरे। क्रमेण गूर्जरं देशं प्रापुः प्रथितकीर्त्तयः॥ ६५॥ 30 ततः श्रीदोखसाहाय्यात् श्रेयःकृत्यान्यनेकशः । जायन्ते जलसंपर्कात् दाश्वत् द्यस्याङ्करा इव ॥ ६६ ॥ नाम्नां सहस्रमन्येद्युर्द्विजातिभ्यो विवस्ततः। भूसुजा मार्गितं भूयो न प्राप्तं तैश्च कुत्रचित् ॥ ६७ ॥

भाग्याभ्युदयतस्तेषां मिलितः कोऽपि घीघनः।	
तेन दत्तं तदा तत्तैः श्रीशाहेः प्राभृतीकृतम् ॥ ६८ ॥	
तद्वीक्ष्य संमदोद्रेकात् श्रीशाहिस्तानभाषत ।	
'अध्येतव्यं मया कस्य सन्निघौ तन्निगद्यताम्'॥ ६९॥	
वशीकृतेन्द्रियग्रामो भूशायी ब्रह्मभृच यः।	5
स एवात्राधिकारी स्यादित्युक्ते द्याहिरब्रवीत् ॥ ७० ॥	
'युक्ता भवन्त एवात्र भवन्तस्ताहरींगुणैः।	
पूज्येरेव प्रतिप्रातः पाठनीयमिदं मम'॥ ७१॥	
इत्युदीर्य विभावर्या भूपः शुद्धान्तमध्यगात्।	
हर्षोत्कर्षोल्लसद्वक्षा विबुधश्च प्रतिश्रयम् ॥ ७२ ॥	10
अश्रान्तानन्तपद्वीलङ्घनैः श्रान्तवानिव ।	
शशी शनैः शनैरस्ताचलचूलामथाऽऽश्रयत्॥ ७३॥	
गर्भाइमगर्भचन्द्रस्म (?)कल्पितोत्तंसिकेव सा।	
अस्ताचलश्रीभीति सा मौलिलीलायितेन्दुना ॥ ७४ ॥	
चन्द्रश्रङ्गमणक्कान्तं खारानायितरोहितम्।	15
वनाय मोक्तमस्ताद्रेरध्यास्त किमधित्यकाम् ॥ ७५ ॥	
इतोऽभ्युदयते भानुरितश्चन्द्रोऽस्तमीयते ।	
इदं किमप्यनीदक्षमहो विलिसतं विधेः॥ ७६॥	
प्रेक्ष्य क्षपाक्षये चन्द्रं विद्राणं चन्द्रगोलिका।	
त्यत्तवा कान्तं ययौ कापि पुंश्वलीव यहच्छया॥ ७७॥	20
तमीप्रियतमो मध्यं प्रत्यग्द्वीपवतीपतेः।	
जनिकर्त्तुर्निजस्येव मिलनाय समीयिवान् ॥ ७८ ॥	
दत्वोदयं त्वमेवास्तं कथं दत्से प्रियस्य नः।	
तारका इत्युपालब्धुं भेजुरस्ताचलं किम्र ॥ ७९ ॥	
नक्षत्रपद्धतेः प्रातर्भ्रस्यन्तोऽम्बुधरादिव ।	25
क्षणाद्विलयमासेदुस्तारका करका इव ॥ ८० ॥	
निशाशनायितेनाभ्रपथे तारकतन्दुलाः।	
विनाननशकुन्तेन शंके कुक्षिगती।कृताः ॥ ८१ ॥	
गहरे भूभृतां ग्रसं तामसास्तापसा इव।	
कृशाः किस्र तपस्यन्ति पुनरभ्युदयाशया ॥ ८२ ॥	30
रजनीवियुजां जाने द्विजानामपद्यापतः।	
केरवाक्षी क्षणाद्राज्ञः क्षीणतां प्रतिपेदुषी ॥ ८३ ॥	
संसिम्रश्चः रार्शी कान्तां कामगादनुरागवान् ।	
इलालोक्यितं हांके तमी तमनजनमूची ॥ ८४ ॥	

तमसिन्या विधोः पत्युर्विरहासहमानया। प्रातःसन्ध्या बृहद्भानी खतनुः किमह्नयत ॥ ८५ ॥ उपभुज्य प्रियां प्राचीं विज्ञणा व्रजता दिवम् । ब्युत्सृष्टमिव ताम्बूलं शोणिमा प्रातस्ययौ ॥ ८६ ॥ सन्ध्यारागारुणं जैनं पदं प्रातर्व्यजायत। 5 अपूजि निर्जरेर्भिक्तिप्रहैः किं कुङ्कमद्रवैः॥ ८७॥ अथो पाथोजिनीनाथोऽभ्यदियाय न भोऽङ्गणे। कपोलकुङ्कमक्किन्नं प्राच्याः किं कर्णकुण्डलम् ॥ ८८ ॥ द्यावाभूमीपराभूण्णं भूछायामरवैरिणम्। भेत्तं व्यमोचि चण्डांग्रुचकं किं चक्रपाणिना ॥ ८९॥ 10 शोणादीसिर्दिनेशस्याधात् क्रमारितराश्रियम् । कोकैर्दुःखानलज्वाला किमुद्गीर्णो सुहृत्पुरः ॥ ९० ॥ निजानुरागिणीर्वीक्ष्य दारान् सोरसरोजिनीः। किमुद्गीर्णोऽरुणज्योतीरागो राजीवबन्धुना ॥ ९१ ॥ कुर्व्वन्निव गिरेः शृङ्गे गैरिकावनिविभ्रमम्। 15 ताम्बूलिअयमास्येषु दिग्वधूनां दिशन्निव ॥ ९२ ॥ सीमन्तेषु मृगाक्षीणां सिन्दूरं पूरयन्निव। प्रातः प्रस्तारयन् भाति भानुमान् भानुविश्रमम् ॥ ९३ ॥-युम्प् ॥ वैतालिककलध्वानकृतनिद्रावधिस्ततः । सोऽपि तल्पात्समुत्तस्यौ मराल इव पङ्कजात् ॥ ९४ ॥ 20 प्रारेभे भानुना व्योन्नि कमाबङ्गमणकमः। शाहिनापि प्रबुद्धेन बहिरागमनऋमः ॥ ९५ ॥ नृपोऽम्बरलसल्लक्ष्मीः कुवार्णः कमलोदयम् । सिंहासनमलंचके पूर्वाद्रिमिव भानुमान् ॥ ९६ ॥ इतो निःखाननिर्घोषैः शन्दाद्वैतं प्रसर्पिति । 25. इतः सर्वेत्र घावन्ति प्रतीहारास्तु लक्षराः ॥ ९७ ॥ इतो यष्टिमवष्टभ्य स्थिताः सामन्तपार्थिवाः। बीक्षितं लक्षशो लोका इतआयान्ति यान्ति च ॥ ९८ ॥ इतो गायन्ति गन्धर्वाः सुखरा इव किन्नराः। द्रिाताभिनया चत्यं क्रुवेते नर्त्तका इतः॥ ९९॥ 30. इतश्च बन्दिनो बाढं पठन्ति बिरुदावलीः। मुष्टामुष्टि मिथो मल्ला इतो युद्ध्यन्ति दुईराः ॥ १०० ॥ इतश्राभ्रंलिहेः केतुवजैराच्छादितं नभः। इतो देशान्तरायातभूषाः प्राभृतपाणयः ॥ १०१ ॥

इतस्तुङ्गा भ्रमद्भृङ्गाः कचिद् वल्गन्ति दन्तिनः।	
इतो धावन्महाव्यालजातकोलाहुलः कचित् ॥ १०२ ॥	
इतो दासेरकारब्धयुद्धस्तब्धस्थितो जनः।	
प्रचण्डाः पर्वतप्रायां इतो गर्ज्जन्ति दन्तिनः ॥ १०३ ॥	
भ्रमद्भ्याघव्रजक्ष्वेडात्रासिता जनता इतः।	5
इत उचैःश्रवःप्रख्या हेषन्ते हर्षिता हयाः ॥ १०४ ॥	
इत्थमाविभेवन्नेककौतुकाकृष्टमानसः ।	•
अकव्यरमहीदास्य राजलोको व्यराजत ॥ १०५ ॥	
नाम्नां सहस्रमध्येतुमुचतस्तिग्मरोचिषः।	
विस्मृतान्यरसस्तत्र श्रीशाहिस्तानजूहवत् ॥ १०६ ॥	10
भक्तिप्रह्वमनाः सम्यग् रवेरभिमुखः स्थितः।	
अध्यगीष्ट मुखात्तेषां मूर्द्धबद्धाञ्जलिस्ततः ॥ १०७ ॥	
पाठनात् प्रत्यहं प्रातः प्रभूणां प्रौढपर्षदि ।	
शुभोदर्कः प्रतापार्कः श्रीगुरूणामदीप्यत ॥ १०८॥	
ततः स्फीतिमती जज्ञे तीर्थकुच्छासनोन्नतिः।	15
ननर्त्त श्रीग्ररोः कीर्त्तिर्नटीव भुवनत्रये ॥ १०९ ॥	
अन्येगुस्ते रूपं प्रोनुर्दीनानुद्धर्त्तुमित्सवः।	
अष्टाहिकादिने दानं दत्तं शतगुणं भवेत् ॥ ११० ॥	
तदाकण्योत्रवीद्भुमानौपवस्त्रं विधाय तत्।	
दुःग्वितेभ्यः प्रदातव्यं मया खर्णादिकं महत्॥ १११॥	20
ततः स्नात्वा सभासीनः श्वेतवस्त्रविभूषितः।	
दीनेभ्यः खर्णमुद्राणां षट्सहस्रीमदत्त सः ॥ ११२ ॥	
साग्रहं खर्णमुद्रां तां दीयमानां महीसुजा।	
न् लल्कस्ते तृतस्तेनाज्ञायि यन्निःस्पृहा इमे ॥ ११३ ॥	
तदैवाजीजकोकानामिति विज्ञप्तिरागमत्।	25
आजौ जामं विनिर्जित्य गृहीतस्तज्जनोऽखिलः॥ ११४॥	
तन्निदाम्योल्लसद्धर्षप्रकर्षाकुलितः प्रभुः।	,
श्रीगुरून् व्याजहाराईं पूर्णपात्र प्रेगृह्यताम् ॥ ११५ ॥	
लैब्धलक्षेः स् तैः पोचे मुच्यतामनुगृह्य माम्।	
प्रसन्नीभूय सौराष्ट्रराष्ट्रवन्दीकृतो जनः॥ ११६॥	. 30
इतो बन्दीजनाः सर्वे मद्भिषदेशवर्त्तिनः।	
इतश्चेषां महापुंसां दाक्षिण्यमतिदुस्यजम् ॥ ११७ ॥	

१ उत्सवेषु सुद्दक्क्रियंद्वलादाकृष्य गृह्यते । वस्त्रमाल्यादि तत्पूर्णपात्रं पूर्णानकं च तत् ॥ १ ॥-टिप्पणी । २ अवसरक्षेः ।-टिप्पणी ।

	इत्यालोच्य क्षणं तस्यौ घरित्रीरमणः खयम् ।
	मा भवत्पार्थनाभङ्गो विसृहयेत्यवदत् पुनः ॥ ११८॥
	मोचनं बन्दिवृन्दानां कियन्मान्नमिदं पुनः ।
	भवत्प्रार्थनया सर्वः सौराष्ट्रोऽपि प्रदीयते ॥ ११९ ॥
5	तस्मिन्नेव क्षणे तेषां बद्धवन्दिविमुक्तिकृत् ।
	सौवमुद्राङ्कितं कृत्वा स्फुरन्मानं स दत्तवान् ॥ १२० ॥
•	ते च तत्प्रेषयांचऋग्रीरोर्गुर्जरमण्डले ।
	स्त्रीयं च सर्वदेशेषु शरचन्द्रोज्वलं यशः॥ १२१॥
	इतो लाभपुरद्रङ्गे नासीत्पूर्व प्रतिश्रयः।
10	इति व्यचिन्तयचित्तेऽन्यदा ते तचिकीर्षवः ॥ १२२ ॥
	म्लेच्छा मिथ्यादशश्चान्येऽप्यसाद्धर्मिष्ठेषो यतः।
	कर्तुं शक्यो विना शक्तिं ततो नात्र प्रतिश्रयः॥ १२३॥
	अत्रार्थे किमु कर्त्तव्यमित्युपाये कृताद्यायाः।
	ययुः श्रीमत्सुरत्राणाध्यापनाय चिरेण ते ॥ १२४॥
15	महीन्द्रस्ताँश्चिराऽऽयातान् गुरून् न्यजीगदत्ततः।
	चिरेणाद्यागतास्तत्र किं निदानं निगद्यताम् ॥ १२५ ॥
	विस्तीर्णेऽपि पुरे दूरे स्थानं सङ्कीर्णमस्ति नः।
	तत्रापि तन्न चात्मीयं नानुकूलश्च तत्पतिः॥ १२६॥
	तिचन्ताव्याकुलखान्ततयैवाच स्थितश्चिरम् ।
20	तेषामित्युक्तमाकर्ण्य पूर्णप्रेमाऽवदत्रृपः ॥ १२७ ॥
	सुधोज्ज्वलानि सौधानि रम्यहर्म्याणि चाश्रमाः।
	सन्ति मे यद्भवद्योग्यं स्थानं तत् प्रतिगृह्यताम् ॥ १२८ ॥
	विभाव्येत्यात्मनीनं तन्नायतौ ग्रहणं यतः।
	ततस्तैस्तत्कृते भूमिः प्रार्थिता भूभुजः पुरः ॥ १२९ ॥
25	तदा तां तद्वचो भूमानुरीकृत्य पदत्तवान् ।
	प्रारन्धश्च ततः संघैर्मध्येद्रङ्गं प्रतिश्रयः॥ १३०॥
	रानैः रानैर्वर्द्धमानः प्रत्यहं तन्मनोरथैः।
	क्रमेण पूर्णतां प्राप शुक्रपक्षे राद्मीव सः ॥ १३१ ॥
	यस्पित्रभ्रंलिहैः शृङ्गैः स्फटिकोपलनिर्मितैः ।
30	इत्याराङ्किष्ट पुर्लोकः किमसौ स्फटिकाचलः ॥ १३२ ॥
	तारासु तन्दुलभ्रान्या यदुचैः शिखरस्थिताः।
	तुण्डं ताण्डवयामासुर्मुग्घाः सर्वेऽपि पत्रिणः ॥ १३३ ॥
	शातकुम्भम्यैर्पेत्र कलशैः शिखरस्थितैः।
	अराङ्कि विस्मितेलेंकैः रातसूर्यं नभस्तलम् ॥ १३४॥

श्रीज्ञान्तिखामिनश्रेलं तन्मध्ये च विनिर्ममे ।	
तथैवोद्गासितं खर्णकलशैरुल्लसद्घ्वजैः ॥ १३५ ॥	
प्रासादमौलिमारु वृत्यन्त्याः सुकृतश्रियः।	
लोलं हस्तमिव प्रेक्ष्य तद्ध्वजं मुमुदे जनः ॥ १३६॥	
तचारुतोरणस्तम्भभाजो वन्दनमालिकाः।	5
लक्ष्म्याः खभावलोलायाः केलिदोलाकलां लल्कः ॥ १३७ ॥	
चतुर्विधस्य सङ्घस्यानेकधा धर्मकर्मभिः।	•
तत्रैकच्छत्रमालोक्य साम्राज्यं धर्मभूपतेः ॥ १३८॥	
मनोरथतरुर्जज्ञे श्रीगुरूणां फलेग्रहिः।	
तत्प्रत्यूहकृतां तत्रावकेशी कुदृशां पुनः ॥ १३९ ॥–युमम् ।	10
अन्यदा मूलनक्षत्रे वृद्धसूनोर्महीभुजः।	
अभूत्तस्य कृपासिन्धोर्दुहिता दैवयोगतः ॥ १४० ॥	
तत्पितुः किंचिदादिष्टं कष्टं शिष्टजनैस्ततः ।	
आहूय श्रीगुरून पोचे श्रीशाहिः संसदि स्थितः॥ १४१॥	
विघ्रध्वंसकृते कश्चित्प्रतीकारो विधीयताम् ।	15
महीशस्तैरिति प्रोचे ततस्तद्विष्ठशान्तये ॥ १४२ ॥	
अष्टोत्तरशतलात्रविधानाज्जिनमंदिरे ।	
विद्याः सर्वे विलीयन्ते तामसास्तरणेरिव ॥ १४३ ॥	
जगाद जगतीजानिः प्रसन्नवद्नस्ततः।	
त्वर्यतां त्वर्यतामत्र विलम्बो नैव युज्यते ॥ १४४ ॥	20
द्रष्टुकामो भवत्स्नात्रविधिं युष्मदुपाश्रये ।	
अहमप्यागमिष्यामि दोखुजीसहितः खयम् ॥ १४५॥	
तत्कृत्यकरणादेदाः श्रीद्याहेर्गुरुभिस्तदा ।	
योग्योऽयमिति विज्ञाय थानसिंहस्य दापितः॥ १४६॥	
लम्बमानैर्मणिमुक्ताजालैः खर्णांद्युकैः पुनः ।	25
अथैत्य थानसिंहस्तं प्रतिश्रयमभूषयत् ॥ १४७ ॥	
शिल्पिभः कारितस्तत्र मण्डपश्च महीभुजः।	
श्रेयःश्रियं वरीतुं किं खयंवरणमण्डपः ॥ १४८ ॥	
एतद्च्यतिकरेऽनेककौतुकालोकलालसा ।	
त्रिलोकी चित्रदम्भेन मण्डपे किमुपेयुषी ॥ १४९ ॥	30
विस्तीर्णोऽपि स सङ्कीर्णो वभूवानेकनागरैः ।	
भाविश्रीवाचकागण्यपण्या क्रकैनिवा गतैः ॥ १८८ ॥	

निश्चि तारैरिवाकाशो भ्रियमाणः स निर्भरम्। सन्महोमिलितै रेजे पौरैर्जानपदैर्जनैः ॥ १५१ ॥ इतः खरतरश्राद्धमुख्यो मान्यश्च भूभुजाम्। तत्कृते कर्मचन्द्रोऽपि प्रेषितस्तत्र शाहिना ॥ १५२ ॥ वाद्यमानमहावाद्यरवैः पूरितदिक्पथः। 5 चतुरङ्गचमूचक्रभारैराक्रान्तभृतलः ॥ १५३॥ पदातीभृतसामन्तपार्थिवैः परिवेष्टितः। अथो महीमहेन्द्रोऽपि खयं तत्र समीयिवान् ॥ १५४ ॥-गुग्गम् । उत्क्षिप्यमाणराजाईधूमव्याप्तघनाश्रयम् । श्रेयःपात्रं व्यधुः स्नात्रं थानसिंहादयस्ततः ॥ १५५ ॥ 10 श्रीशेखुजीजुषः शाहेस्तस्थुषः श्रीजिनाग्रतः। भक्तामरमहास्तोत्रमश्रावि गुरुभिः खयम् ॥ १५६॥ अथो गर्भगृहात् ज्ञाहिरागमद्रङ्गमण्डपम् । प्राग्गिरः कन्दरं क्रीडाङ्गास्त्रानिव नभोऽङ्गणम् ॥ १५७ ॥ द्याहिश्च द्याहिजातश्च तस्थिवांसौ गुरोः पुरः **।** 15 तत्र शोभां लभेते सा सूर्याचन्द्रमसाविव ॥ १५८ ॥ इतस्तत्र कृतसात्रः स्थानसिंहः शुभारायः। गजांश्च तुरगान् रम्यान् पुरः ज्ञाहेरढौकयत् ॥ १५९ ॥ त्रयोदशशतखर्णमुद्राणां मौक्तिकस्रजम्। मंत्रीद्याः शाहिजातस्य कर्मचन्द्रोऽप्यढौकयत् ॥ १६० ॥ 20 प्रत्येकं दौकयांचकुरन्येऽपि श्राद्धपुङ्गवाः। नानाखर्णाम्बरखर्णभूषणानि यथोचितम् ॥ १६१ ॥ ततः लात्रजलं खर्णपात्रस्यं प्रीतिपूर्वकम्। निधाय नेत्रयोः पश्चात्प्रैषीदन्तः पुरे नृपः ॥ १६२ ॥ इतो जयजयारावं पेटुर्मङ्गलपाठकाः। 25 नृत्यं वितेनिरे वारवध्वो देव्य इवागताः ॥ १६३ ॥ चिकरे खस्तिकश्रेणीं मौक्तिकैः सधवाः स्त्रियः। बबन्धुश्राम्रपत्राणां तोरणानि च मालिकाः ॥ १६४॥ अवाद्यन्त पुनर्वीणामृदङ्गाद्या सारध्वजाः। ययाचे याचकश्रेणी दत्ताः । कासीरहस्तकाः ॥ १६५ ॥ 30 इत्थं स्नात्रोत्सवे तस्मिन् द्युद्युभे स प्रतिश्रयः । स्कन्धावार इव प्रौढपमोदाभिधभूपतेः ॥ १६६ ॥ इवाब्दः खर्णधाराभिर्वर्षन् हर्षप्रकर्षतः। अथो पृथ्वीपतिः प्रापदनुज्ञाप्य गुरून् गृहे ॥ १६७ ॥

ततः खश्रेयसः श्रेणीवल्ली विस्तारमीयुषी ।	
शाहेश्च शाहिजातस्य बभूव नवपल्लवा ॥ १६८ ॥	
<i>y y y</i>	
अन्यदानन्यराजन्यपूर्णायां पर्वदि स्थितम् ।	
गुरवोऽध्यापयांचकुः प्रातः पृथ्वीपुरन्दरम् ॥ १६९ ॥	
मुद्धर्भेद्द्वर्भद्दानन्द्पीयूषल्हरीमिव ।	5
प्रसन्नां श्रीगुरोर्मूर्ति दर्शं दर्शं जहर्ष सः ॥ १७० ॥	
मुखाज्ञविलसद्वाणीं रणन्नूपुरहारिणीम् ।	
उज्जगार गिरं कर्णसुधां स वसुधाधवः ॥ १७१ ॥	
युष्माकं संप्रदायेऽस्मिन् समग्रगुणशालिनाम् ।	
सार्वभौममिवास्माकं किम्रुत्कृष्टतरं पदम् ॥ १७२ ॥	10
अस्त्याचार्यपदं मुख्यमुपाध्यायपदं पुनः।	
तेषामित्युक्तमाकर्ण्य भूगो भूमानजीगदत्॥ १७३॥	
परभागवतां तुत्रभवतां भवतां पुनः।	
प्रोक्तयोरनयोर्भध्ये किमास्ते तन्निगद्यताम् ॥ १७४ ॥	
गुर्वायत्ततयाऽस्माकमवस्थानाच दूरतः।	15
अप्येकमनयोर्नेवास्माकमद्याप्यजायत ॥ १७५ ॥	
तन्निशम्यावदद्भूमान् भूयोभूयः कृताग्रहः।	
तर्हि दत्तं तदसाभिराचार्यपदमस्तु वः ॥ १७६ ॥	
तदाचार्यपदं नैवास्माकमौचित्यमश्रति ।	
तज्जुषः सन्ति तचोग्या यतः श्रीहीरसूरयः ॥ १७७ ॥	20
इलालोक्य चपस्तेषां निःस्पृहत्वमलौकिकम्।	
अजोषिष्ट समज्यायामस्तवीच पुनः पुनः ॥ १७८॥	
अन्येद्युः सर्वभूपश्रीहृतिदृतीभवन्मतिः।	
उपाध्यायपदं तेषां शेखः शाहरदापयत् ॥ १७९ ॥	
महेन महतोपेल खयमेव प्रतिश्रयम्।	25
श्राद्धान् सर्व्वान् समाहृय तच सर्व्वमचीकथत् ॥ १८० ॥	
तद्भचःश्रवणात्ते च प्रमोदभरमेदुराः।	
नचतुर्जलदध्वानादिव सर्व्वेऽपि केकिनः ॥ १८१ ॥	
अथौचित्यविदां मुख्यैस्तैरभाषीति धीसखः।	
पारंपर्यागतास्माकं रीतिरेषैव वर्त्तते ॥ १८२ ॥	30
पद्मदान रभृतिगुर्वायत्तं न चान्यतः ।	
लिखित्वा तन्नुपादिष्टं ज्ञाप्यमस्मद्वरोरिदम् ॥ १८३ ॥	

10

श्रीशेखस्तिबिकीः शाहेः स्फुरन्मानमलीलिखत्। श्रीग्ररोः प्रेषयांचके राजधन्यपुरे पुनः॥ १८४॥ आकलय्य प्रमेयं तत् स्फुरन्मानान्तरिखतम्। प्रमाणीकृत्य सलेहं श्रीशाहेरनुशासनम्॥ १८५॥ वासं प्रतिष्ठितं पेष्य श्रीहीरग्रदाः खयम्। छेखद्वारा ततस्तेषामुपाध्यायपदं ददुः॥ १८६॥—गुम्मम्। यत्कीर्तिं नरनिर्द्धरोरगवधूपारन्धनृतस्तुर्तिं श्रुत्वाऽस्यामनुरागितां त्रिभुवने विश्रत्यदश्चां हृदा। शर्वाणां विधरत्वमुद्धतरवैस्तारं गजैर्गहिति॥ १८७॥

इति श्रीतपागच्छे पातिसाहिश्री अकब्बर्प्रतिबोधदायक महोपाध्यायश्री ५ श्रीभानुचन्द्रगणिप्रभा-वक्रपुरुषचरिते पण्डितश्रीहानर्षिगणिप्रभृतिपट्टपरम्पराप्रादुर्भावनश्रीशाहिमिलनसूर्यसहस्त-नामाध्यापनाष्टोत्तरशतस्त्रात्रविधापनप्रतिश्रयागमनोपाध्यायपद-प्रदापनादिवर्णनो नाम द्वितीयः प्रकाशः ।

॥ तृतीयः प्रकाशः ॥

अथो यथाजनिष्ट श्रीसिद्धाद्रेः करमोचनम् ।	
तथोच्यते यतो न स्यादायतौ संशयो चणाम् ॥ १ ॥	
ज्ञानं विना परोदन्तः सम्यग् ज्ञातुं न दाक्यते ।	
जाद्ववीव यदेको ऽपि दातधा भिद्यते हि सः ॥ २॥	5
अन्यदोर्वीपतिः प्रातः पर्षेदि प्रौढविक्रमः।	
बद्धमूर्द्धाञ्जलिक्ष्मापसहस्रैः सेवितक्रमः ॥ ३ ॥	
मौक्तिकश्रेणियुक्तेन सितच्छत्रेण शोभितः।	
श्वाशिनेव सपर्यार्थमागतेन समं ग्रहैः॥ ४॥	•
चलैश्चन्द्रोज्ज्वलैश्चारुचामरैः कृतविभ्रमः ।	10
जाह्नवीयैरिवाजिह्मैः प्रवाहैस्तुहिनाचलः ॥ ५ ॥	
अद्रेयदृष्यभृनमुक्तदृषणः स्फारभूषणः।	
सुरेन्द्र इव दौलेन्द्रं सिंहासनमिशिश्यत् ॥ ६ ॥–चतुर्भः कलपकम् ।	
इतः सप्रश्रयं द्वाःस्य इति प्रण्यगदन्नृपम् ।	
केइमीरादागतं कश्चिद् द्वारि तिष्ठति वारितः ॥ ७ ॥	15
आदिदेश विशामीशो मुच्यतां मुच्यतां हि सः ।	
अथौत्सुक्यादगादेष सहर्षः पर्षदन्तरे ॥ ८ ॥	
स सभान्तः सभासद्भिः कचित्रीलाइमकुद्दिमे ।	
जलभीलोद्धरन् वासः सहासमवलोकितः ॥ ९ ॥	
आकाशस्प्रिक सम्भस्वितांगतया कचित्।	20
अन्यन्रापि चचारासौ न्यस्तहस्तः पुरः पुरः ॥ १० ॥	
रत्नस्रम्भसमालम्ब प्रतिबिम्बमवेक्ष्य सः।	
कूच्छ्रेण जज्ञे विज्ञोऽपि तत्त्वतः पृथिवीपतिम् ॥ ११ ॥	
नमस्कृत्य चपं पुञ्जीभूतहारः स भूतले।	
वेत्रिविज्ञापितस्थाने तस्थावुर्द्वैदमस्ततः ॥ १२ ॥	25
नृपस्तं प्रत्यभाषिष्टाम्भोदगम्भीरया गिरा ।	
अभ्युपेतो मदभ्यर्णं किमुद्दिश्य प्रकात्त्यताम् ॥ १३ ॥	
जगद्गीतगुणग्रामं पूर्वं कर्णातिथीकृतम् ।	
अथो दृग्विषयीकर्तुं साक्षात्त्वामभ्युपागमम् ॥ १४ ॥	
इत्याकण्ये पुनरुव्धवर्णः प्रण्यगद्त्रुपः ।	30
केइमीरे किमिवाश्चर्यं दृष्ट्या त्वं दृष्टवानसि ॥ १५ ॥	
पालेयधवलैः शैलैर्विशालैरुज्ज्वलः कचित् ।	
विश्वप्रसुमरैर्युष्मचक्रो[भि]रिव सर्वतः ॥ १६ ॥	

	4
	प्रफुष्टैः पिञ्जरीभूतः कचित्कुङ्कमभूरुहैः ।
	रक्तैरुचत्प्रतापैस्ते पिण्डीभूय स्थितैरिव ॥ १७ ॥
	स्थाने स्थाने लसह्रक्ष्मीः प्रफुक्षेः पङ्कजवजैः ।
	त्वन्मुखाम्भोरुहश्रीभिर्जितैस्तत्र स्थितैरिव ॥ १८ ॥
5	युष्मन्मुखमिव ब्रह्मपुत्र्या प्रत्यक्षमाश्रितः ।
	देश एवायमाश्चर्यमयः सर्वोऽपि किं ब्रुवे ॥ १९ ॥–चतुर्भः कलपकम् ।
	तन्निदाम्य स तचेता जज्ञे तद्दर्शनोत्सुकः ।
	विशिष्य धीसखैः <u>शेखमु</u> ख्यैरुत्साहितः पुनः ॥ २० ॥
•	अथ प्रास्थानिके लग्ने कृतप्रस्थानमङ्गलः ।
10	चचाल क्ष्मापतिर्दिइयुत्तरस्यामुग्रशासनः ॥ २१ ॥
	नेदुस्तदा रिपुप्राणप्रयाणपटहोपमाः ।
	निःखाननिकराः द्राब्दैरुदरंभरयो दिद्याम् ॥ २२ ॥
	चेले समन्ततस्तेन सामन्तैश्च समं ततः।
	सितां शुनेव नक्षत्रैः स्फुरत्तेजोमयात्मभिः॥ २३॥
15	अथ प्रतस्थे वेगेन हास्तिकं गर्जितोर्जितम्।
•	प्रत्यर्थिक्षितिभृत्तेजोदाववारिदमण्डलम् ॥ २४॥
	संसिच्य मदपायोभिः संवीक्ष्य श्रुतिमारुतैः।
	करिणः कम्पयामासुः ज्ञीतार्तामिव मेदिनीम् ॥ २५ ॥
	मारुतस्य मुखे धूलिं क्षिपद्भिश्चरणोद्धताम् ।
20	तरक्नैरिव पाथोधेस्तुरक्नै(॰रगै)श्र्वितं तदा ॥ २६॥
	निजानाकारयन्तोऽथ कार्यन्तो गतेर्जवम् ।
	ध्वजाश्रलैश्रलेश्रेलुः समेनैव पथा रथाः॥ २७॥
	प्रभुप्रदत्तसद्दूष्ये वसन्तः शोखसन्निधौ ।
	अत्याग्रहवज्ञात् ज्ञाहेर्गुरवोऽपि प्रतस्थिरे ॥ २८ ॥
25	स्थिरामस्थिरयद् वेगात् तचचाल बलं तदा ।
	उचढूलिभरैरविंघ गम्भीरमगभीरयत् ॥ २९ ॥
	गाम्भीर्यं दर्शयन्तोऽपि तदा सैन्यैः कदर्थिताः।
	तत्कालं कलयामासुः कल्ठपत्वं जलादायाः ॥ ३०॥
	क्रमेण भम्भरोपान्ते वीक्ष्य सैन्यं श्रमाकुलम् ।
30	दिनानि कतिचित्तस्यौ तद्विश्रान्तिकृते चपः ॥ ३१ ॥
	विमलाद्रिमहातीर्थमात्मसात्कर्तुमुद्यतैः ।
	कृताः खरतरैस्तत्रोपायाः प्रच्छन्नवृत्तिभिः ॥ ३२ ॥
	ज्ञात्वा गुरुभिरप्येवं विज्ञप्तः शेखधीसखः।
	अस्माकं पुण्डरीकारूयं तीर्थमेते जिद्यक्षवः ॥ ३३ ॥

अथातर्कित एवासौ प्रतस्थे भूपतिस्ततः।	
तथैव गुरवश्चेलुस्तस्थुस्तत्रैव ते पुनः ॥ ३४ ॥	
पर्वतान् रत्नपञ्चाल-पीरपञ्चालसंज्ञितान् ।	
बहुनुस्रङ्घयन्मार्गे प्राप श्रीनगरं प्रभुः ॥ ३५ ॥	
आगतेऽर्कदिने पातस्तन्नामाध्यापनादनु ।	5
विज्ञप्तिविषयीचकुर्ग्धरवस्तं विशांपतिम् ॥ ३६ ॥	
अस्ति शत्रुञ्जयस्तीर्थं देशे सौराष्ट्रनामनि ।	
तद्यात्रां कर्त्तुमनसः सन्ति श्रीहीरसूरयः ॥ ३७ ॥	
भागधेयस्तदध्यक्षेर्यह्यते प्रतिमानुषम् ।	
प्रसद्य प्रीणनीयास्ते प्रभुभिस्तद्विमोचनात् ॥ ३८ ॥	10
श्रीगुरूक्तं तदाकण्यं समस्दीनेति विश्वतम् ।	
खानाजमसुतं ज्येष्ठं व्याजहारेति भूविभुः ॥ ३९ ॥	
श्रीगुरी हीरसूरीन्द्रे तत्र यात्रार्थमागते।	
अद्धावतां न केषाश्चिद्राद्यं शुल्कमतः परम् ॥ ४० ॥	
मदुक्तोदन्तसंयुक्तं पत्रं सौविपतुस्त्वया।	15
भानुचन्द्रमुनीन्द्राय लिपीकृत्य प्रदीयताम् ॥ ४१ ॥	
इत्युत्तवा तं गतः शाहिः शुद्धान्तं सोऽपि तत्क्षणात्।	•
तिल्लिखित्वा ददौ तेषां तैः पुनः प्रेषितं गुरोः॥ ४२॥	
अथो खरतरेरीर्ष्याभरेस्तत्क्षन्तुमक्षमैः।	
विभुविज्ञपयांचके दीनैदीनतरैः खरैः॥ ४३॥	20
युष्मत्सेवैकचित्तानां नित्यमाशीर्विधायिनाम् ।	
देव ! ज्ञात्रुञ्जयस्तीर्थं दीयतामनुगृह्य नः ॥ ४४ ॥	
कुत्रास्ति बृत तत्तीर्थमित्यूचे यावता चपः ।	
श्रीशेखस्तावताऽकस्मादित्याख्यदसमंजसम् ॥ ४५ ॥	
भूरिशुल्कागमात्तत्र भूयान् लाभोऽस्ति भूभुजाम्।	25
तन्निशम्य विमृश्यान्तः किञ्चिदित्याह तं नृपः ॥ ४६ ॥	
मुनीनामात्मनीनानां तत्र यात्रार्थमीयुषाम् ।	
न ग्राह्यं ग्रुल्कमित्युक्तवा <u>ज्ञाहिः</u> ग्रुद्धान्तमीयिवान् ॥ ४७ ॥	
तत्तीर्थमात्मसात्कर्त्तुं प्रत्यहं ग्रुरवस्ततः ।	
प्रारेभिरे वरीवस्यां श्रीशेखस्य विशेषतः ॥ ४८ ॥	30
अथ तत्रास्ति कासारः पारावार इवापरः।	
जैनलङाभिधः कश्चित्पश्चाज्ञात्त्रोज्ञाविस्तृतः ॥ ४९ ॥	

तद्दिक्षोत्सुकः सत्रा सामन्तैर्गुरुभिश्व सः। यानपात्रस्थितस्तत्र प्रस्थितो वारिवर्त्मना ॥ ५० ॥ अन्यः सैन्यजनः सर्वः प्राचालीत्तत्तटाध्वना । एकेनैव दिवा शाहिजैंनलङ्कामुपागमत्॥ ५१॥ स देशः सर्वदेशेषु प्रकृत्यैवास्ति शीतलः। 5 तन्नापि वर्त्तते पद्माकरस्त्वेष विशेषतः ॥ ५२ ॥ यत्रावरुयमवरुयायबृष्टिरुचैः प्रजल्पतः। न चात्र संशयोऽद्राक्षं तामहं खहशा यतः॥ ५३॥ हिमान्युद्रेकतस्तेन भूधना अपि जज्ञिरे। तत्र सर्वेऽपि शीतार्त्ताः का कथा तु तपखिनाम् ॥ ५४ ॥ 10 तदन्तःसौधमासाद्य भूपतिः सपरिच्छदः। नानाफलरसास्त्रादेराददे जन्मनः फलम् ॥ ५५ ॥ अतिशैत्यवशात्पातः परिम्लानतरान् गुरून्। दर्शं दर्शं हशा क्ष्मापः सौवाभ्यर्णमजूहवत् ॥ ५६ ॥ सहासवचनोह्नेखेर्भूपतिस्तानभाषत । 15 अन्यैर्लेभे फलाखादः शीताखादस्तु वोऽभवत् ॥ ५७ ॥ प्रौढपर्षत्थिता [:] सूर्यनामाध्यापनतः परम् । लब्धलक्षास्तदा तं ते संप्राप्यावसरं जगुः॥ ५८॥ जनाः सर्वेऽपि युष्माभिरर्थिनोऽप्यर्थिनः कृताः। अहं चैकस्तथैवास्थां यन्नाप्तं किश्चिदीहितम्॥ ५९॥ 20 यतः - त्विय वर्षति पर्जन्य! सर्वेऽपि पल्लविता द्रुमाः। असाकमर्कपत्राणां पूर्वपत्रेऽपि संशयः॥ ६०॥ उत्तुङ्गो सरलतरू फलभरभारेण नमिअसव्वंगो। खुज्जो फलं न पावइ ता किं दोसो तरुवरस्स ॥ ६१ ॥ तन्निशम्यावदञ्जमान् वदान्यत्वेन लज्जितः। 25 प्रार्थयध्वं यदिष्ठं स्यात् तत् प्रयच्छाम्यहं पुनः ॥ ६२ ॥ त्यक्तसावद्ययोगानां भैक्ष्यमात्रोपजीविनाम्। नार्थः केनापि नः किन्तु द्युल्कं तीर्थस्य मुच्यताम् ॥ ६३ ॥ द्रव्योपलन्धिर्महती तत्रेत्युक्तवति प्रभौ। अवोचन् गुरवस्त्वेतत् सर्वेग्जुल्कपुरः कियत् ॥ ६४ ॥ 30 विहस्येषत्ततः शेखधीसखं शाहिरादिशत्। पत्रं कृत्वाऽर्प्यतामेषां तत्तीर्थेकरमुक्तिकृत् ॥ ६५ ॥ विज्ञप्तिं कृतवन्तस्ते यतः द्याहेः पुनः पुनः । अतः स शेखस्तन्नाम्ना तिल्लपीकर्तुमुद्यतः ॥ ६६ ॥

केनाप्यकृतपूर्वं तन् महत् कार्यमभूद्यतः ।	
अतः श्रीहीरसूरीणां नाम्नैवालेखयन् खयम् ॥ ६७ ॥	
तत्समक्षं लिपीकृत्य तत् प्रदर्श महीसुजे ।	
तन्मुद्रां कारयित्वा च तेषामर्पितवांश्च सः ॥ ६८ ॥	
तैः पुनस्तत्रृपादिष्टपुरुषैः प्रेषितं गुरोः।	5
आचन्द्रार्के चिरस्यायि सर्वत्र खं यदाः पुनः ॥ ६९ ॥	
स्फुरन्मानाप्तसन्मानास्ततः श्रीहीरसूरयः ।	
नैकदेशागतैः सङ्घेस्तीर्थयात्रां प्रचित्ररे ॥ ७० ॥	
सर्वेषामपि जैनानां तत्र यात्रार्थमीयुषाम् ।	
ततःप्रभृति सिद्धाद्रौ करमुक्तिः पर्वर्त्तते ॥ ७१ ॥	10
क्र अथ प्रतस्थे पृथ्वीशो यानपात्रैर्यहच्छ्या ।	
कल्हंस इवैतस्मात् कासाराच विनिर्ययौ ॥ ७२ ॥	
ततः खसैनिकैरेकपदे प्राप्तै रराज सः	
नक्षत्रेर्युगपत्प्राप्तेरिव नक्षत्रनायकः ॥ ७३ ॥	
पद्यन् काइमीरकेदारान् विस्पेरान् विस्पयावहान् ।	1.5
शनैः शनै रोहितासाभिषं दुर्गमियाय सः॥ ७४॥	
अविच्छिन्नप्रयाणैश्च सर्वत्राज्ञां प्रवर्त्तयन् ।	
क्रमात् द्याहिरलंचके पुरं लाभपुराभिधम् ॥ ७५ ॥	
पराक्रमाकान्तसमस्तदाबुक्ष्मादाकुचकः क्षितिपालदाकः ।	
एकातपत्रां वसने धरित्रीमकद्वरो बर्बरवंदाहंस: ॥ ७६ ॥	20

।। इति महोपाध्यायश्रीसिद्धिचन्द्रगणिविरचिते श्रीश्चत्रुञ्जयादिसमस्ततीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृतकारिमहोपाध्यायश्रीभानुचन्द्रगणिप्रभावकपुरुषचरिते पातिशाहिअकबरजलालदीनकश्मीरदेशगमन-नानाश्चर्यविलोकन-श्रीश्चत्रुञ्जयतीर्थकरमोचनादिवर्णनो नाम वृतीयः प्रकाशः ॥ ३ ॥

॥ चतुर्थः प्रकाशः ॥

अथान्येद्युः सभासीनः श्रीमान् शाहिः शुभाशयः। श्राद्धं दुर्जनशल्याख्यं समाहूयेदमब्रवीत्॥१॥ सर्वोङ्गीणगुणग्रामभाग्यसौभाग्यशालिना। श्रीहीरसूरिणा पट्टे खकीये स्थापितोऽस्ति कः ॥ २ ॥ सोऽवादीदुग्रवैराग्यसेवधिर्विजितेन्द्रियः। कामप्रदोऽपि निष्कामः सगुणोऽप्यगुणस्तथा ॥ ३ ॥ अश्राद्धोऽपि च सश्राद्धः सत्सङ्गरोऽप्यसङ्गरः। सृरिर्विजयसेनारूयस्तत्पद्दे राजतेऽधुना ॥ ४॥ एतत्त्वदुक्तमाकर्ण्यं हर्षोल्लसितमानसः। तदाहूतिकृते शाहिः स्फुरन्मानमलीलिखत्॥ ५॥ प्रादात् श्रीभानुचन्द्राणां स्फुरन्मानं प्रगे प्रभुः। प्रेष्यं विजयसेनाख्यसूरेरित्युक्तिपूर्वकम् ॥ ६ ॥ शाहिविज्ञापितप्रेष्यपाणिना प्रहितं च तत्। तत्प्राध्यनन्तरं तेऽपि चलनोपऋमं व्यधः॥ ७॥ विह्रगैर्वर्द्धितोत्साहैस्तत्पुरात् ते प्रतस्थिरे। सार्द्धं परःशतैः शिष्यैः करीन्द्राः कलभैरिव ॥ ८॥ ववृधे व्रजतां तेषां प्रतापः प्रतिपत्तनम्। प्रतिमण्डलमुष्णांशोरिवोदीचीं प्रसर्पतः ॥ ९ ॥ पदे पदे च श्रीसङ्घदीयमानधनोत्करैः। यदुपास्तिकृतोऽभूवन् याचका अप्ययाचकाः॥ १०॥ गान्धवैंवीयमानानामातोयानां पथि खनैः। नादानुविद्धसारङ्ग इवोत्कर्णो जनोऽभवत् ॥ ११ ॥ तदेशनासुधापानविधानाजज्ञीरे जनाः। उत्तीर्णात्यन्तमिथ्यात्वगरलाः सरलाः पथि ॥ १२ ॥ इत्थं यथेष्टं ते लाभमर्ज्ञयन्तः पथि ऋमात्। श्रीमल्लाभपुरोपान्तं प्रापुः सूरिपुरन्दराः ॥ १३ ॥ सुरत्राणैरनुज्ञाताः शेखसैन्यसमन्विताः। अभ्येत्यानंसिषुः सूरीन् भानुचन्द्राख्यवाचकाः ॥ १४ ॥ सरयः शाहिना साकं हर्षोत्कर्षादमीमिलन्। सद्भणे रञ्जितस्तेषां सोऽपि सत्कृतिमातनोत् ॥ १५ ॥

10

5

15

20

25

30

तत्स्ते तद्वज्ञाता महामहपुरःसरम् ।	
प्रतिश्रयमलेच्कुर्मराल इव मानसम् ॥ १६ ॥	
ततः श्रीवाचकद्वारा मिलिताः शाहिना समम्।	
तेषामन्तिषदां मुख्याः श्रीनंदिविजयाः पुनः ॥ १७ ॥	
अवधानकलां तेषां वीक्ष्य विश्वम्भरापतिः।	
विस्मितः 'खु स्फ ह मे'ति तदा तन्नाम निर्ममे ॥ १८॥	
ततोऽसहिष्णुभिस्तेषां विषेमीहात्म्यमद्भुतम् ।	
रामदासमहाराजद्वारेति ज्ञापितं प्रभोः ॥ १९ ॥	
वेदवाह्या इमे नैवोपासकाः परमात्मनः।	
जातुचिन्नैव कुर्वन्ति प्रणिपातं प्रभोरिप ॥ २० ॥	10
तन्निदाम्य सुरत्राणः कोधामणितलोचनः।	10
सर्वे साक्षेपमपाक्षीत् सूरीनाहूय तत्युनः ॥ २१ ॥	
तन्निशम्योत्तरः श्रीमत्सूरयस्तमवादिषुः ।	
मन्यामहे वयं सर्वे स्पर्द्वेयेति वदन्त्यमी ॥ २२ ॥	
भट्टाचार्यः प्रभोरेवं तन्निदाम्य तदाऽवदत्।	15
एभिः खीकृतमास्येन शास्त्रे त्वेषां न विद्यते ॥ २३ ॥	
ततोऽभ्यर्णस्थितं होखं पृथ्वीदाः प्रोचिवानिति ।	
युष्माभिरेव कर्त्तव्यो भट्टाचार्योक्तनिर्णयः॥ २४॥	
अथ तानवदत् दोखो निविद्याऽऽस्थानमण्डपे ।	
विचार्यतां समं विपेर्यदि वः संमतः शिवः॥ २५॥	. 0.5
तकोधीती ततस्तत्र गर्वपोन्नतकन्धरः।	20
भट्टाचार्याभिधः पूर्वं सूरीन् पर्यनुयुक्कवान् ॥ २६ ॥	
जगत्कर्तृत्वतोऽस्माभिः शिवः साध्यस्तदत्यपात् ।	
युष्माभिरुच्यते काऽत्र युक्तिस्तन्नाथ ते जगुः॥ २७॥	
तारतम्यं चिदः कापि विश्रान्तं परिमाणवत्।	25
नोचेत्तरतमध्वानवाच्यत्वं नोपपद्यते ॥ २८॥	20
अस्तीह कश्चित् पुरुषः सर्वभावोपदर्शकः।	
द्रपृत्वतारतम्यस्य विश्रान्तेरीश्वरश्च सः ॥ २९ ॥	
किञ्च वः संमतं युक्तियुक्तं न प्रतिभासते।	
विचार्यमाणमीदास्य कर्तृत्वं जगतां यतः॥ ३०॥	30
''घर्मावर्मो विना नाङ्गं विनाङ्गेन मुखं क्कतः ।	<i>5</i> (<i>)</i>
मुखादिना न वक्तृत्वं तच्छास्तारः परे कथम् ॥ ३१ ॥	
अदेहस्य जगत्सर्गे प्रवृत्तिरपि नोचिता।	
न च प्रयोजनं किञ्चित खातत्यात्र पराज्ञया ॥ ३२ ॥	

ऋीडया चेत्प्रवर्त्तेत रागवान् स्यात् कुमारवत्। कृपयाञ्य सृजेत्तर्हि सुख्येव सकलं सृजेत् ॥ ३३ ॥ दुःख-दौर्गत्य-दुर्योनि-जन्मादिक्केशविह्नलम्। जनं तु सृजतस्तस्य कृपालोः का कृपालुता ! ॥ ३४ ॥ । कर्मापेक्षः सृजेत्तर्हि न खतन्त्रोऽसदादिवत्। 5 कर्मजन्ये च वैचित्र्ये किमनेन शिखण्डिना ॥ ३५॥ अथ खभावतो वृत्तिरवितक्यी महेशितुः। परीक्षकाणां तह्यंष परीक्षाक्षेपडिण्डिमः ॥ ३६ ॥ सर्वभावेषु कर्तृत्वं ज्ञातृत्वं यदि संमतम्। मतं नः सन्ति सर्वज्ञा मुक्ताः कायभृतोऽपि च ॥ ३७ ॥ 10 कर्तृत्वानभ्युपगमाद् वयं नैते निरीश्वराः। न ह्येकधर्मास्त्रीकारे धर्मिमणः स्यादपह्नवः॥ ३८॥ अन्यच-कर्तृत्वास्त्रीकृतेः पुंसि जडायां प्रकृतौ पुनः। तदङ्गीकारतः साङ्ख्याः कथमीश्वरवादिनः ॥ ३९॥ वेदोक्तकर्मजनिनापूर्वोत्पन्नमिदं जगत्। 15 इति ब्रुवाणा औलुक्याः कथमीश्वरवादिनः ॥ ४० ॥ मायाविनिर्मितं विश्वमकर्तृत्वं जगत्प्रभोः। वेदान्तिनो मन्यमानाः कथमीश्वरवादिनः ॥ ४१ ॥" इत्यादियुक्तिशक्तयोघैः प्रहताः प्रतिवादिनः। भद्दाचार्यादयः सर्वे वीक्ष्यापन्नास्तदाऽभवन् ॥ ४२॥ 20 द्योखेनाऽथ समुत्थाय विज्ञप्तः क्षितिनायकः। एतैः खज्ञास्त्रमध्यस्यमेवोक्तं खामिनोऽग्रतः ॥ ४३ ॥ ततश्च-स्कूर्जजयजयारावप्रतिध्वनितदिक्षुखाः। माङ्गल्यधवलध्वानाकृष्टपौरवधूजनाः ॥ ४४ ॥ वाद्यमानघनातोद्यनिर्घोषैः पूरिताम्बराः। 25 आलोक्यमाना लोकेन विस्मयाल्लोलमोलिना ॥ ४५ ॥ बन्दिवृन्दमुखोदघृष्ट वादिवादजयोर्जिताः। प्रतिश्रयमलंचकुः सूरयः द्याहिसत्कृताः ॥ ४६ ॥-त्रिभिर्विशेषकम्। अस्तमेति सहस्रांद्युः सम्प्राप्तः पश्चिमां दिराम्। तिचत्रं तामपि प्राप्य प्रतापो ववृधे गुरोः॥ ४७॥ 30 अधान्येद्यः समाहृय प्रीत्या सूरिपुरन्दरान्।

श्रीमानकबरक्ष्मापः सानन्द्मिदमब्रवीत् ॥ ४८ ॥

प्रमाणीकृत्य मद्वाक्यं पूर्वं श्रीहीरसूरयः।	
श्रीमतां भानुचन्द्राणामुपाध्यायपदं ददुः ॥ ४९ ॥	
असाद्वाक्यादुपाध्यायपदस्यानन्दपूर्वकम् ।	
नन्दिर्युष्माभिरेतेषां यथाविधि विधीयताम् ॥ ५० ॥	
सविदोषं पुनः दोखं विदोषज्ञमभाषत।	5
युष्माभिस्तन्महः कार्यं खयं गत्वा प्रतिश्रयम् ॥ ५१ ॥	
तदाकण्यं समुत्कणः सकर्णगणकेसरी।	
श्रीसृरिर्मन्त्री रोखश्च सचस्तत्प्रत्यपचर्तं ॥ ५२ ॥	
ततः श्रीसूरयः दांखमन्त्री च सपरिच्छदः।	
राज्ञो निर्देशमासाच प्रतिश्रयमशिश्रियुः ॥ ५३ ॥	10
राजन्यहास्तिकाश्वीय नेकतृर्यादिडम्बरम् ।	
स गुणी प्रगुणीचके महोत्सवविधित्सया ॥ ५४ ॥	
मन्त्रिणा सार्द्धमभ्येयुर्महेभ्याः श्राद्धपुङ्गवाः ।	
र्रावरीसार्वभौमेन नभोमार्गे ग्रहा इव ॥ ५५ ॥	
तेष्वासन् शासने जैने लीना मीना इवाम्युनि ।	15
स्थानसिंहादिमा मान्या अमात्या इव भूपतेः॥ ५६॥	
अरंतुदं क्रपक्षाणामिवासेचनेकं सताम्।	
यथारात्तयुत्सवं कर्त्तुं काङ्क्षन्तस्तन्मुनेस्तदा ॥ ५७ ॥	
निर्दिातायसदाल्यानि हृदि मिथ्याददाामिव।	
आनयन्ति सा ते तूर्याण्यकब्बरमहीहँरेः॥ ५८॥	20
अथ श्रीसूरयस्तेषा'मु पा ध्या य'पदस्य ते ।	
नन्दिमानन्दसम्पूर्णा रचयांचित्ररेतराम् ॥ ५९ ॥	
ददौ बृहद्वर्द्धमानविद्यामेतस्य सूरिराट् ।	
जातवेदाः र्रंफुरज्ज्योतिर्निकेतनमणिरिव ॥ ६० ॥	
किन्नर्य्य इव नागर्यो जगुर्गीतिं पिकीकणाः।	25
पौरीभिदीयते साजीरक्षतक्षेपपूर्वकम् ॥ ६१ ॥	
त्रिलोकीमपि कुर्वाणं तत्र चित्रीकृतामिव ।	
नेत्र-श्रोत्रसुधास्यन्दि तौर्यत्रिकमजायत ॥ ६२ ॥	
श्रीदोखोऽप्यथ निःदोषहृष्ठेखोल्लेखभूषितः ।	
मार्गणेभ्यस्तुरङ्गाणां प्रादादष्टोत्तरं शतम् ॥ ६३ ॥	30

१ अज्ञीचकारेलायैः ।-टिप्पणी । २ राज्ञोऽपासानि पुमांसो वा राजन्याः ।-टि॰ । ३ आडम्बरमिलार्थः ।-टि॰ । ४ इव यथा चन्द्रेण प्रद्वाः समायान्तीलार्थः ।-टि॰ । ५ तदासेचनकं यस्य दर्शनाद् हग् न तृष्यति ।-टि॰ । ६ तीक्ष्णलोहसंधिशाल्यानि ।-टि॰ । ७ अकब्बरमद्दीन्द्रस्य-टि॰ । ८ इव यथा जातवेदाः अग्निः निकेतनमणेः दीपस्य स्फुरज्योतिर्ददातीलार्थः ।-टिप्पणी ।

10

15

20

25

तन्निरीक्षणसंप्राप्तलोकानां श्रीफलैः पुनः। रूप्यमुद्रायुतैर्युक्ला खयं चन्ने प्रभावनाम् ॥ ६४ ॥ जुम्भकवजवजन्मोत्सवे शम्भोर्वणिग्वराः। ववर्षुः स्वर्णधाराभिस्तस्मिन्नन्दिमहोत्सवे ॥ ६५ ॥ गो-महिष्यादिजन्तृनां वधव्याषेधसूचकम्। श्रीशाहिना स्फ़रन्मानं दत्वा संमानपूर्वकम् ॥ ६६ ॥ सूरयः समनुज्ञाता जग्मुर्गूर्ज्जरमण्डले । रक्षिताः सन्निधावेव श्रीनन्दिविजयाः पुनः॥ ६७॥ इतश्र हीरसूरीन्द्रैर्विमृश्येति मुहुर्मुहः। विनेयानां न चैतेषां लाभो लाभपुरेऽभवत् ॥ ६८॥ दीक्षां दत्वा ततस्तेषां प्रहितौ प्रीतिपूर्वकम्। सहोदरौ भावचन्द्र-सिद्धिचन्द्राभिधौ शिश्रु ॥ ६९ ॥ तयोज्यीयान् गुरोर्वेयावृत्त्यादिप्रविधानतः। श्लाघ्यमानोऽस्ति सर्वत्र नन्दिषेण इवापरः ॥ ७० ॥ कनीयांस्तु समग्रश्रीसुभगो विश्वविश्रतः। अनन्यलभ्यसौन्दर्यन्यत्कृतश्रीतनुद्भवः ॥ ७१ ॥ जगन्नयनपीयूषकलदौरनिद्यां भृदाम्। सिच्यमानः ऋमेणाथ ववृधे कल्पवृक्षवत् ॥ ७२ ॥ परस्परस्पर्द्वयेवावर्द्धन्तः सकलाः कलाः । यद्यप्यत्र तथाप्युचैरद्धतः प्रतिभागुणः ॥ ७३ ॥ उपायचतुरा यस्य धिषणा सर्वतोमुखी। यत्पुरोऽभय-रोहादिप्रतिभा वर्णिकायते ॥ ७४ ॥ अन्येद्यः कौतुकायातं सिद्धिचन्द्रमुनिं नृपः। पुरः सारमिवाद्राक्षीद्भवभीत्या घृतव्रतम् ॥ ७५ ॥ रूपातिशयविस्फूत्तौं तस्य मृत्तौं नरेशितुः। स्पर्द्वयेवाक्षियुग्मस्य जगाम स्थिरतां मनः॥ ७६॥ आनन्दामृतमग्रस्य लीनं तस्य मनस्तथा। यथा गुरुं च विश्वं च खं च नो बुबुधे तदा ॥ ७७ ॥ अप्राक्षि च मुनीन्द्राणां-'द्विपेब्विव सुरद्विपः।

सुधांद्युरिव धिष्ण्येषु त्रिदिवाद्रिरिवाद्रिषु ॥ ७८ ॥

अम्भोधिष्विव दुग्धाब्धिश्चम्पकः क्रसुमेष्विव ॥ ७९ ॥

शालिधान्यमिवान्नेषु कल्पद्वम इव द्रुषु ।

30

हिरण्यमिव लोहेषु रसेष्विव सुधारसः।	
मुख्यः सर्वेकुमारेषु कोऽयं मुनिकुमारकः ?'॥ ८०॥	
ततः श्रीवाचकैरूचे–'प्रकृत्या विनयान्वितः ।	
अष्टावधानविज्ञानमल्लीदाममधुव्रतः ॥ ८१ ॥	
मच्छिष्यः सिद्धिचन्द्रोऽयं वैराग्यादादतवतः ।	- 5
साम्प्रतं गुर्जरत्रातो मत्समीपमुपागतः'॥ ८२॥	
तस्यादृष्टचरं दृष्ट्वा सौन्दर्यं हृदि विस्मितः।	
स्रोहेन शाहिनाऽऽहूय निर्निमेषं निरीक्षितः ॥ ८३ ॥	
अन्तःसभमथाहूय समक्षं सर्वभूभुजाम् ।	
अवधानविधानादिपरीक्षां कृत्वान् प्रभुः ॥ ८४ ॥	10
अतुलां तत्कलां चैनां दर्शं दर्शं चमत्कृतः।	
विख्यातं 'खु स्फ इ मे'ति तस्य नाम् प्रदत्तवान् ॥ ८५ ॥	
भूयोभूयस्तमित्याइ प्रसन्नवदनमभुः ि।	
'त्वया मत्सूनुभिः सार्द्धं स्थेयमत्रैव निलकाः'॥ ८६॥	
कदाचित् <u>शाहि</u> नाऽऽहूतः कदाचन पुनः खतः ।	15
असावन्तःसभं गच्छन्नधीयानश्च तिष्ठति ॥ ८७ ॥	
महाभाष्यादिकान्येष नाना व्याकरणानि च।	
नैषधादीनि काव्यानि तर्काश्चिन्तामणीमुखान् ॥ ८८ ॥	
काव्यप्रकाराप्रमुखानलङ्काराननेकदाः।	
छन्दःशास्त्राण्यनेकानि नाटकान्यपि लीलया ॥ ८९ ॥	20
अध्येष्ट सर्वशास्त्राणि स्तोकैरेव दिनैस्ततः।	
शाहिना प्रेरितोऽत्यन्तं सत्वरं पारसीमिष ॥ ९० ॥	
आहूत्येव बृहद्भानुर्विद्युतेव बलाहकः।	
ज्योत्स्रयेव निद्यारत्नं तयाऽत्यर्थं व्यराजत ॥ ९१ ॥	
अथो महीन्द्रमाज्ञाप्य श्रीनन्दिविजयाः पुनः ।	25
श्रीमत्सुरीश्वरोपान्तं जग्मुर्गुर्जरमण्डलम् ॥ ९२ ॥	•
<i>y y</i>	
इतश्च हीरसरीन्द्राः खर्गलोकमिशाश्चियन् ।	
अनाकण्यं तदाकण्यं धराधीदाः द्युचं व्यधात् ॥ ९३ ॥	
अप्राक्षीदश्रपूर्णाक्षो वीक्षापत्रश्च वाचकान् ।	
'कुत्र ग्राम ययुर्देवभूयं श्रीहीरसूरयः'॥ ९४॥	30
विलक्षा जगदुस्तेऽपि-'राष्ट्रे सौराष्ट्रनामनि ।	
विदाते बन्दिरं दीपं प्रतिनं प्रतिनेष्टिपन्तः॥ १८ ॥	

अस्ति तन्निकषा ग्रामो धाम यः सर्वसम्पदाम् जना नाम्ना महिम्ना तु पुरुहृतपुरोपमः॥ ९६॥ निरवर्त्तत निर्वाणं तत्र तेषां महात्मनाम् । तद्देहस्याग्निसंस्कारस्तस्यैवोपवने पुनः ॥ ९७॥ आश्चर्यं तचिताधुमश्लेषान्माकन्दपादपाः। 5 अकालेऽपि फलन्ति सा श्रीगुरूणां प्रभावतः॥ ९८॥ तत्र स्तृपकृते तेषां भूमिरीषत् प्रदीयताम्'। आकर्ण्य क्ष्मापतिः श्रीमद्वाचकेन्द्रादिदं वचः ॥ ९९ ॥ 'दशवीघा'मितक्षेत्रपत्रं कृत्वा प्रदत्तवान् । रङ्गचन्द्रनिजभ्रातृहस्ते तत्वेषितं च तैः ॥ १०० ॥ 10 तस्मिन् ग्रामे ततः स्तूपं चक्रे पत्रास्यनन्तरम्। भक्तियुक्तेन सङ्घेन विमानं खर्गिणामिव ॥ १०१ ॥ इतः कश्मीरिकञ्जलकपुष्पोद्रमदिदृक्षया। प्रतस्थे पृथिवीनाथः पुनः श्रीनगरं प्रति ॥ १०२ ॥ अमन्दानन्दसंपूर्णः शाहिः सत्कृत्य वाचकान्। 15 सार्द्धमाकारयामास सिद्धिचन्द्रसमन्वितान् ॥ १०३॥ पठन्तः पारसीग्रन्थांस्तत्तनुजाङ्गजैः समम्। प्रातः पूर्वदिनाभ्यस्तं पुरः श्रावयतः प्रभोः॥ १०४॥ कुर्वतश्च वरीवर्स्यां शाहेः लेहार्द्रचेतसः। प्रसिद्धिः सिद्धिचन्द्रस्य सर्वत्र ववृधेतराम् ॥ १०५॥ 20 पर्वतान् रत्नपंजाल-पीरपंजालकादिकान्। हिमैरें अंलिहेस्तुङ्गराङ्गानुस्रङ्घय दुर्गमान् ॥ १०६॥ क्रमाद्गत्वाथ करमीरं दृष्ट्या कारमीरभूरुहान्ँ। प्रफुलुकुसुमामोदलोलरोलम्बेचुम्बितान् ॥ १०७॥ स्थित्वा च कतिचिन्मासांस्तत्राश्चर्यदिदृक्षया। 25 प्रत्यावृत्त्य पुनर्ला भपुरं शाहिर भूषयत् ॥ १०८॥ - त्रिभिर्विशेषकम्। क्ररङ्गकीडयाऽऽसक्तः क्ररङ्गेणान्यदा नृपः। र्राङ्गाग्रेण तथा विद्धो यथा मूर्च्छामुपेयिवान् ॥ १०९॥ तत्प्रघातप्रतीकारानन्तद्धीम विधापयन । र्संपत्राकृतितस्तस्यौ पश्चाद्यदिवसान्नृपः ॥ ११० ॥ 30

१ तन् जाङ्गजाः पुत्रपुत्राः ।-टि॰। २ वरीवस्या सेवा।-टि॰। ३ अभ्रं आकाशं लिइन्ति चुम्बन्तीलभ्रंलिहानि।-टि॰। ४ केसरबुक्षान् ।-टि॰। ५ रोलम्बा भ्रमराः ।-टि॰। ६ 'सपत्राकृति-निष्पत्राकृती ललंतपीडने' इल्यभिधानचिन्तामणिः।-टि॰।

अन्येषां गमनाभावात्तत्राविश्रम्भतेः स्थितम् । श्रीशेखसहितैः श्रीमद्वाचकैरेव सन्निधौ ॥ १११ ॥ सोऽभवत् पूर्वपुण्येनोल्लाघः पुण्यचिँकीः पुनः । गवां पश्चरातं प्रेषीद्दानार्थं तत्र्यंतिश्रये ॥ ११२ ॥ ददस्ते सुरभीः सर्वाः श्राद्धद्वारा द्विजन्मनाम् । 5 नटीव तत्पुरे सा तत्कीर्त्तिरद्यापि चूलति ॥ ११३॥ अन्यदा हास्तिकाश्वियानेकराजन्यकेर्नुपः। र्चलामप्यचलां कुर्वेब्रुग्रसेनपुरं ययौ ॥ ११४ ॥ भानुचन्द्रा अपि श्रीमत्सिद्धिचन्द्रसमन्विताः। समीयुः शाहिना सार्द्धं पाठयन्तश्च तृत्सुतान् ॥ ११५ ॥ 10 सिद्धिचन्द्रोपरि खेहस्तत्र शाहेर्महानभृत्। यदीहां चिक्ररे पौकास्तदृत्संङ्गेऽपि वर्द्धिताः ॥ ११६ ॥ तत्र चिन्तामणेश्चेत्यं प्रारब्धमपि तर्ज्ञंनैः। शाहिब्युद्धाहितो मिथ्यादृष्टिभिस्तृब्यवार्यत् ॥ ११७॥ कृतवांस्तत्पुनः सद्यः शाहेर्विज्ञतिपूर्वेकम् । 15 सिद्धिसौधसमारूढं सिद्धिचन्द्रः खद्मक्तितः॥ ११८॥ इतः सौराष्ट्रराष्ट्रेऽसिन् तीर्थे श्रीविमलाचेलें। चैत्यं तन्मूलचैत्यान्तः प्रकुर्वद्भिः खगर्वतः॥ ११९॥ बभूव श्रीतपागच्छश्रद्धालुनां मनर्खिनीम्। सार्द्धं खरतरश्राद्धैरतुलः कलहोदयः॥ १२०॥ 20 कथंचिदात्मनः कार्यविलम्बेनापि विद्विषाम्। क्षेंतिः कार्यस्य कार्येति स्मृत्वा नीतिविदां वचः ॥ १२१ ॥ असिन्नतः परं नव्यं चैत्यं न क्रियतामिति । श्रीवाचकवराः शाहेः स्फुरन्मानमकारयन् ॥ १२२ ॥ अथ प्रतस्थिवान् जेतुं दाक्षिणात्यन्तपात्रृपः। 25 चतुरङ्गचमुचकेर्युक्तश्चकीव मूर्त्तिमान्॥ १२३॥ प्रयाणेश्च रिपुपाणप्रहाँणप्रवणैः कमात्। गोपाचलेति विख्यातं दुर्गदुर्भमुपागमत्॥ १२४॥

१ विश्रंभो विश्वासः ।-टि॰। २ उल्लाघः नीरोगः ।-टि॰। ३ पुण्यं चिकीर्षतीति पुण्यचिकीः ।-टि॰। ४ प्रतिश्रय उपाश्रयः ।-टि॰। ५ सुरभयो गावः ।-टि॰। ६ पृथ्वी ।-टि॰। ७ शाहिपुत्रान् ।-टि॰। ८ पौत्राः पुत्रपुत्राः ।-टि॰। ९ उत्सन्न अङ्कः ।-टि॰। १॰ उप्रसेनपुराप्रश्राद्धजनैः ।-टि॰। ११ श्रीशत्रुज्ञयतीर्थे ।-टि॰। १२ मानवतामित्यर्थः ।-टि॰। १३ क्षतिः हानिः ।-टि॰। १४ प्रहाणो विनाशं ।-टि॰। १५ दुर्गो वप्रः-दुःखेन गम्यते इति दुर्गः ।-टि॰।

तत्र चार्द्रि समुत्कीर्य केनचिज्जैनभूभुजा। निर्मापितानि विद्यन्ते जैनबिम्बानि लक्षदाः ॥ १२५ ॥ तानि व्यङ्गानि संवीक्ष्य विहितानि दुरात्मभिः। अवोचत् खेद्भृत् क्ष्माभृद्वाचकान् खच्छमानसः ॥ १२६ ॥ 'यो गुणी । प्रगुणीकुर्यात् । बिम्बान्येतानि बुद्धिमान् । 5 तस्मै मत्कोशतो द्रव्यं प्रयच्छामि यथेप्सितम्'॥ १२७॥ इत्थं तसिम्रहत्तमत्वाविसंवादिप्रवादिनि । तसी तत्कृत्ययोग्यं ते श्राद्धमेकमदर्शयन् ॥ १२८ ॥ तेन श्राद्धेन तद्रव्यात् तत् कृत्यमचिरात्कृतम् । विलम्बः सर्वथा धर्मे यतो नौचित्यमञ्जति ॥ १२९ ॥ 10 उर्वीमुर्वीमथानुर्वीकुर्वन् सैन्यभरैर्निजैः। श्रीबहीनपुरं भूभृत् प्रबर्हः प्राप्तवान् ऋमात् ॥ १३० ॥ ततो दुर्गं विनिर्जित्यासेरारूयं स्वीयदोर्षेठात्। सैन्यमुखान् पुरः प्रेष्य खयं तत्रैव तस्थिवान् ॥ १३१ ॥ पाठयन्तश्च तत्पीत्राम् श्रीमन्तो वाचका अपि। 15 तस्युस्तत्रेव तत्पार्श्वे सिद्धिचन्द्रसमन्विताः ॥ १३२ ॥ दत्तान्यदैन्यैस्तत्सैन्यैरथो युध्वा विजिग्यिरे। दाक्षिणात्या नृपाः सर्वे दुर्गदुर्गाधिवासिनः ॥ १३३ ॥ अन्यदा धर्मसंवादसादरं क्ष्मापुरन्दरम् । पूर्वं तन्नत्यसंघेन प्रणुन्ना गुरवोऽवदन् ॥ १३४ ॥ 20 'श्रीवहीनपुरे भूरि भूतिभ भेरितेऽभितः। वर्तन्ते रम्यहर्म्याणि महेभ्याश्च सहस्रवाः ॥ १३५॥ सर्वदर्शनिदेवानां नैकदेवकुलानि च। प्रासादः किन्तु जैनानामस्मिन्नैकोऽपि विद्यते'॥ १३६॥ तेन कस्मादिति प्रोक्ते तैरूचेऽनार्यवारणात्। 25 विहितोऽप्येकदाः पूर्वे पातितस्तैर्दुरात्मभिः ॥ १३७ ॥ तन्निश्मयाभवद्भमान् विषन्न(ण्ण)हृदयस्ततः। चिकीर्षुस्तत्पुरं जैनप्रासादैर्भृरिभृषितम् ॥ १३८ ॥ स्वीयाधिकारिणस्तेषां श्राद्धानाहृय भूपतिः। तत्कृत्यकरणादेशं प्रादादत्युग्रशासनः ॥ १३९॥ 30 प्रमाणीकृत्य निर्देशं प्रभोस्तेऽपि प्रचित्ररे। मन्यमानाः खयं धन्यं प्रासादान् सप्रतिश्रयान् ॥ १४० ॥

श्रीश्रीमालकुलाम्भोजभास्करः श्राद्धशेखरः ।	
कंसारपाटके चक्रेऽजयराजः प्रतिश्रयम् ॥ १४१ ॥	
श्रीसङ्घाधिपतिस्तत्र रिखुस्तस्यैव संनिधौ ।	
भीडिभञ्जनपार्श्वस्य प्रासादं निरमीमपत् ॥ १४२ ॥	5
श्राद्धो दुर्जनदाल्यस्तु मान्योऽमात्य इव प्रभोः।	
गिरेः श्रृङ्गमिवोत्तुङ्गं पीठे चैत्यमचीकरत् ॥ १४३ ॥	
बिम्बमानाय्य रा(आ ?)मेरात् श्रीद्यौवेयजगत्प्रभोः ।	
तत्र च स्थापितं मूलनायकत्वेन वाचकैः ॥ १४४ ॥	
अमात्रश्रद्धया श्राद्ध्या तत्रैवोचैरकार्यत ।	10
गौरीति ख्यातया चैत्यमन्यया च प्रतिश्रयः ॥ १४५ ॥	
इत्थं श्रीपाठकप्रष्ठोपदेशात्तत्र जितरे।	
प्रासादोपाश्रयादीनि श्रेयःकृत्यान्यनेकशः ॥ १४६ ॥	
कैलाञ्चाचलसंकाञाः प्रासादाः सप्रतिश्रयाः।	
सन्ति ते तत्पुरेऽद्यापि श्रीग्ररोर्थेशसामिव ॥ १४७ ॥	15
अथ प्रतस्ये पृथ्वीदाः कृतार्थः पार्थविक्रमः ।	
वाचकेन्द्रैस्तु तन्त्रैव दारीराखास्थ्यतः स्थितम् ॥ १४८ ॥	
सिद्धिचन्द्रान् सहादाय सस्नेहं पार्थिवः क्रमात्।	
उग्रसेनपुरं प्राप पौरऋष्ठोरुगौरवः ॥ १४९ ॥	
सिद्धिचन्द्राः स्थितास्तत्र कुर्वन्तः शासनोन्नतिम् ।	20
अन्यानपेक्षया धर्मधुरं धौरेयवद्युः ॥ १५० ॥	
यतः–	
मदसिक्तमुखैर्मुगाधिपः करिभिर्वर्त्तयते खयं हतैः।	
लघयन् खेळु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः ॥ १५१ ॥	
*	25
इतश्चाजीजकोकारूयतनूजः खुरमाभिधः।	. 20
उपत्यकास्थितं चैत्यं विमलाद्वेरपातयत् ॥ १५२ ॥	
अधित्यकामुलचैत्यं काष्टैस्त्वापूर्य सर्वतः ।	
इयेष वहिसात्कर्तुं यावदत्यन्तदुष्टधीः ॥ १५३ ॥	
श्रीमद्विजयसेनाख्यसूरीणां छेखहारकः।	
आगत्य सिद्धिचन्द्राणां तावछेखं प्रदत्तवान् ॥ १५४॥	30
तदन्तर्लिखितं तं च वृत्तान्तमवबुध्य ते ।	
गत्वा कृत्वा च विज्ञप्तिं शाहेः पत्रमकारयन् ॥ १५५ ॥	

तत्पत्रप्रेषणादेव सिद्धिचन्द्रैर्विनिर्भमे।

श्रञ्जञ्जयगिरेर्मूलचैत्योपद्रववारणम् ॥ १५६ ॥ तीर्थरक्षादिकृत्यं तत् कर्तुं तैरेव शक्यते। गजव्यापादनं यसात् सिंहेरेव विधीयते ॥ १५७॥ अन्यदाऽनन्यसौजन्यसेहोह्रासवदांवदः। 5 स्मृत्वा श्रीवाचकेन्द्राणां शाहिर्लेखमलीलिखत् ॥ १५८॥ 'सर्त्तव्योऽहं त्वया स्नेहान्न सारिष्याम्यहं पुनः। सारणं चेतसो धर्मस्तचेतो भवता हृतम्'॥ १५९॥ इलाचनेकच्छेकोक्तिप्रेमाविभीवकं च तत्। प्राप्य हूत्यर्थमेतेऽपि तूर्णं तत्र समाययुः ॥ १६०॥ 10 आलोक्य श्रीगुरून् सोऽपि प्रेम्णाऽऽलिङ्ग्बोल्लसन्मुदा। उत्कल्लोलाम्बुधेर्लीलामधाचिरमथाभ्यधात् ॥ १६१ ॥ 'सद्यः प्रसद्य मत्पौत्राध्यापनागमनादिभिः। पूर्ववत् प्रीणनीयोऽहं'-ततस्तेऽपि तथा व्यधुः ॥ १६२ ॥ अत्रान्तरे च सूरीणामिति छेखः समागमत्। 15 प्रत्यादेशात् पुरा शाहेनंव्यपासादनिर्मितेः ॥ १६३ ॥ कर्मस्थायकरैः कर्मस्थायं कर्त्तुं न शक्यते। ततः कार्ये यथा राष्ठञ्जये स्याचैत्यनिर्मितिः॥ १६४॥ अन्यथा तीर्थमुख्यस्योच्छेदः सम्भाव्यते ध्रुवम्। पतनाज्जीर्णचैत्यानां नव्यानां चाविधापनात् ॥ १६५ ॥ 20 सिद्धिचन्द्रैर्जगन्नेत्रचन्द्रैविज्ञप्यः भूभुजम् । ततो निर्माय तत्पत्रं प्रहितं च प्रयन्नतः ॥ १६६ ॥ ततःप्रभृति चैत्यानि तत्रानेकानि जज्ञिरे। शरचन्द्रोज्ञ्वलास्तेषां पुनः सर्वत्र कीर्त्तयः ॥ १६७ ॥ अथो शाहिसलेमस्य शाहिज्येष्ठाङ्गजन्मनः। 25 देशोऽभूद् गूर्जरस्तत्र सामन्तान् प्राहिणोच सः ॥ १६८ ॥ ते चाकवरभूभर्त्तुः स्फुरन्मानं न मेनिरे। अमारिप्रभृतिश्रेयःकृत्ये विव्रस्ततोऽभवत् ॥ १६९॥ लेखाद्विज्ञाय तदृष्टृत्तं सम्प्राप्यावसरं पुनः । संस्तवादिति विज्ञप्तः सिद्धिचन्द्रैर्नृपाङ्गजः॥ १७०॥ 30 ग्जेरे जीजिआ-मारि-शुल्कग्राहादिविष्ठवः। श्रुयते शाहिसामन्तैः कियमाणः सुदुःसहः ॥ १७१ ॥

तनिशम्याभवद्भमान् विषण्णहृदयः क्षणम् ।	
तन्निवृत्तिकृते तेभ्यः पत्रं कृत्वाऽथ दत्तवान ॥ १७२॥	
ततः प्रभृति सर्वत्र ग्रुल्कादीनां निवर्तनात्।	
तदेशेष्वभवन् लोकाः सर्वेऽपि निरुपद्रवाः ॥ १७३ ॥	
	5
इतश्चाकबरक्ष्मापः प्रापदेकोऽपि पश्चताम्।	J
सलेमशाहिस्तद्राज्येऽभिषिक्तश्च सुमन्त्रिभिः॥ १७४॥	
उज्झितां दण्डशुल्कादिक्केशलेशैर्पि क्षितिम्।	
अपालयदयं बालमिवाप्रकुपितः पिता ॥ १७५ ॥	
नातिष्ठत् पुरतः कश्चित् दिग्जैन्ने तत्र शात्रवः।	
अर्के विकामित ध्वान्तविक्रमः क्रमतां कुतः ॥ १७६॥	10
अनेकैः सममेकाऽपि नानादेशनिवेशिभिः।	
तस्याज्ञा मेने मूर्जि विधेरिच्छेव जिम्मभिः ॥ १७७ ॥	
भूभुजस्तन्न षाइगुण्योपायशक्तित्रयादयः।	
फलन्ति चिन्तितैरथैः साक्षारकल्पद्वमा इव ॥ १७८ ॥	
कदाचिदद्धतारामे कदाचित् सिंधुरोधसि ।	15
कदाचित् केलिशैलेषु कदाचिचित्रसग्रसु ॥ १७९ ॥	
कदाचिद्रमितोह्यासहस्रीसकविगाहने।	
कदाचित् किन्नरीनारणीताकर्णनकौतुके ॥ १८० ॥	
कदाचिदुपदाऽऽयातनटीघटितनाटके ।	
जीहांगीर सपस्तस्थावित्थं खर्गे हरिर्यथा ॥ १८१ ॥-त्रिभिर्विशेषकम् ।	20
अथो श्रीवाचकोत्तंसाः सिद्धिचन्द्रैः समन्विताः।	
त्रगोविंशति वर्षान्ते मुदा विज्ञप्य तं चपम् ॥ १८२॥	
तत्तद्रामसमायातासंघसामन्तसत्कृताः ।	
क्रमादहम्मदाबादं भूषयाबकिरे तराम् ॥ १८३ ॥-युगमम्।	
त्रम्बावत्यां पुनर्नत्वा श्रीसूरींस्तन्निर्देशतः।	25
आगत्याहम्मदाबादे ते चतुर्मासकं व्यधुः ॥ १८४ ॥	
खोपाश्रये सिद्धिचन्द्रैः समानीतेन सादरम् ।	
विक्रमार्काभिधानेन तद्देशस्त्रामिना ततः ॥ १८५ ॥	
पूजा व्यथायि समवसृतौ श्रीमज्ञिनेशितुः।	
अमारिपटहोद्घोषः सर्वजापि च दापितः॥ १८६॥	30
ततश्च गुरुनिर्देशात् पर्जन्यावस्थिति पुनः।	
निर्माय श्रीमहीशानपुरे पत्तनमाययः ॥ १८७ ॥	

तन्न चात्यन्तमीन्नत्यं संवीक्ष्योत्पन्नमत्सराः। श्रीमद्विजयदेवारूयसूरीणां सुमहात्मनाम् ॥ १८८ ॥ एकीभूयान्यगच्छीयसूरिभिभूरिभिः सह। तैः समं पण्डितंमन्यतया वादं विधित्सवः ॥ १८९ ॥ स्थिताः खरतरा द्रङ्गगोपुरे सपरिच्छदाः। 5 वादार्थमन्यगच्छीयैराचार्यास्तानजुहवन् ॥ १९० ॥-त्रिभिर्विशेषकम् । ततस्ते सिद्धिचन्द्रांस्तान् मत्वा वादविधौ क्षमान्। प्रचेलुः सार्द्धमादाय विद्वद्वन्दसमन्विताः ॥ १९१ ॥ तत्र गत्वा विदित्वा च प्रोद्धतान् प्रतिवादिनः। वादं विधातुं तैः सार्दं सिद्धिचन्द्रान् समादिशन् ॥ १९२ ॥ 10 तथा तैर्निर्ज्जितास्ते च तर्ककर्कशयुक्तिभिः। आसन् समक्षं सभ्यानां कृतमौनवता इव ॥ १९३ ॥ वीक्षापन्ना भृदां सभ्यैन्येत्कृताश्च मुहुर्मुहुः। उत्थाय प्रययुः फालभ्रष्टा इव वनौकसः ॥ १९४॥ ततः श्रीमद्नुचानाः सन्महैः सपरिच्छदाः। 15 खोपाश्रयमलंचकुस्तत्र लब्धजयश्रियः ॥ १९५ ॥ ततः कियद्दिनैस्तत्र श्राद्ध्या लाल्यभिघानया। आरब्धस्तीर्थकृद्धिम्बप्रतिष्ठाया महोत्सवः ॥ १९६ ॥ नैकग्रामागतैः संघैस्तदिदक्षासमुत्सुकैः । विस्तीर्णमपि संकीर्णमभवत् पत्तनं तदा ॥ १९७॥ 20 जलयात्राक्षणेऽकस्मात् सादुह्णाभिधभूभुजा । कर्णेजपोक्तितश्चके निर्देशस्त्रिषेधकृत् ॥ १९८॥ हाहारवस्तदा जज्ञे तद्रङ्गे रङ्गभङ्गतः। गतोऽपि लोको विज्ञस्यै तेन निर्भिर्तसतो भृशम् ॥ १९९ ॥ अनन्यगत्याऽनुचानैः प्रोचे श्रीवाचकान् प्रति । 25 श्रीमद्भिरेव कर्त्तव्यं कृत्यं गत्वाऽन्यथा स्थितम् ॥ २००॥ तत्क्षणे सिद्धिचन्द्रास्ते तत्रागखेखवादिषुः। कार्यमेतन्मया कार्यं न कार्यो मद्भरोः श्रमः ॥ २०१ ॥ ततः श्रीमदन्चानैस्तथेत्युक्ते प्रहर्षितैः। सोत्साहास्ते समं सङ्घेर्जग्मुस्तन्नपसद्मनि ॥ २०२॥ 30 पूर्वसंस्तवतो द्वारि धारिता नैव वेत्रिभिः। गत्वा चोपाविदान् मीर्यासादुल्लान्यसन्निधौ ॥ २०३ ॥ 'किमुद्दिश्यागता यूयमि'त्युक्तास्ते तमभ्यधुः। 'श्रेयःकृत्ये किमारन्धो विघः श्रीमद्भिरीदृशः ॥ २०४॥

आवयोः प्रीतिविच्छेदनिदानं तत् त्वया कृतम्'।	
सोऽपि तैरित्युपालन्धो लज्जानम्रो मनागभूत् ॥ २०५ ॥	
ब्रृत 'किं वः प्रियं कुर्यामि'त्युक्ते ते च तं जगुः ।	
'आगत्योपाश्रये पूर्व प्रीणयित्वा च महुरून् ॥ २०६॥	
द्रेधापि श्रीफलं ग्राह्यं जलयात्रामहोत्सवे'।	5
तत् तदुक्तमुरीकृत्य तथैव कृतवान् पुनः ॥ २०७ ॥	
मनोरथत रुः सम्यग्ह्यामासीत् फलेमहिः ।	
तदावकेशी तद्विघ्नकृतां मिथ्यादशां पुनः ॥ २०८ ॥	
वटपद्रेऽथ गन्धारे कृत्वा ज्येष्टस्थितिं पुनः।	
वाचकास्ते चतुर्मासीमासीनाः पत्तनेऽन्यदा ॥ २०९ ॥	10
<i>y y</i>	
इतः ज्ञाहेः स्फुरन्मानं श्रीराजनगरे तदा।	
अगात् श्रीमजिहांगीर(रि?) कुलीखानस्यं रक्षितुः ॥ २१० ॥	
'सिद्धिचन्द्रैः समेताः श्रीभानुचन्द्रा मदन्तिके ।	
प्रेष्या' इति तदन्तःस्थं प्रमेयमवबुध्य सः ॥ २११ ॥	
स्थितांस्तान् पत्तने ज्ञात्वा प्रेष्य खीयाङ्गरक्षकम् ।	15
तत्रः माधवदासार्ख्यं ससत्कारमजूहवत् ॥ २१२ ॥	
आगत्याहम्मदाबादं मिलित्वा तं ऋपं पुनः।	
सिद्धिचन्द्रान् सहादाय वाचकेन्द्राः प्रतस्थिरे ॥ २१३ ॥	
प्रयाणक्रमतस्ते च मेदिनीद्रंगमागमन्।	
तत्र सप्रत्ययं पार्श्व फलवेद्धौं ववन्दिरे ॥ २१४ ॥	20
आचार्यायैः खरतरेस्तत्तीर्थं कर्त्तुमात्मसात् ।	
तदेशाध्यक्षसांनिध्यात् प्रारब्धो विग्रहस्तदा ॥ २१५ ॥	
पश्चषान् दिवसांस्तत्र स्थित्वा ते सौवदाक्तितः।	
तत्तीर्थमात्मसात्कृत्वा प्रचेलुः पुनरग्रतः ॥ २१६ ॥	
प्रतिग्रामं प्रतिद्रङ्गं कुर्वन्तः शासनोन्नतिम्।	25
उग्रसेनपुरं प्रापुः पुनश्चित्रावहैर्महैः॥ २१७॥	
आगतो श्रीभानुचन्द्र-सिद्धिचन्द्रौ बहिःस्थितौ।	
रामदासादिति श्रुत्वा श्रीज्ञाहिस्तावजूहवत् ॥ २१८ ॥	
मूर्तिमन्ताविवावेक्ष्य पुष्पदन्ताविमौ पुनः।	
प्रामोमोदीन् मंदिनीमान् अत्यन्तं च व्यसेष्मयीत् ॥ २१९ ॥	30

९ मिरया समसदीनापरनामः ।-टिप्पणी । २ फलवर्स्सिपामे ।-टिप्पणी । भा॰ ६

10

15

20

25

80

खागतं खागतं चेति प्रभपूर्वमपूर्वमुत्। 'आगन्तव्यं मद्भ्यर्णं नित्यमि'त्यवद्तु पुनः ॥ २२० ॥ अन्येद्युरुष्ठसत्त्लेहसिन्धुकछोलसङ्कलः। इत्युपाध्यायमूर्द्धन्यान् धन्यान् धात्रीधवोऽभ्यधात् ॥ २२१ ॥ 'अनन्यजन्यसौजन्यलावण्यग्रुणशालिनः । सिद्धिचन्द्राः प्रकुर्वन्तु प्रत्यहं मत्पुरः क्षणम्'॥ २२२॥ श्रुण्वन् हर्षोल्लसद्धरीमस्तदेशनां चपः। तत्कमाम्भोजयोर्भृङ्गभङ्गीमङ्गीचकार सः॥ २२३॥ अगमच कियान् कालस्तेषामेवं प्रकुर्वताम्। प्रससार चतुर्विश्च ततस्तद्वणघोरणी ॥ २२४ ॥ लग्नं तेषु तथा प्रेम वज्रलेपेन तन्मनः। न यथाऽऽकर्षि राज्यश्रीधुरीणैरपि वारणैः ॥ २२५ ॥ तेऽपि क्ष्मापगतं चेतः लेहाधिक्यतयात्मनः। आकृष्ट्रमक्षमा आसन् पङ्कमग्रमिव द्विपम् ॥ २२६ ॥ आकाशान्निपतद्वद्वाप्रबाह्यस्ययाभितः। श्वेतद्वीपायिते चन्द्रज्योत्स्वया भृतस्रेऽस्त्रिसे ॥ २२७ ॥

इतश्रन्द्रोदयवर्णनम्-

कैलाशायितमित्रिभिर्विटिपिभिः श्वेतातपत्रायितं

मृत्पिण्डेन द्धीयितं जलिनिधौ तुग्धायितं वारिभिः।

मुक्ताहारलतायितं व्रतिभिः शङ्खायितं श्रीफलैः।

श्वेतद्वीपजनायितं जनपदैर्जाते शशाङ्कोदये॥ २२८॥

मुग्धा दुग्धिया गवां विद्धते कुम्भानधोवल्लवाः,

कर्णे कैरवशङ्क्या कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि।

कर्कन्थूफलमुचिनोति शवरी मुक्ताफलाशङ्कया,

सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका!॥ २२९॥

मुक्तादाममनोरथेन वनिता गृह्णन्ति वातायने,

गोष्ठे गोपवधूर्दधीनि मथितुं कुम्भागतान् वाञ्छति।

उचिन्वन्ति च मालतीषु कुसुमश्रद्धालवो मालिकाः,

शुभ्रान् विभ्रमकारिणः शशाकरान् पश्यम् को मुद्यति १॥ २३०॥

कराले मार्जारी पय इति करान् लेढि शशान,
स्तरुच्छद्रभेतान् विशमिति करी संकलयित।

रतान्ते तल्पस्थान् हरति वनिताऽप्यंशुकमिति,

प्रभामत्त्रश्चन्द्रो जगदिदमहो ! विश्वयते ॥ २३१ ॥

• •	
गन्धान्धा मधुपा भ्रमन्ति कुमुदं ना्साच पर्याकुलाः,	
ू पार्श्वस्थैरपि हन्त हंसमिथुनैरन्योन्यमुद्रीक्ष्यते ।	
किं चेते मदवारणा अपि रसादुन्मुच्य वैरं मिथो,	
मन्दं मन्द्रिम्व स्प्र्ञां करिणीमाञ्जङ्कमानाः करैः ॥ २३२ ॥	
ज्योत्स्ना जाले निमग्नं स्पृशति वनकरी शुण्डया दन्तदण्डं,	5
साराङ्कं कण्ठनालं वलयति चमरी चामरं द्रष्टुकामा ।	
साभा क्रुजत्यजसं प्रसवमणिमनालोकयन्ती मराली,	
ृकिं बूमः क्षीरसिन्धुस्तुहिनगिरिरपि कापि चन्द्रेण नीतौ ॥ २३३ ॥	
कर्पूरैः किमपूरि किं मलयजैरालेपि किं पारदै-,	
रक्षालि स्फटिकान्तरैः किमघटि द्यावाप्रथिव्योर्वेषुः ।	10
एतत्तर्कय कैरवक्रमहरे शृङ्गारदीक्षाग्ररो,	``
दिक्कान्तामुकुरे चकोरसुहृदि प्रौढे तुषारत्विषि ॥ २३४ ॥	
व्याख्यानं कुर्वतां तेषां परभागवतां सताम् ।	
अन्तराले विसृद्यान्तः किश्चिदित्युक्तवान् चपः ॥ २३५ ॥	
'परब्रह्मप्रसक्तानां व्यतीतानि कियन्ति वः ।	15
प्रारभ्य जन्मतोञ्ब्दानि' प्रोचुस्ते 'पश्चविंदातिः' ॥ २३६ ॥	
अथ पुंस्कोकिलालापकल्पमयमकल्पयत् ।	
अथ पुस्काकिलालापकल्पमयमकल्पयत्।	
श्रीज्ञाहिः पुण्यकान्तारसहकारतरुभिमम् ॥ २३७ ॥	
'लक्षणानि निरीक्ष्यन्ते क्षोणिरक्षाक्ष्माणि ते।	
मोल्लसचारुतारुण्यो भगवन्! भासते भवान् ॥ २३८ ॥	20
वयसीइ(?)ततस्ताम्रतरुणीकरणोचिते ।	
सौख्यं विषयिकं व्यक्तवा किमात्मा तपसेऽर्पितः ?'॥ २३९॥	
अथ दन्तांशुसन्दोहच्छद्मना देहिनीमिव।	
अवर्त्तयद्गिरं रङ्गनमृदङ्गाभध्वनिर्मुनिः॥ २४०॥	
'नवे वयसि या दीक्षा नैव हास्याय सा सताम्।	25
न हि पीयूषपानेऽपि प्रस्तावः प्रेक्षते बुधैः ॥ २४१ ॥	٠
तारुण्यं वा जरा वाऽस्तु वास्तवः कस्तपःक्षणः।	
यत्र वा तत्र वा मृत्युरनवस्थो हि देहिनाम् ॥ २४२ ॥	
राजन्! जरसि शक्तिः कक च शकित विना तपः।	
परिव्रजन् जनस्तस्यां बोधनयति मोहताम् ॥ २४३ ॥	30
शक्तिकार्याणि कार्याणि जरायां प्रारमेत यः।	
तस्य प्रहस्यते बुद्धिः पिलतच्छलतस्तया ॥ २४४ ॥	
अनादिसिद्धदुष्कर्मद्वेषिसंघातघातकम् ।	
इदमादियते धीरैः खडधारोपमं तपः ॥ २४५ ॥	

ज्ञानचक्षुषि नैर्मल्यं तत्त्वातत्त्वविलोकनम्। तपस्तपनवद्तते तमःशमनतः सताम्'॥ २४६॥ कृतकाद्म्बरीपानविघूर्णितविलोचनः। भूयः प्रत्याह भूपस्तान् भीष्मगम्भीरया गिरा ॥ २४७ ॥ 5 'प्रवर्द्धमाने तारुण्ये मीनकेतनसद्मनि। अत्यन्ततरलं चेतः कथं स्थैर्यमुपैति वः ?'॥ २४८॥ सिद्धिचन्द्रैस्ततः प्रोचे 'ज्ञानेनैतत् स्थिरीभवेत्। अन्यैरपि यथा व्यालोऽङ्कदोनाकृष्य रक्षते'॥ २४९॥ अभ्यधात् पुनरुवींशो 'भवदुक्तमिदं मया। सम्यक्तया कथं ज्ञातुं ज्ञक्यं तद् ज्ञानमन्तरा ?'॥ २५०॥ 10 अभाणि भूयस्तैरेवं 'नात्र ज्ञानमपेक्ष्यते। भूखर्गिणां भवद्गोज्याद् यथास्ति विमुखं मनः॥ २५१॥ अप्यसाकं तथैवाऽऽस्ते विषयेभ्यः पराञ्जुखम् । अलब्धतद्रसाखाद्वतामाजनमतो मनः॥ २५२॥ सकान्तं चानुयातीनां योषितां स्वजनादितः। 15 विरक्तं ज्ञायते चिक्तं ज्वलने ज्वलनाज्जनैः ॥ २५३ ॥ परब्रह्मणि लीनानां निलीनानां दामाम्बधौ। राऋचिकष्वदीनानां मीनानां रार्मनीरधौ ॥ २५४॥ शुद्धमार्गाध्वनीनानां नवीनानां गुणार्जने । परोपकृत्यधीनानां पीनानां पुण्यकर्मणि ॥ २५५ ॥ 20 परिग्रहविहीनानामदीनानामभिग्रहे। मुनीनामात्मनीनानामीशानां त्रिदशामि ॥ २५६ ॥ विरक्तं विषयग्रामात्तथा चेतस्तपिबनाम्। नितान्तनिःस्पृहत्वादिगुणैरेवानुमीयते'॥ २५७॥ इत्युक्ते तदभिप्रायं जानन् राजाऽनुतस्थिवान्। 25 आनन्दमग्री रोमाश्रस्तोमाश्रिततनुश्रिरम् ॥ २५८ ॥ मञ्जरीरूपवृक्षस्य पुष्पेषोरिव कामिनी। प्रभासीभाग्यरत्रस्य लक्ष्मीलीवण्यवारिधेः॥ २५९॥ तदग्रमहिषी न्रमहल्लास्ते ऽतिवल्लभा। जितं भासेव वक्त्रेन्दोनोसीचस्याः सितं बहिः॥ २६०॥ युम्मम्। 30 अङ्गुलिपछ्चोछासि नलांशुकुसुमाश्चितम्। असेवि भूपरम्भक्षेर्यस्या बाहुलतायुगम् ॥ ५६१ ॥

काश्चीपद्दो नितम्बेऽस्ति मद्धःस्थेऽपि नो मि।	
इतीव दुःखतस्तस्या मध्यदेशः कृशोऽभवत् ॥ २६२ ॥	
अभितः शोभते यस्याः इयामला कुन्तलावलिः।	
विधुभ्रमेण वक्त्रस्य रजनीवानुचारिणी ॥ २६३ ॥	
वीज्यमानस्य विश्वेन लोचनाचलचामरैः।	5
यत्कण्ठो मुखराजस्य वैत्रासनमिवेक्ष्यते ॥ २६४ ॥	
भ्राजेऽनुमीयमाना या विपंची मधुरखरैः।	
मुक्तावलीव भारत्या यन्मुखे दशनावली ॥ २६५ ॥	
अञ्ज एव ऋमौ यस्या न हंसो यदसेवत ।	
गतिनिर्जयल्जीव जानीमस्तत्र कारणम् ॥ २६६ ॥	10
इत्यस्याः सक्ले गात्रे महान् दोषोऽयमेव हि।	
अपि वर्षेशतैस्तृप्तिः परयतः कस्यचित्रहि ॥ २६७ ॥	
सखप्यन्तःपुरे तस्यां रेमे क्ष्मापतिमानसम् ।	
लक्ष्ये नक्षत्रलक्षेऽपि चक्षुश्चन्द्रतनौ व्रजेत् ॥ २६८ ॥	
तदा विश्वम्भराभर्त्तुः साऽब्रवीत् प्राणवल्लभा ।	15
'तारुण्ये क मनःस्थैर्यमस्भाव्यमिदं वचः'॥ २६९॥	
तद्वाक्यश्रवणाजाताहंकारैस्तैरभाणि सा ।	
'बलक्षाधिपतिः किं न तारुण्येऽभूजितेन्द्रियः॥ २७०॥	
तथा चाहुः—	
'सोल्रह सहस महेलिआं, तुरी अठारह लक्स ।	. 20
 सांइंकेरइ कारणइं, छोड्या सहर बिलक्स ।। २७१ ॥	•
विद्योषः कोऽपि नैवास्ति तारुण्य-तदभावयोः।	
पूर्वीपार्जितपुण्यस्य प्रभावादेव तद्भवेत् ॥ २७२ ॥	
आवालतो मनःस्यैर्य्यं केषाश्चिन्न तपस्विनाम् ।	
मक्षिकाणामिव व्योम्नि गमनं नैव हस्तिनाम् ॥ २७३ ॥	25
ज्यायांसः सन्ति भूयांसो विषयासक्तचेतसः।	
अतो हि चेतसः स्थैये वृद्धत्वं न प्रयोजकम्'॥ २७४॥	
स्मयाभिभूता भूयोऽपि सैव तान् प्रत्यभाषत् ।	
'योगस्तु भक्तभोगानां नृणां प्रान्ते प्रकीर्त्तितः॥ २७५॥	
भुत्तवैव विविधान् भोगान् ये त्यजन्ति त एव हि।	30
लोके स्युस्त्यागिनः सम्यग् नान्ये त्वप्राप्ततद्वसाः ॥ २७६ ॥	
अलब्धविषयास्त्रादा ये भवन्ति तपस्त्रिनः।	
ते स्युर्वनेचरप्रख्यास्तत्त्वातत्त्वविदो नहि ॥ २७७ ॥	
अरुचिः स्यान् नृणां द्याश्वद् भुज्यमाने च वस्तुनि ।	
तथैव भुक्तभोगस्य विषयेषु न चान्यथा ॥ २७८ ॥	35
रायम ग्राप्त नागर्य विषयम न चान्यया ॥ ४७८ ॥	

अदृष्टे वस्तुनि प्रायो मनो घावति सत्वरम्। तथैवामुक्तभोगस्य मनस्तत्रैव गच्छति'॥ २७९॥ अथाभ्यधात् सुधापूरसोदरं सुगुरुगिरम्। 'त्वदुदीरितवाक्यस्य विपर्यासोऽस्ति साम्प्रतम् ॥ २८० ॥ कृतादिषु जना भुक्तभोगिनो योगिनोऽभवन्। 5 कलौ तु योगिनभ्यायः समजायन्त भोगिनः ॥ २८१ ॥ अपलितमुण्डं पदया वानप्रस्था भवन्ति कृतयुगजाः। कलिजन्मानः पलिते समग्रदेहेऽपि विषयार्ताः ॥ २८२ ॥ दृश्यन्तेऽच कनीयांसो व्रतनिर्वाहकारिणः। ज्यायांसस्तु प्रपद्मापि व्रतं तत्रातिकातराः' ॥ २८३ ॥ 10 ततः श्रीमज्जिहांगीरः पुनस्तानभ्यधादिति । 'सर्वमेतन्मयाऽश्रावि त्वद्वचो युक्तिसंयुतम् ॥ २८४ ॥ मुनिमार्गानुगामित्वं साम्प्रतं साम्प्रतं न ते। विलोक्यते गन्धफलीप्रख्येयं यत्तनुस्तव ॥ २८५ ॥ मालतीमुकुछे युक्तं किं कुकूलाग्निमोचनम्। 15 योग्यं वा नलिनीनाले कचित् ऋकचदारणम् ? ॥ २८६ ॥ वरं क्षीमाम्बरे किं स्यात् कर्करोत्करबन्धनम्। उचैर्मिषचूर्णस्योचितः क्षेपः किमीक्षणे ?॥ २८७॥ काचकुम्भे किमु श्रेष्ठं हठान्मुद्गरताडनम्। कि रम्भास्तमभगर्भेऽसिघातः पातः सतां मतः ?॥ २८८॥ 20 अस्मिन् शिरीषपुष्पाग्रसुकुमारे कुमार ! किम्। केशोन्मूलनमुख्यानि दुःखानीष्टानि तेऽङ्गके ! ॥ २८९ ॥ आश्रमेषु च सर्वेषु ज्यायान् गृह्येव कीर्त्तितः। प्रवर्त्तनं यतोऽन्येषां तदाधारतया स्थितम् ॥ २९० ॥ वाहिनीभिः परिवृतः समुद्रस्त्वं समुद्रवत्। 25 तिष्ठ मत्सूनुसाद्दयमुद्धह्न् मम सन्निधौ ॥ २९१ ॥ मृगेक्षणाभिः संसारसारता ज्ञायते जने। अतः सदारतां तावत् स्वीकुरुष्व मदुक्तितः॥ २९२॥ यतः पुत्रादिसंपत्तौ साफल्यं जन्मनो भवेत्। पादपो हि फलाभावे ग्रामीणैरपि निन्यते ॥ २९३॥ 30 तृणादपि लघु प्रोक्ता धान्यत्वग्मार्गणास्ततः। अतो हि तुच्छताहेतु कर्म कुर्वन्न रुज्जसे ॥ २९४ ॥ अहो रूपमहो सत्त्वमहो विद्यापरिश्रमः। भवत्सु सर्वशोभाकृन्सुक्त्वैकां पादचारिताम् ॥ २९५ ॥

जगत्कर्जा कृतं सर्वमस्माकं भुक्तिहेतवे।	
तिन्निर्देशं प्रकुर्वाणा अग्रेऽपि सुखिनो वयम् ॥ २९६ ॥	
इहापि दुःखिनो यूयं पर्त्रापि च दुःखिनः।	
भवितास्थेश्वरघोक्तमार्गातिक्रमतत्पराः'॥ २९७॥	
इति यौक्तिकमाकण्यं सुरत्राणोदितं वचः।	5
ते पुनर्धेर्यमालम्ब्याविलम्बेनोत्तरं ददुः॥ २९८॥	
'आदिष्टं सत्यमेवैतत् प्रियं च प्रभुभिः परम् ।	
रक्तानां क्षोभयेचित्तं विरक्तानां तु न क्वित्'॥ २९९॥	
इति व्याहृतिमाकण्ये धीधनस्याथ भूधनः।	
रुपा ज्याद्वासमायाय वायमस्याय भूयमः । स्फारविद्वचमत्काररचनं वचनं जगौ ॥ ३०० ॥	10
'मन एव मनुष्याणां प्रमाणं पुण्यपापयोः।	
मनो विना विधाने च न काचिन्नियमक्षतिः॥ ३०१॥	
अत्रापि कश्चिद्दोषश्चेत् प्रायश्चित्तेन तं पुनः।	
निराकुर्या छङ्घनोत्थं काइर्य पथ्यादनादिव ॥ ३०२ ॥	
उत्सर्गश्चापवादश्च यतिधर्मेऽप्युभौ स्मृतौ।	15
सर्वेरिप यतः सार्वेस्तदैकान्तग्रहो मुघा ॥ ३०३ ॥	
किश् न	
साद्वाद एव सर्वत्र युक्तः स्यादादवादिनाम्।	
तेषामेकान्तवादस्तु मिध्यात्विमिति गीयते ॥ ३०४॥	
त्यक्तवा कदाग्रहं धीमन्! उरीकृत्य च मद्भचः।	20
यथेच्छं सुङ्क्ष्व सौख्यानि सुद्येत् कः खहिते सुधीः ?'॥ ३०५॥	20
युत्तया साक्षेपिमत्युक्तेऽर्हन्मतज्ञेन ज्ञाहिना।	
प्रोचिरं निष्प्रकम्पास्ते स्वीयधर्मेकचेतसः॥ ३०६॥	
'वाच्यमेतद्धि निखिलं कातरं पुरुषं प्रति ।	
न प्राणान्तेऽप्यतिचरेद् धर्म धीरः पुनर्भनाक् ॥ ३०७ ॥	25
अत्यत्पादण्यतीचाराद् धर्मस्यासारतैव हि।	20
अंहिकण्टकमात्रेण पुमान् पङ्ग्यते न किम् ॥ ३०८ ॥	
यच्छुद्धौ क्रियते प्रायश्चित्तं तत् त्याज्यमादितः।	
प्रक्षालनीयो यस्तस्य पङ्कस्यास्पर्शनं वरम् ॥ ३०९ ॥	
उत्सर्गमार्गेऽद्यक्तस्यापवादः प्रतिपाद्यते ।	30
अपवादोऽपवादाय दाक्तस्य तु सुनिश्चितम् ॥ ३१० ॥	
स्याद्वादोऽपि न निर्दिष्टः पापकृत्ये कृतात्मिभः।	
माहाहमापि वैकाववाव सामक्ति ॥ २०० ॥	

भवे भवे प्रियापुत्रसंयोगान् लब्धपूर्व्यहम्। न तु धर्में कचित्तं तत् खजेयं तत्कृते कथम् ॥ ३१२ ॥ सर्वेभ्योऽपि प्रियाः प्राणास्तेऽपि यांत्वधुनापि हि। न पुनः खीकृतं धर्मे खण्डयाम्यल्पमप्यहम्'॥ ३१३॥ 5 'धिक् ! कदाग्रहमेतस्य प्राज्ञस्यापि यतोऽमुना । अनल्पोऽल्पकृतेऽनर्थः खस्यारेभे खदात्रुणा' ॥ ३१४ ॥ इत्याद्यक्तेऽपि मन्याद्यैः खधर्मे निर्भरं हृदाः। मेनिरे तद्वचो नातः कुद्धस्तान् चपतिर्जगौ ॥ ३१५ ॥ 'रे! रे! मामवजानासि, न मे जानासि विक्रमम्?। ष्टः साक्षात् कृतान्तोऽस्मि तुष्टः कल्पद्रमः पुनः ॥ ३१६ ॥ 10 कदाग्रहविषद्रोस्तत् फलमाप्नुहि संप्रति'। इत्युत्तवाऽऽनाययद् व्यालं करालं कालवन्नपः ॥ ३१७ ॥ सुक्तिग्धाञ्जनपुञ्जाभः प्रवर्षन् मदवारिभिः। दन्तद्यतिलसद्विद्युत्तडित्वानिव मूर्त्तिमान् ॥ ३१८॥ समासो गगनस्येव व्यासो विन्ध्यगिरेरिव। 15 महाकूरत्वदीक्षादिगुरुः पितृपतेरिव ॥ ३१९ ॥ ग्रुण्डावलितद्न्ताग्रो गर्जितर्जितदिग्गजः। हग्गोचरस्य नामापि नादायन् गात्रघटनैः॥ ३२०॥ पुरादृश्रेणिकायुग्मकूलंकषमहारयः । 20 हिंसामहापगापूर इव दूरसमुन्नतः ॥ ३२१ ॥ आधोरणैस्तदा तत्रानीतः कोऽपि तदाज्ञया। भृङ्गेर्गीतयञ्चा लुब्धेद्रीनवारिणि वारणः ॥ ३२२ ॥-पञ्चभः कलापकम् । तद्भिया स्तम्भमुन्मुल्य गजा गर्वमिवात्मनः। पलायांचित्रिरे न्यस्य कर्णेभ्योहिषु चापलम् ॥ ३२३॥ 25-पलायमाना हरयो रयोपहतमास्ताः। ललङ्घिरे मिथो मार्गरोधकोधसमुद्धराः ॥ ३२४ ॥ क्षणत्करोत्यपि जगन्न येषां पतितं दृशि। वीरैस्तैरप्यहो ! हस्तस्रस्तशस्त्रैः पलायितम् ॥ ३२५ ॥ 'गाईस्थ्यमुररीकृत्य मुङ्ख भोगान् पुरंघिभिः। देशाधिपत्यं मन्यस्व गृहाणाश्वगजान् पुनः ॥ ३२६ ॥ 30 इमां शेषामिवाशेषां मदाज्ञां क्ररु मुर्द्धनि । न चेत् त्वाममुना नेता कृतान्तातिथितामहम्'॥ ३२७॥ राज्ञेत्युक्ते ज्य ते प्रोत्तः-'दुःखं दुःसहमप्यदः। धर्महेतुतयाऽसाकं गुणायैव भविष्यति'॥ ३२८॥

'मूढः सुदृढनिर्घातमत्यन्तास्फलनं विना।	
न प्रत्येतीति मौद्यस्य खस्य पदयाधुना फलम्'॥ ३२९॥	
इत्युक्तवा क्षितिपः कोपात् प्रचण्डं प्रेरयद् द्विपम् ।	
नदुन्नकालकल्पान्तकालमेघमिवोत्कटम् ॥ ३३० ॥	
आपूर्णगगनोन्मग्रसुवनश्रवणेन्द्रियः ।	5
तदाऽभूत् तुम्रुलः कोऽपि दिग्भित्तिश्रंसभूरिव ॥ ३३१ ॥	
तथाऽप्यक्षुभितान् इट्टा तानत्यन्तं व्यसेष्मयीत्।	
आदिशच वने वासं निजाज्ञोल्लङ्घनात्रृपः ॥ ३३२ ॥	
एतदप्युररीकृत्याप्रकम्पास्ते प्रतस्थिरे ।	
श्रीशाहिश्चेति सर्वत्र स्फुरन्मानमलीलिखत् ॥ ३३३ ॥	10
भद्देशवार्त्तिभिश्चान्यैर्वने स्थेयं मुमुक्षुभिः।	
निःस्प्रहाणां यतीनां यत् स्थितिस्तत्रैव युज्यते'॥ ३३४॥	
अगण्यपुण्यसौभाग्यशालिनः स्वीयसन्निषी ।	
सत्कृत्य द्याहिना श्रीमद्वाचकेन्द्रास्तु रक्षिताः ॥ ३३५ ॥	
भव्यानां बोधिबीजानि कुर्वन्तो निर्मलानि ते ।	15
सिद्धिचन्द्रास्तु संप्राप्ताः श्रीमन्मालपुरं पुरम् ॥ ३३६ ॥	
तत्रत्यसङ्घविज्ञसेस्तदध्यक्षाग्रहाच ते ।	
पर्जन्यावस्थितिं तत्र चित्ररे निरुपद्रवम् ॥ ३३७ ॥	
अन्येयुः श्रीसुरत्राणः सभासीनः शुभाशयः ।	
अद्राक्षीद् वाचकान् वीक्षापन्नानिव मुहुर्मुहुः ॥ ३३८ ॥	20
	20
'कसात् कश्चिन् महान् खेदः श्रीमतामद्य दृश्यते'?।	
अप्राक्षीचेति सस्तेहं तानाहूय खसन्निधौ ॥ ३३९ ॥	
पोचुस्ते 'भववासेन खेदो नः परमार्थतः । निःस्प्रहाणां मुम्रुक्षूणामन्यः कः स्याद् विरागिणाम् ? ॥ ३४० ॥	
दुरस्थिशिष्यरत्नस्य वियोगऋमसम्भवः।	
दूरस्याराज्यस्कर्य वियागतामसम्भवः । तथाप्येष महाराज! साम्प्रतं मम वाघते'॥ ३४१॥	25
त्याप्यपं महाराजाः साम्यतं मम पायतः ॥ २०९ ॥ इति श्रीवाचकप्रोक्तं श्रुत्वा स्मृत्वा च भूविभुः ।	
स्वधमें दृढतां तेषामिति चित्ते व्यचिन्तयत् ॥ ३४२ ॥	
धिग्! मां मोहवशित्वेन तद्दर्शनिनरादरम्।	
घूकनेत्रमिव ध्वान्तमित्रत्वेनाक्षेतिःस्पृहम् ॥ ३४३ ॥	30
खागोविषण्णस्तत्रैव निषण्णः स प्रसन्नहर्ग्।	00
आह्वातुं सिद्धिचन्द्राणां स्फुरन्मानमलीलिखत् ॥ ३४४ ॥	
तेऽपि सम्प्राप्य तत् तूर्णं शुभोदर्कमिवात्मनः।	
विद्वगैर्विद्धितोत्साहाः प्रशत तसात प्रतिथिरे ॥ ३४५ ॥	

5

10

15

20

25

30

क्रमाच प्राविशत्रुचैनीनाश्चर्यावहैमेहैः। उग्रसेनपुरं तेषां कीर्त्तयश्च दिगन्तरम्॥ ३४६॥

अथो ते मेदिनीमन्तं मिलन्ति सा शुभेऽहनि। सोऽपि संवीक्ष्य तानेवं प्रशशंस मुहुर्मुहुः॥ ३४७॥ 'धन्यानामपि धन्यस्त्वं श्लाघ्यः श्लाघायुजामपि । विश्वेऽपि त्वत्समः कोऽस्तु सात्त्विकैकिशोमणिः॥ ३४८॥ मान्यानामपि मान्यश्च नान्यस्त्वत्तो जगत्यपि। धर्मे विपरिणामस्ते यतो नैतावताऽप्यभूत् ॥ ३४९ ॥ दुश्चेष्टितं तदेतन् मे मर्षयामर्षवर्जित!। सन्त एव यतः सर्वेसहायां तद्भुणस्प्रदाः'॥ ३५०॥ लब्धवणीस्ततस्तेऽपि तं निर्वेदपरं रूपम्। आचिक्षरे विचाराब्धिचश्चचिन्द्रकया गिरा ॥ ३५१ ॥ 'नापराद्धं त्वया किन्तु कृतिन्! उपकृतिः कृता । तव साहाय्यमाहात्म्याद् यद् दुष्कर्म क्षितं मया ॥ ३५२ ॥ अपराधस्त्वया इन्त ! क्षन्तव्यः किन्तु मामकः। यत्तवैवं बभूवाहं दुष्कर्मार्जनकारणम्'॥ ३५३॥ भूयोभूयस्ततस्तेषां जगाद जगतीपतिः। रोमहर्षाङ्कराकीणीं हर्षाश्चकणमिश्रदक ॥ ३५४ ॥ 'किश्चिचारूयाहि कृत्यं मे सद्यः संपादये यथा'। इत्युक्ते क्षितिपेनोचैस्तेऽपि तूर्णं तमभ्यधुः ॥ ३५५ ॥ 'पूर्वे ये मुनयः खाम्यादेशान्निर्विषयीकृताः। पुनरायान्तु ते सर्वे प्रसचैतत् प्रदीयताम् ॥ ३५६ ॥ पूर्ववद् विष्येऽसाकं तन्निशम्यावदन् रूपः। 'यथेष्टमेते तिष्ठन्तु' पत्रं कृत्वाऽथ दत्तवान् ॥ ३५७ ॥ प्रतिग्रामं प्रतिद्रङ्गं ततःप्रभृति पूर्ववत्। समीयुः साधवः आद्धकृतैश्चित्रावहेर्महेः॥ ३५८॥

।। इत्युपाध्यायश्रीसिद्धिचन्द्रगणिविरचिते महोपाध्यायश्रीभानुचन्द्रगणिप्रभावक्षुरुषचिते महाकाव्ये पातिशाहश्रीजिहांगीरप्रसन्नप्रदत्तकमनीयकामिनीसमन्वितपञ्चसहस्रतुरगाधिपत्यानङ्गीकारकरणवन-गमन-पुनरिप श्रीशाहिपदत्तवहुमानस्फुरन्मानमेवडाप्रेषणपूर्वकव्याष्ट्रत्यागमन-महोपाध्यायश्रीभानु-चन्द्रगणिद्वारा श्रीशाहिमिलन-सर्वत्र श्रीशाहिनिर्विषयीकृतसमस्तसाधुजन पुनरिप सर्वत्र सुला-वस्थानविद्वारकरणस्फुरन्मानविधापनादिवर्णनो नाम तृतीयः (चतुर्थः) प्रकाशः ॥ छ ॥

[॥] महोपाध्याय श्री १९ श्री**भानुचन्द्रगणिविष्य**सकलपण्डित**वि**रोमणिपण्डितश्री**देवचन्द्रगणिपण्डित-**श्रीविवेकचन्द्रगणिविष्यमुनिगुणचन्द्रेण लिखितः ॥

APPENDIX I

भानुचन्द्रकृत-ग्रन्थ-प्रशस्त्यादि ।

१ सूर्यसहस्रनामस्तोत्रम्.

॥ ९० ॥ ॐ नमः श्री सूर्याय ।

नमः श्रीसूर्यदेवाय सहस्रनामधारिणे । कारिणे सर्वसौख्यानां प्रतापाद्भततेजसे ॥ १ ॥

आदिदेव, आदित्य, आदितेजाः, आप, आचारतत्परः, आयुः, आयुष्मान्, आकार, आकाश, आलोककृत, आसुक्त, क्ष्कार, आरोग्य, आरोग्यकारण, आञ्चग, आतप, आतपी, आत्मा, आत्रेय, असह, असंगगामी, असुरांतक, उद्धापति, अहस्पति, अहिममान् (पा॰ अहिमान्), अहिमांशुभृतः-तिः, अहिमकरः, अहिमरुक्, अहिमरुचिः, अहिंसक, अहर्म्मणि, उदारकम्मां, अद्वितीय, उदीच्यवेश, अपांपतिः, अमयप्रदः, अभिनंदितः, अभिष्ठुतः, अब्जहस्तः, अब्जवांघवः, अपराजित, अप्रमेय, अज, उच्चैः, अच्युत, अजय, अचल, अचिन्त्य, अचिन्त्यात्मा, अचर, अजित, अविचिन्त्यवपुः, अन्यय, अन्यंगधारी, ऊर्जित, अयोनिज, ऐंधन, एक, एकाकी, प्कचकरथ, एकनाथ, ईश, ईश्वर, अक्किष्टकर्मकृत्, उग्ररूप, अग्नि, अकिंचन, अक्षोधन, अक्षर, अलंकार, अलंकृत(पा० अलंकृत्), भमाय, अमेयात्मा, अमरप्रभु, अमरश्रेष्ठ, अमित, अमितात्मा, अणु, इन, अनादांत, अधकारापह, इन्द्र, अभ, अभोजबन्धु, अंबुद, अंबरभूषण, अनेक, अंगारक, अंगिरा, अनल, अनलप्रभ, अनिमित्तगति, अनंग, अन्न, अनन्त, अनिर्देश्य, अनिर्देश्यवपुः, अंग्रु, अंग्रुमान् , अंग्रुमाली, अनुत्तम, अरिहा । १०० । अरहन् , अरविंदाक्ष, अर्थमा, अर्क, अरिमर्दन, अरुणसार्था, अश्वत्य, अशीवरहिम, उष्णकर, अश्विन, अशिशिर, अतुलद्यति, अतीनद्र, अतीनद्रय, उत्तम, उत्तर, साधु, सावर्ण-णीं, सावित्री, सविता(पा॰ साविता), सायन, सौष्य(क्य)सागर, साम, सामवेद, सारंगधन्वा, सहस्राक्ष, सहस्रांश्च, सहस्रधामा, सहस्रदीधितिः, सहस्रपात्, सहस्रचक्षुः, सहस्रश्रोत्रः, सहस्रकरः, सहस्रकिरण, सहस्ररिम, सदायोगी, सदागति, सुधर्मा, सिद्धः, सिद्धकार्य, सभाजित्, सुप्रभ, सुप्रदीपक, सुप्रभावन्, सुप्रभाकर, सुप्रिय, सुपर्ण, सप्तार्चिः, सप्ताश्वः, सप्तजिह्न, सप्तरोकिनमस्कृत, सप्तमीिवय, सिमान्, सप्तसि, सप्ततुरग, खखाद्दाकार, सुवाहन, खाद्दाभुक, खाचार, सुवाक्, सुसंयुक्त, सुस्थित, खजन, सुवेश, सुक्ष्म, सूक्ष्मघी, सोम, सूर्य, सुवर्चा, सुवर्ण, स्वर्ण, स्वर्णरेता, सुबिशिष्ट, सुवितान, सैंहिकेयरिपु, स्वयंविशु, सुखद, सुस्त्राद, सुस्त्री, सुस्रतेष्य, सुकेतन, स्कंद, सुछोचन, समाहितमति, समायुक्त, समाकृति, सुमहाबळ, समुद्र, सुमूर्ति, सुमेषा, सुमनाः, सुमनोहर, सुमंगल, सुमति, सुमत, सुमतिंजय, सनातन, संसारार्णवतारक । २०० । संसारगतिविच्छेचा, संसारतारक, संहर्चा, संपूरण, सम्पन्न, सम्प्रकाशक, सम्प्रतापन, सञ्चारी, सञ्जीवन, संयम, संविभाग्य, संवर्त्तक, संवरसर, संवरसरकर, सुनय, सुनेत्र, सङ्कल्प, सङ्कल्पयोनि, संतापन, संतानकृत्, संतपन, सुराध्यक्ष, सुरावृत, सुरारिह, सुरारि, सर्वसद, स्वर्भानु, सर्वद, सर्वदर्शी, सर्वेत्रिय, सर्ववेदप्रगीतात्मा, सर्वेवेदाळ्य, सर्वरत्नमय, सुरप्जित, सर्वलोकप्रकाशक, सुरपति, सर्वशत्रुनिवारण, सर्वतोसुल, सर्व, सर्वोत्मा, सर्वस्त्र, सर्वस्त्री, सर्वद्योत, सर्वेद्युतिकर, सर्वजितांबर, सर्वोद्रधिस्थितिकर, सर्ववृत, सर्वमदन, सर्वप्रहरणायुध, सर्वप्रकाशक, सर्वग, सर्वक्र, सर्वक्रहयाणभाजन, सर्वसाक्षी, सर्वशस्त्रमृतावर, सुरेश, सर्ग, सर्गादिकर, सुरकार्यज्ञ, सर्गद्वार, स्वर्गप्रतद्देन, सुरवी, सुरमणि, सुरनिभाकृति, सुरश्रेष्ठ, सृष्टि, स्नष्टा, श्रेष्ठात्मा, सृष्टिकृत्, सृष्टिकर्त्ता, सुरथ, सित, स्थावरात्मक, स्थानस्थूलदक्, स्थविर, स्थित, स्थेय, स्थितिमान्, स्थितिहेतु, स्थिरात्मक, स्थितिस्थेय, स्थितिथिय, सुतप, सत्व, स्रोत्र, सत्यवान्, सत्य, सत्यसंधि, हुव, होम, होमांतकरण, होता, हयग, हेलि, हिमद, इंस, हर, हिर, हिरदश्व। ३००। हिरिप्रिय, हर्यश्व, हरी, हिरण्यगर्भ, हिरण्यरेता, हरिताश्व, हुत, हुताहुति, द्यौः, दुःस्वमाश्चभनाशन, धराधर, धाता, ध्वांतापह, ध्वांतसूदन, ध्वांतिबिद्वेषी, ध्वांतहा, धूमकेतु, भीमान्, भीर, भीरात्मा, धन, धनाध्यक्ष, धनद, धनंजय, धन्वन्तरि, धन्य, धनुर्धर, धनुष्मान्, ध्रुव, धर्मा, धरमीधर्माप्रवर्त्तक, धर्माधर्मावरप्रद, धर्माद, धर्माप्वज, धर्मावृक्ष, धर्मावृत, धर्मावरसल, धर्मकर्त्ता, धर्मानिल, धर्मारत, धरणीधर, धर्माराज, धतातपत्राप्रतिम(पत्राअप्रतिम), धतिकर, धतिमान्, दिवा, द्वादशारमा, द्वापर, दिवापुर, दिवापति, दिवाकर, दिवाकृत, दिवसप्रति, दिबिस्थित, दिन्यवाह, दिन्यव्युः, दिन्यरूप, ग्रुवृक्ष, दयालु, देहकर्त्ता, दीधितिमान्, दीप, दीसांञ्च, दीसदीधिति, देव, देवदेव, धोत, द्योतन, चोतितानल, दिक्पति, दिग्वासा, दक्ष, दिनाधीश, दिनबन्धु, दिनमणी, दिनकृत्, दिननाथ, दुराराध्य, पापनाशन, पावन, भास्त्रान्, भास्कर, भासंत, भासत, भासित, भावितात्मा, भाग्य, भानु, भानिमि, भानुकेसर, भानुमान्, भानुमान् (?), भानुरूष, बहुदायक, भूधर, भवद्योत, भूपति, भूष्य । ४०० । भूषणोद्गासी, भोगी, भोक्ता, भुवनप्जित, भुवनेश्वर, भूष्णु, भूतादि, भूतांतकरण, भूतात्मा, भूताश्रय, भूतिद, भूतभव्य, भूतिवसु, भूतप्रभु, भूतपति, भूतेश, भूषण, भयांतकरण, भीम, भीमत, भग, भगवान्, भक्तवस्तल, बहुमंगळ, बहुरूप, भृताहार, भिषम्वर, बुद्ध, बुद्धिवर्द्धन, बुद्धि, बुद्धिमान्, म्रप्न, पद्महस्त, पद्मपाणि, पद्मबन्धु, पद्मयोगी, पद्मयोनि, पद्मोदरनिभानन, पद्मेक्षण, पद्ममाली, पद्मनाभ,

पद्मिनीश, विभावस, विचित्ररथ, पूतारमा, पवित्रारमा, पूया, ब्योममणि, पीतवासा, पक्षवल, बळभृत्, बलप्रिय, बलवान्, बली, वलिनांबर, पिनाकश्चक्, बिन्दु, बंधु, बंधहा, पुंडरीकाक्ष, पुण्य-संकीर्त्तन, पुण्यहेतु, पर, प्राप्तयान, परावरज्ञ, परायण, प्राज्ञ, पराक्रम, प्राणधारक, प्राणवान्, प्रांशु, प्रसन्नात्मा, प्रसन्नवदन, ब्रह्मा, ब्रह्मचर्यवान्, प्रद्योतन, प्रधातन, प्रभावन, प्रभाकर, प्रभंजन, परप्राण, परपुरंजय, प्रजाद्वार, प्रजापति, प्रजन, पर्जन्यप्रिय, प्रियदर्शन, प्रियकारी, प्रियकृत्, प्रियंत्रद् प्रियंकर, प्रयत, प्रीति, प्रयतात्मा, प्रीतात्मा, प्रयतानंद, प्रीतिमना, प्रकाशन । ५०० । पुरुषोत्तम, प्रकृति, प्रकृतिस्थिति, प्रलंबहार, परमोदार, परमेष्टी, पुरंदर, प्रणतार्तिहा, प्रणतार्तिहर, परंतप, प्ररेता, प्रशांत, प्रशम, प्रतापन, प्रतापनान्, पृथ्वी, प्रथित, प्रत्यूह, वृषाकिप, पुरुष, वृषध्वज, विश्व, विश्वामित्र, विश्वंभर, पशुमान्, विश्वतापन, पिता, पितामह, पतग, पतंग, पितृद्वार, पुष्कलनिभ, बषट्कार, ज्यायान्, जामद्रश्यजित्, चारुचरित, जाठर, जातवेदा, छंदवाहन, योगी, योगीश्वरपति, योगनित्य, योगतत्पर, यो(ज्यो)तिरीश, जय, जीव, जीवानन्द, जीवन, जीवनाथ, जीमृत, जनिषय, जेता-जगत्, युगादिकृत्, युग, युगार्त्तव, जगदाधार, जगदादिज, जगदानन्द, जगदीप, जगजेता, चक्रवंधु, चक्रवर्त्ति, चक्रपाणि, जगन्नाथ, जगत्, जगतामंतकरण, जगतांपति, जगत्साक्षी, जगत्पति, जगित्पय, जगित्वता, यम, जनाईन, जनानंद, चंडकर, जनेश्वर, जंगम, जनियता, चराचरात्मा, यशस्वी, जिष्णु, जितावरीश, जितवपुः, जितेन्द्रिय, चतुर्भुज, चतुर्वेद, चतुर्वेदमय, चतुर्भुख, चित्रांगद, वासुकि, वासरेशिता, वासरस्वामी, वासरप्रभु, वासरिप्रय, वासरेश्वर, वाहनार्तिहर, वायु, वायुवाहन, वायुरत, वाग्विशारद, वाग्मी, वारिधि । ६०० । वारण, वसुदाता, वसुप्रद, वसुप्रिय, वसुमान्, विस्तृज, विहारी, विहगवाहन, विहंग, विहंगम, विहित, विधि, विधाता, विधेय, वदान्य, विद्वान्, विद्योतन, विद्यातान्, विद्यातान्, विद्यातान्, विद्युत्वान्, विद्विताशय, विपाप्मा, विभावसु, विभव, वचसांपति, विजय, विजयप्रद, विजेता, विचक्षण, विवस्तान्, विविध, विविधासन, वज्रधर, व्याधिहा, व्याधिनाशन, व्यास, वेदांग, वेदपारग, वेदभृत, वेदवाहन, वेदवेद्य, वेदवित, वैद्य, वेदकर्त्ता, वेदसूर्ति, वेद्रिलय, ब्योमग, विचित्ररथ, ब्योममणि, वेगवान्, विगतात्मा, वीर, वैश्रवण, विगाही, विष्नशमन, विष्टुण, विग्रह, विकृति, वक्ता, व्यक्ताव्यक्त, विगतारिष्ट, विमल, विमलग्रुति, विमन्यु, विमर्खी(धी), विनिद्र, विराज, विराट्, बृहस्पति, बृहत्कीर्ति, बृहंजेता बृहत्तेजा, वरद, वरदाता, वृद्धि, वृद्धिद, वरपद, वर्चस, विरूपाक्ष, विरोचन, वरीयान्, वरुण, वरनायक, वर्णाध्यक्ष, वरुणेश, वरेण्य-वरेण्यवृत्त, वृत्तिधर, वृत्तिचारी, विश्वामित्र, वृत्ति, वशानुग, विशाष(ख), विश्वेश्वर, विश्वयोनि, विश्वजित्, विश्ववित्, विशोक, विशेषवित्, विष्णु, विश्वातमा, विश्वभावन, विश्वकर्मा, विश्वनिलय । ७०० । विश्वरूपी, विश्वतोमुख, विशिष्ट, विशिष्टारमा, विषाद, यज्ञ, यज्ञपति, काक, काल, कालानलग्रति, कालहा, कालचक्र, कालचक्रप्रवर्त्तक, कालकर्ता, कालनाशन, कालप्रय, काम, कामारि, कामद, कामचारी, कांक्षिक, कांति, कांतिप्रद, कार्यकारणावह, कारुणिक, कार्त्तस्वर, काश्यपेय, काष्टा, कि, कुबेर, कपिल, गभिक्तमान्, गभिक्तमाली, कपद्दीं, ख, खतिलक, खद्योत, खोल्का, खग, खगसत्तम, धर्मांशु, पृणी, पृणिमान्, कवि, कवच, कवची, गोपति, गोविन्द, गोमान्, ज्ञानशोभन, ज्ञानवान्, ज्ञानगम्य, श्रेय, केयूर, कीर्त्ति, कीर्त्तिवर्द्धन, कीर्त्तिकर, केतुमान्, गमनकेतु, गगनमणि, कला, कल्प, कल्पांत, कल्पांतक, कल्पांतकरण, कल्पकर, कल्पकृत्, कल्पक, कल्पकर्ता, कल्पितांबर, कल्पाण, कल्पाणकर, कल्पाणकृत्, कल्पिकालज्ञ, कल्पवपु, कल्मषापह, कमलाकरबोधन, कमलानंद्र, गुण, गन्धवह, कुण्डली, गणपति, कञ्चकी, गुणवान्, गणेश, गणेश्वर, गणनायक, गुरुगृहद, गृहपुष, प्रहपति, प्रहेश, प्रहेश्वर, ग्रहनाथ, ग्रहनश्चत्रमंडन, क्रियाहेतु, क्रियावान्, गरीयान्, किरीटी, कर्म्मसाश्ची, करण, किरण, कर्णसू, कृष्णवासा, कृष्णवर्सा, कृतकम्मी, । ८०० । कृताहार, कृतांतसू, कृतातिथि, कृतात्मा, कृतविश्व, कृती, कृत्यकृत्य, कृतमंगल, कृतिनांवर, क्षांति, क्षुधाज, क्षेम, क्षेमस्थिति, क्षेमिपय, क्षमा, कश्मलापह, गतिमान्, लोहितांग, लोकाध्यक्ष, लोकालोकनमस्कृत, लोकबंधु, लोकवत्सल, लोकेश, लोककर, लोकनाथ, लोकसाक्षी, लोकत्रयाशय, लय, मासमानिदामा, मांधाता, मानी, मारुत, मार्तंड, माता, मातर, महाबाहु, महाबुद्धि, महाबल, महायोगी, महायशाः, महावैद्य, महावीर्य, महावराह, महावृत्ति, महाकारुणिकोत्तम, महामाय, महामंत्र, महान्, महात्थ, महास्वे(श्वे)ताप्रिय, महाशक्ति, महाशनि, महातेजा, महात्मा, मुहूर्त्त, महोत्साह, महेंद्र, महेच्छ, महेश, महेश्वर, मिहिर, महित, महत्तर, मधुसूदन, मोक्षदायक, मोक्ष, मोक्षधर, मोक्षहेतु, मोक्षद्वार, मौनी, मेधा, मेधावी, मेधिक, मेध्य, मेरुमेय, मुकुटी, मनुमुनि, मंदार, मंदेहक्षेपण, मनोहर, मनोहररूप, मंगल, मंगलाख्य, मंगलवान, मंगली, मंगलकर्त्ता, मंत्र, मंत्रमूर्त्ति, मरीचिमाली, मृत्यु, मस्तामीश्वरेश्वर, मस्तांपति, मिष्टाचार, मति, मतिमान्, नाकार, नाकपालि, नागराह, नारायण, नाथ, नभ, नभस्वान्, नभोविगाहन, नभकेतन, नूतन, नोत्तर, नयनैकरूप, नैकरूपार्मा, नीलकण्ड, नीछलोहित, नेता, नियतात्मा, निकेतन, निश्चभापति, नंदिवर्धन, नंदन, नर, निराकुल, निरहंकार, निर्बन्ध, निर्पुण, निरंजन, निर्णय, नित्योदित, नित्य, नित्यगामी, निरंजन, नित्यरथ, राजा, राज्ञीप्रिय, राज्ञीपति, रवि, रविराज, रुचिपद, रद्भ, ऋद्भि, रोचिप्णु, रोगहा, रेणु, रेणुक(पा॰ रेणव), रेवंत, हृषीकेश, रक्षोघ्न, रक्तांग, रिशममाली, रि(ऋ)तु । ९०० । रथाधीश, रथाध्यक्ष, रथारूढ, रथपति, रथी, रथिनांवर, शांतिप्रिय, शास्त्र(श्व)त, साष्टाक्षर, शुद्ध, शुभ, शुभाचार, शुभप्रद, शुभकरमां, शब्दकर, शुची, शिव, शोभा, शोभन, ग्रुञ्ज, सुर, शीघ्रग, शीघ्रगति, शीर्ण, शेष, ग्रुक, ग्रुकांग, ग्रुकरूप, शक्तिमान्, शक्तिमतां श्रेष्ठ, शंभु,

शनेश्वर, शनिश्वरिता, शन्त्रं, श्रीधर, श्रीपति, श्रेयस्कर, श्रीकण्ठ, श्रीमान्, श्रीमतांवर, श्रीनिवास, श्रीनिकेतन, श्रेष्ट, शरण्य, शरण्यार्त्तिहर, श्रुतिमान्, शतिबन्दु, शतमुख, तापी, तापन, तारापित, तार्क्षवाहन, तपन, तपनांवर, विषामीश, त्वरमाण, त्वष्टा, तीव्र, तेज, तेजसांनिधि, तेजसांपित, तोजसीनिध, तेजोनिधि, तेजोनिख्य, तीक्ष्ण, तीक्ष्णदीधित, तीर्य, तिग्मांञ्च, तािश्र(स्व)हा, तमः, तमोहर, तमोनुद, तमोराति, तमोन्न, तिमिरापह, त्रिविष्टप, त्रिविक्रम, त्रय, त्रेता, त्रिकसंस्थित, त्र्यक्षर, त्रिलोचन, तरिण, त्र्यंबक, त्रिलोकेश । १०००।

यस्तिवदं ग्रृणुयान्नित्यं पठेद् वा प्रयतो नरः। प्रतापी पूर्णमायुश्च करस्थास्तस्य संपदः॥१॥
नृपाग्नितस्करभयं व्याधिभ्यो न भयं भवेत्। विजयी च भवेन्नित्यं स श्रेयः समवाग्रुयात्॥२॥
कीर्तिमान् सुभगो विद्वान् स सुखी प्रियदर्शनः। भवेद् वर्षशतायुश्च सर्ववाधाविवर्जितः॥३॥
नाम्नां सहस्रमिदमंशुमतः पठेद् यः, प्रातः शुचिर्नियमवान् सुसमाधियुक्तः।
दूरेण तं परिहरन्ति सदैव रोगाः, भीताः सुपर्णमिव सर्वमहोरगेन्द्राः॥४॥

इति श्री सूर्यसहस्रनामसोत्रं संपूर्णम् । अमुं श्री सूर्यसहस्रनामसोत्रं प्रत्यहं प्रणमत्पृथ्वीपतिकोटीरकोटिसंघद्दितपदकमल-त्रिखण्डाधिपति-दिल्लीपति-पातिसाहि श्री अकब्बर साहि जलालदीनः प्रत्यहं श्रणोति सोऽपि प्रतापवान् भवतु ॥ श्री ग्रुभं भवतु । श्री कल्याणं भवतु ॥ [(१) स्व० विचक्षणविजयमुनेः संग्रहात् प्रकटीकृतं हिन्दीमासिक पत्रे 'आत्मानन्दे' वर्ष ४ अंक ९। (२) 'गणि रत्नविजयेनालेखि । श्री सूरति वंदरे'-श्रीविजयधर्मसूरिभंडार, आग्रा नं० ३३७६.]

२ रत्नपालकथानकम्।

अन्ते—उपाध्याय श्री**भानुचंद्र**गणिभिरुदकदानोपिर कृतं रत्नपालकथानकं समाप्तम् । संवत् १६६२ वर्षे ज्येष्ठ सुदि १ गुरौ दिने मालपुरनगरतः सु० रत्ना लिखितं चिरं० दौलतीया पठनार्थम् ॥

[Yati Śrī Vivekavijay's collection, Ghumrāvālā Upāśraya at Udaipur.]

३ वसन्तराजशकुनशास्त्रवृत्तिः ।

आदौ — स्वस्ति श्रीसदनं यदीयवदनं वेधा विधायाद्धतं, वीक्ष्याश्चर्यमवाप सस्पृद्दतया सन्मार्जयन्वाससा। क्षिप्रं तच्च तथाविधेरणुगुणैर्वेषम्यमापादितं, मन्ये संप्रति रुक्ष्यते घनपथे शीतद्युतेर्मण्डरुम् ॥ १ ॥ आनम्रत्रिदरोंद्रमौलिमुकुटप्रोद्दामरत्नांद्युभिः, यत्पादद्वितयं विचित्ररचनां भंगीभिरंगीकृतम् । दिग्नागैश्च यदीयकीत्तिरतुला कणीवतंसीकृता, स श्रीवीरप्रभुर्दधातु भवतां शश्चन्मनोवांछितम् ॥ २॥

यक्षेळोक्यरमाभिरस्पृहतया सानंदमाळोकितः, तीक्ष्णैः स्वर्गिवधूकटाक्षविशिखैर्यो लक्ष्यतां नागमत् । ज्ञानैः स्वात्मसमुत्थितैश्च निखिलान्भावान्समावेदयन्, स श्रीमान् भुवनावतंसकमणिः पायादपायात् प्रभुः ॥ ३ ॥ प्रादुर्भूता यदंगात् प्रसरति भुवने भारती भव्यरूपा, वक्तं यत् सृष्टिजाता नहि विभुरविभुः सिद्देशेषानशेषान् । यदूवक्तं स्फीतिभावं दथद्हिमह्वां न्यत्कृतिं निर्मिमीते, ज्ञानाद्वैतप्रकाशः स भवतु भवतां भूतये नाभिजातः॥॥

नमः सुरुतसंदोहरालिने परमात्मने । शंभवे सर्ववेदार्थवेदिने भवभेदिने ॥ ५ ॥ जाग्रज्ञयोतिरकव्वरिक्षितिपतेरभ्यर्णमातिस्थिवान्, सिद्धाद्वेः करमोचनादिसुरुतं योऽकारयत् शाहिना । जीवानामभयप्रदानमधिकं सर्वत्र देशे रफुटम्, श्रीमद्वाचकपुंगवः स जयताच्छ्री भानुचन्द्वाभिधः ॥ ६ ॥ * एक्मीळीळाकटाक्षित्रभुवनजनता कल्पनाकल्पशाखी, श्रीमद्धमंप्ररोहाभिवनघनघटामङ्गळाद्यानविद्या । व्यक्तं मुक्त्यङ्गनाया वशकरणकळा काम्मणं सर्वसम्पद्, सम्प्राप्ता वादिवीजं भज्ञ परमहंसो नाममाहात्म्यधाम ॥ ७ अस्ति श्रीमदुद्वारवाचकसमाळङ्कारहारोपमः, प्रख्यातो भुवि हेमस्रिसदशः श्री भानुचन्द्रो गुरुः । श्रीशात्रुअयतीर्थशुल्कनिवहप्रत्याजनोद्यद्यशाः, शाहिः श्रीमद्वव्यरार्पितमहोपाध्यायद्यत्यदः ॥ ८ ॥ विच्छप्यः सुरुतैकभूमितिमतामग्रेसरः केसरी, शाहिस्यानतिनोदनैकरिसकः श्रीसिद्धिचन्द्राभिधः । पूर्वे श्री विमळाद्विचैत्यरचनां दूरीकृतां शाहिना, विज्ञण्येय मुदुर्मुहस्तमिधपं योऽकारयत्तां पुनः ॥ ९ ॥ यावन्या किळ भाषया प्रगुणितान् ग्रन्थानशेपांश्च तान्, विज्ञण्येव प्रतिभागुणेस्तमिधकं योऽध्यापयत् शाहिराद् । विश्वविद्यानवेभवकळां चेतश्चमत्कारिणीम्, चके खुष्कहमेति सर्वविदितं गोत्रं यदीयं हि सः ॥ १० ॥

^{*} The verses 7 and 20 to 24 are not found in the printed editions of this work.

¹ तथा। 2 चिन्तारत्नमुखांश्च यं गुरुधियं ध्यात्वा नृगोऽध्यापयत्। 3 दृष्ट्वा चाप्यवधानसाधनकला ।

'तद्बुद्धिवैभवकृतेऽत्र वसन्तराजसञ्जकुनस्य विवृतिं प्रणयत्यभिक्षः ।
श्रीं सुरचन्द्रचरणाम्बुजचञ्चरीकः श्री शाहिराजकृतसत्कृतिभानुचन्द्रः ॥ ११ ॥
जंबृद्धीपाभिषे द्वीपे क्षेत्रे भरतनामनि । राजते रजतस्वर्णचतुर्वर्णविभूषितम् ॥ १२ ॥
अर्बुदादिसमीपश्यं सारणेश्वरशोभितम् । सीरोही नगरं तत्र तिलकं नगरीषु यत् ॥ १३ ॥ युग्मम् ।
नीलरत्नमहासौधरिइमविद्धिवितानके । यत्र रात्रिषु कुर्वन्ति तारकाः सुमविभ्रमम् ॥ १४ ॥
मुखेश्वन्द्रमसं नेत्रैः कमलं कोकिलं खरैः । गमनैर्राजहंसं च जिग्युर्यत्राबला अपि ॥ १५ ॥
प्रतापात्रान्तदिक्चत्रः साक्षाच्छक इवापरः । श्रीमानखयराजाख्यस्तत्रास्ते भूमिजम्भजित् ॥ १६ ॥
यस्य सद्विप्तां चैव कीर्व्यकीर्त्यां सित्तासिते । मिलन्त्यो दिश्च चकान्ते गङ्गायमुनयोर्भ्रमम् ॥ १८ ॥
रिपुर्दुर्यशसा स्पृष्टं यद्यशो विश्वपावनम् । जलाशयेषु स्नातीव द्युद्धे हंसावलिच्छलात् ॥ १९ ॥
कन्दमूलफलाहारा वसानास्तारवीं त्वचम् । भूयूल्युद्धृतिता रेजुर्यद्विषस्तापसा इव ॥ २० ॥
स्पर्धिण्युर्यत्यतापाप्तिर्वांडवाग्निजिगीषया । विद्वमद्वमदम्भेन विश्वतीव पयोनिधौ ॥ २१ ॥
विरञ्ची रचयन् भ्रान्तिमभ्रान्तं सोमसूर्ययोः । व्यधान्नीराजनां नित्यं यस्य कीर्तिप्रतापयोः ॥ २२ ॥
बद्मुष्टिरपि खर्गं सङ्ख्यातीतेषु शत्रुषु । रणे यच्छन् कृपाणोऽस्य यात्राहीनो वभूव न ॥ २३ ॥
तस्यादेशं समासाद्य सौमनस्य पयोनिधः । वृत्तिर्वसन्तराजस्य सिद्धिचन्द्रेण शोध्यते ॥ २४ ॥

्र इह्युहि ग्रंथकृत् निर्विष्ठसमाप्तिकामो मंगलमाचरेदित्यालौकिकावगीतिशिष्टाचारानुमितश्रुतिबोधितकर्त्तव्यताकत्वेन प्रथमत एव मंगलमाविःकुर्वज्ञाह विरंचीति अस्यार्थः।

अन्ते — वसन्तराजशाकुने समस्तसत्यकौतुके । सदागमार्थशोभनैः कृतं प्रभावकीर्त्तनम् ॥ १ ॥
पूर्वज्याल्यातविशेषणविशिष्टे वसन्तराजशाकुने प्रन्थस्य प्रभावकीर्त्तनं कृतमिति विशतितमो वर्गः ॥ २० ॥

इति श्रीपातशाहश्रीअकब्बरजङ्खालदीनसूर्यसहस्रनामाध्यापकश्रीशत्रञ्जयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृतविधापकमहोपा-ध्यायश्रीभानुचन्द्रगणिविरिचतायां तिष्क्रिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुदितपातशाहश्रीअकब्बर जङ्खालदीन प्रदत्त 'षु(खु)-इफहमापराभिधानमहोपाध्यायश्रीसिद्धिचन्द्रगणिना विचार्य संशोधितायां वसन्तराजटीकायां विंशतितमो वर्गः ॥ समासोऽयं प्रस्थः । श्रीजयतु ॥

[(१) The text of 18 folios no. 1623 प्र॰ कान्तिविजयपुस्तकभण्डारे, वडोदरा। The following is added by the writer in the end:—

द्वितीयपुस्तकाभावादर्थानाकलनादिप । यद्यशुद्धं भवेत् किञ्चित्तच्छोध्यं करुणापरैः ॥ १ ॥ वर्णगणने सञ्जातानुष्ठप्सार्द्धसप्तसदस्तकम् । वाच्यमानश्चिरं नंद्याद् ग्रन्थोऽयं धिषणाधनैः ॥ २ ॥

इति श्री वसन्तराजराकुनप्रन्थटीका संपूर्ण । संवत् १७६३ वर्षे भाद्रपदासित नवम्या९मिह चन्द्रसुतवारे श्री अञ्चलगच्छे वाचक श्री ५ श्री धनराजजीशिष्य वाचकश्री हीराणंदजीशिष्य वाचक जिनराजेन पत्ति (प्रतिः) लिखिता॥ श्रीरस्तु ॥ पत्राणि ११७ पंक्तयः १६ नं० ११९९ हंसविजयपुस्तकभण्डारे वडोदरा ।

(२) ग्रन्थात्र ३७५० in Jesalmer Bhandār. ग्रं. २२२६ पत्र १०१ जिनभद्गीय भंडार-जेसलमेर.]

४ कादम्बरी-पूर्वार्ध-टीका।

भादौ — श्रेयःश्रीललनाविलासकुरालः पायादपायात्स वः, श्रीमन्नाभिनरेन्द्रस् नुरमरेः संसेव्यमानान्तिकः। रेजे यस्य कचावली भुजिशारो देशे लुठन्ती प्रभो-र्लशा शैवलमञ्जरी भवसरित्यारं प्रयातुः किम् ॥ १ ॥ सर्वेऽन्ये जनतानिषेविततया मानाभिभूता भृशं, मन्यन्ते तृणवत् त्रिलोकमिललं दुर्वुद्धिबद्धाशयाः। कृत्स्त्रैश्वर्यजुपापि येन सुधिया देवेन्द्रसेव्याङ्गिणा, नैवाकारि कदापि गर्वमलिनं चेतः स शान्तिः श्रिये ॥ २ ॥ यत्कीर्त्तिर्धवलीचकार सहसा ब्रह्माण्डभाण्डोद्रां, दाशाहींऽपि तदन्तरा निपतितः सद्यो न संलक्षितः। तेनाद्यापि निरीश्वरं जगदिदं जल्पन्ति सांख्यादयः, स श्रीनेमिलनेश्वरो भवभृतां देयादमन्दां मुदम्॥ ३॥

¹ तश्चित्तकौतुककृते हि।

मूर्भि न्यस्तद्विजिह्वाधिपतिफणगणस्पष्टसंरम्भदम्भाद्, धत्ते यः सप्तविश्वाद्भुतपरममनोहारि साम्राज्यलक्ष्मीम् । नम्रालुस्वर्गिमौलिप्रकरमणिलसत्कान्तिभिश्चित्रिताङ्किः, स श्रीपार्श्वाधिराजो भवतु भविभेदे पार्श्वसंसेव्यमानः ॥ ४ ॥ यद्वाचामधिकां विलासपदवीमीहेद् भृशं भारती, यत्सत्त्वैकपरम्परां कलियतुं सिंहोऽङ्कदम्भादियात् । यत्सौन्दर्यदिदृश्चयेव समभूदृक्षणां सहस्रं हरेः, स श्री वीरविभुर्दरातु भविनां शश्चन्मनोवाञ्चितम् ॥ ५ ॥

श्रीमत्तपःपक्षसहस्रदीधितिः श्रीहीरस्ररिः समभन महोदयः। यद्वक्रसौन्दर्यगुणं विलोकयन् ययौ सुरौधः किम निर्निमेषताम् ॥ ६॥ अनन्यसौजन्यगुणेर्गरीयान् विशिष्टशिष्टाचरणेर्वरीयान्। तत्पट्टपाथोनिधिपूर्णचन्द्रो विराजते श्री विजयादिसेनः॥ ७॥ तत्पट्टोदयच्ळालम्बपूर्णेन्द्संनिभः श्रीमान्। श्री विजयतिलकसूरिर्भूरिगुणैर्भूषितो जयति ॥ ८॥ तत्संप्रदाये प्रथितप्रभावो बभव हानर्षिरतिप्रसिद्धः। यदीयवैराग्यकथां प्रवक्तं प्राप्तो गुरुः किं हरिसंनिधानम् ॥ ९ ॥ तदीक्षितानेकविनेयवर्गमुक्तालतामध्यमणिप्रकारः। श्रीवाचकेन्द्रः सकलादिचन्द्रो वभूव विश्वाद्भृतवाग्विलासः ॥ १० ॥ श्रीसूरचन्द्रः समभूत्तदीयशिष्यात्रणीर्न्यायविदां वरेण्यः। यत्तर्कयुक्तया त्रिदिवं निषेवे तिरस्कृतश्चित्रशिखण्डिजोऽपि ॥ ११ ॥ तदीयपादाम्बुजचञ्चरीको विराजतेऽध्धा हरिधीसखाभः। श्रीवाचकः संप्रति भानुचन्द्रो ह्यकव्वरक्ष्मापतिदत्तमानः ॥ १२ ॥ श्रीशाहिचेतोऽब्जषडङ्कित्लयः श्रीसिद्धिचन्द्रोऽस्ति मदीयशिष्यः। कादम्बरीवृत्तिरियं तदीयमनोमुदे तेन मया प्रतन्यते ॥ १३ ॥

अन्ते — इति श्रीमत्तपोगणगगनाङ्गणगगनमणिभद्दारकसार्वभौमभद्दारकविजयसेनस्रीश्वराणां विजयराज्ये पातशाह श्री अक्तव्यरप्रदापितोपाध्यायपद्धारक श्रीदात्रुंजयकरमोचनाद्यनेकसुकृतकारक महोपाध्याय श्रीभानुचन्द्रगणिविरचितायां काद्मवरी निरन्तरन्याख्यायां प्रथम परिच्छेदः ।

५ सारस्वतव्याकरणवृत्तिः (भाष्यं, टिप्पणं, विवरणं वा)

श्रादौ - वाग्देवीमभिवन्द्य वन्द्यचरणां वृन्दारकाणां गणैः, सर्वेषां सुधियामनुत्रहिष्या गम्भीरभावाद्भुताम् । क्षेमेन्द्रीं विवृणोति वाचकपतिः श्रीभानुचन्द्राभिधः, शाहि श्रीमदकव्यरिक्षतिपतेः प्राप्तप्रितेष्ठोदयः ॥ १ ॥ अन्ते -श्री हानर्षिकुले नवीनकविताकान्ताभिधानवती, भूजानेरिष संमतः समभवत् श्री सूरचन्द्राह्वयः । तिच्छिष्यः करमोचनादिसुकृतैः सम्प्रीणयत् सज्जनान् , क्षेमेन्द्रस्य कृतेश्चकार विवृतिं श्री भानुचन्द्राभिधः ॥ २ ॥

इति श्री पातसाह अकव्यर सूर्यसहस्रनामाध्यापक श्री शात्रुञ्जयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृतविधापक महो० श्री भातु-चन्द्र गणि विरचितायां तिब्छिप्याष्टीत्तरशतावधानसाधनप्रमुदितपातसाहि श्री अकब्यर प्रदत्त 'षु(खु)रूफहमा'पराभिधान महो० श्री सिद्धिचन्द्र गणि शोधितायां क्षेमेन्द्रटीकायां कृदन्तप्रक्रिया समासिमगमत्।

[(१) 40 folios No. 40 Pra. Kāntivijaya's Bhandār at Chāṇi. (२) प्रन्थाप्र २१५० folios 40, MS. no. 2 in the dābdā no. 21 in Sangha's Bhandār at Pātaṇ.]

६ काव्यप्रकाशवृत्तिः।

As the work was not available, I could not cite the initial & final portions thereof.

७ नामश्रेणिवृत्तिः (नामसङ्गहः, नाममाला, विविक्तनामसङ्गहो वा)

आदौ—॥ ९० ॥ श्री शात्रुंजयकरमोचनाधनेकसुकृतकारक सकलवाचकचक्रचूढामणिमहोवाध्याय श्री ५ श्रीभानुचन्द्रगणिगुरुभ्यो नमः॥

स्वस्ति श्रीत्रिजगज्जन्तु-जातुजीवातुसन्निभः । शिवतातिः सतां भूयाञ्छान्तिनाथो जिनेश्वरः ॥ १ ॥

नवीनकविताकान्ताभिमानवतशालिनः । खगुरोः स्रचन्द्रस्य प्रणम्य चरणाम्बुजम् ॥ २ ॥ भावचन्द्रादिशिष्याणां सम्यग्व्युत्पत्तिहेतवे । नामसङ्ग्रह-नामानि विलिख्यन्ते पृथक् पृथक् ॥ ३ ॥ कढयौगिकमिश्राख्याः त्रिधा शब्दाः प्रकीर्त्तिताः । व्युत्पत्तिवर्जितास्तत्र रूढा आखंडलादयः ॥ ४ ॥ व्युत्पत्तिभाजः सर्वेऽपि मन्यते शाकटायनः । तन्मतेऽपि तद्नवर्थवर्जितः प्रथमो मतः ॥ ५ ॥ यौगिका योगजनिता योगस्तत्रान्वयो मतः । गुणिकयाभ्यां संभूतः संवंधप्रभवश्च सः ॥ ६ ॥ गुणतो नीलकंठाद्याः क्रियातः स्रप्टसंनिभाः । खसामित्वादि संवंधस्तत्राहुनीम तद्वताम् ॥ ७ ॥

अनयोरथः । शब्दानां परमार्थानुगमनमन्वयः स योगो गुणिक्रियासम्बधाच भवति मंगलं भद्गं मद्गं शस्त ।...इति शत्रुंजयकरमोचनादिसुकृतकारि महोपाध्याय श्री ५ भानुचंद्रगणि विरचिते विविक्तनामसंश्रहे देवाधिदेवकांडः प्रथमः॥

स्वर्ग इति स्वर्गः.....आदित्येत्यादि सूर्य नामानि । आदित्यः सविता ।पूज्यनामतः प्रयोज्याः । यथा गुरुपादाः । अर्हत्भद्वारकः । कुमारपालदेवः । रोपश्चात्रः । भट्टारकः भट्टः । आवुकादयो नांद्यप्रस्ताव(व)त् नांद्योक्तौ दृष्टब्याः ॥ इति श्री... भानुचन्द्रविरचिते विविक्तनामसंग्रहे द्वितीयः कांडः ॥ छः ॥

अथ तृतीय मर्ल्यकांडमारभ्यते ॥ मनुष्यनाम मर्ल्यः एते सर्वेषि म्लेच्छजातयः स्युः ॥ इति श्री...तृतीयकाण्डः ॥ अथ तिर्यक्कांडचतुर्थमारूयायते तत्र पृथिब्यप्तेजोवायुवनस्पतिभेदेनेकेंद्रियाः ॥ दात्रुंजयकरमोचनादि सुकृतकारि महोपाध्याय श्री भानुचन्द्र गणि विरचिते विविक्तनामसंग्रहे चतुर्थः कांडः ॥

पंचमं नारकं कांडमारभ्यते, नारकं नाम नरके भवा नारकाः.....भूमिविवरनाम ॥ गर्तः पुंस्नीिलंगः । श्वन्नः अवट अगाधः दरः त्रिलिंगभूमिविवरमिति श्री नामसंग्रहे पंचमः कांडः ॥

षष्ठं सामान्यकांडमार(भ्य)ते ॥ लोक नाम.....यदाहुः—इयंत इति संख्यानं निपातानां न विद्यते । प्रयोजनवशादेते निपात्यंते पदेपदे ॥

अन्ते-इति श्री रात्रुंजयकरमोचनादि सुकृतकारक महोपाध्याय श्री ५ भानुचन्द्र गणि विरचित नाममालायां षष्ठः कांडः संपूर्णः ॥ ६ ॥ छः ॥

[(१) संवत १६९८ वर्षे मार्गिशिर मासे ग्रुक्त एक्षे पंचम्यां तिथौ गुरुवासरे लिषता द्यामपुरी मध्ये। यादशं पुस्तके द्या तादशं लिखतं मया। यदि ग्रुद्धमग्रुद्धं वा मम दोषो न दीयतां॥ १॥ श्री(ग्रु)मं भवतु ॥ कल्याणमस्तु ॥ श्री ॥ This is an incorrect copy of 113 folios Dehla's Upāśraya's Bhandār at Ahmedābād. (२) इति श्रीमत्त-पोगणगणनाङ्गनगगनमणिभद्दारकसार्व्यमोमभद्दारकश्री ५ श्रीविजयसेनस्रीश्वराणां विजयराज्ये पतिसादश्री ५ श्रीविजयसेनस्रिकेस्याचेस्रिकेस्रिकेस्रिकेस्रिकेस्रिकेस्याचेस्रिकेस्रिकेस्रिकेस्रिकेस्याचेस्रिके

८ विवेकविलासटीका ।

आदौ-आनम्रकम्रामरपूर्वदेवं श्री मारुदेवं प्रणमामि देवम् ।

त्यनिक निःशेषपदार्थसार्थान् यदीयगीरद्भुतदीपिकेव ॥ १ ॥

शान्तेर्निशान्तं शिवतातिरस्तु श्री शान्तिनाथो जगदेकनाथः ।

कुरङ्गलक्ष्मापि जिनाधिराजो जन्ने कदाचित्र कुरङ्गभृद् यः ॥ २ ॥

अरिष्टनेमिभेगवानरिष्टसंघातनिर्धातकृदस्तु वः सः ।

सुपर्वशाखीव समीहितार्थं करोति यत्पादयुगप्रणामः ॥ ३ ॥

विद्मौष्ठविष्वंसनसावधानं तं पार्श्वनामानमधीशमीडे ।

पद्माकरोल्लासकरो नराणां यन्नाममन्त्रोऽजनि मित्रतुल्यः ॥ ४ ॥

वीरं जिनं चेतसि दध्महे तं सुपर्व्वपृथ्वीधरश्रङ्गधीरम् ।

गवां विलासभुवनप्रवोधं चकार यो भानुरिवोष्तेजाः ॥ ५ ॥

श्रीमत्तपागणगणाधिपलन्धवोधिर् हानिर्धित्यजनि पण्डितवृन्दवर्यः ।

तस्यान्तिषत्सकलवाचकमौलिमौलिः श्रीचाचकः सकलचन्द्र इति प्रसिद्धः ॥ ६ ॥

शिष्यस्तदीयोऽजनि सुरचन्द्राभिधः स्रुधिः कोविदवृन्दचन्दः ।

नवीनभास्तत्कवितेककान्ता-मानवतीत्यद्भुतकीर्तिकान्तः ॥ ७ ॥ सिद्धाद्रेः करमोचनादिसुकृतश्रेणिपवीत्रीकृत-स्वान्तः शाहिसुदत्त 'वाचक' पदः श्री भानुचन्द्राभिधः । तिञ्छिष्यः कुरुते विवेककछितो त्रन्थो विलासाभिधो यस्तस्याभिमतार्थसार्थरुचिरां वृत्तिं सतां संमताम् ॥ ८ ॥

इह शिष्टाः शास्त्रादौ क्रचिदिष्टे वस्तुनि प्रवर्त्तमाना अभिमतदेवतानमस्कारपूर्वकमेवोपक्रमन्ते इति शिष्टाचारपरिपालनाय प्रारिप्सितपरिसमासिप्रतिवन्धकदुरितनिवर्त्तनाय च प्रस्तुतप्रन्थसूत्रकारो वायटगच्छीयजिनदत्तसूरिरादौ तमाह 'शास्रतानन्द' इति ।

अन्ते-इति श्री शत्रुंजयकरमोचनादिसुकृतकारिमहोपाध्यायश्रीभानुचन्द्रगणिविरिचतायां विवेकविलासटीकायां द्वादश उहासः । समाप्तोऽयं विवेकविलासाख्यो प्रन्थः ॥ विवेकविलासटीकायां प्रन्थकारकृतस्वगच्छादिप्रकटनरूपप्रशस्तेक्यांक्या संपूर्णा ॥

हमापालमौलिमिषिद्राहि अकब्बराख्यसम्प्राप्तसर्वजनताविदितप्रतिष्ठः ।
श्रीजैनशासनसमुन्नतिल्ण्धविश्वविश्वम्भरावलयविश्वतकीर्त्तिपूरः ॥ १ ॥
श्रीभानुचन्द्रवरवाचकचकवर्ता स्पष्टार्थदामितिविवेकविलासवित्तम् ।
पतामविश्वततरामुपकर्त्तुमन्यान् निःशेषपर्षदुचितां रच्यांचकार ॥ २ ॥ युग्मम् ॥
श्रीमत्सुधर्ममुखस्रिपरम्परायां श्रीस्रिहीरविजयस्तपगच्छनेता ।
आसीदकव्वरधराधिपतिप्रदत्तां ख्यातिं जगद्रगुरुरिति प्रथितां द्धानः ॥ ३ ॥
तत्पट्टपूर्वगिरिशृह्नसहस्रभानुः स्रीश्वरो विजयसेनमुनीन्द्रचन्द्रः ।
श्रीपातसाहिपरिषज्जयवादल्ब्धः ख्यानोऽभवत् कुमतमत्तमत्तर्ह्रसिहः ॥ ४ ॥
तत्पट्टेऽभूत् सततिनरितचारचारित्रचारुश्चातुर्विद्योद्धि.....कधी भाग्यसौभाग्यभूमिः ।
पारंपर्यागतवचनसंवादिधर्मोपदेशः स्रीः श्रीमद् विजयतिलकः शुद्धवैराग्यरंगः ॥ ५ ॥
तत्पट्टे प्रकटोद्ये पटुतरप्राप्तप्रतिष्टान्वये सद्वाचंयमराजिराजि विजयानन्दाभिधाने प्रभौ ।
श्रीमत्स्रिरिरोमणौ विजयिनि श्री सिद्धिचन्द्राभिधान् निर्देशं समवाप्य वाचकसभाग्नृगारहारोपमात् ॥ ६ ॥
वाचकशिरोवतंसश्रीमत् कल्याणविजयगुरुशिष्यः । स्वपरागमार्थतत्त्वोद्धिभः श्री लाभविजयबुधैः ॥ ७ ॥
श्रीदेवविजय-विद्वद्विनेय-जयविजयबुध्यतैश्चैषा । समशोधि सिद्धि-मुनि-रस-शिमितवर्षे चिरंजीयात् ॥ ८ ॥

इति प्रशक्तिः ॥ ग्रुमं भवतु ॥ प्रंथाप्रसंख्या ६६२१ अक्षर १२ ॥ कल्याणमस्तु ॥ भद्रमस्तु ॥ [Folios 201 lines 14 each—Good correct and old MS. no. 304 Śri Bhaktivijaya's collection with Śri Jaina Ātmānanda Sabhā, Bhāvanagar. (2) The final 5th verse referring to विजयतिलकस्रि in the ending portion is omitted and in the next verse in the place of विजया-नंदाभिधाने, words विजयदिवोभिधाने are wrongly substituted—इति प्रशस्तिः समाप्ता ॥ folios 145 no. 55 Pra. Kantivijaya's Bhandār at Baroda. (3) The last 4 verses in the ending portion are omitted—इति विवेकविलासप्रशस्तिः संपूर्णा । प्रं ७७५०. A fresh copy of 300 folios of 10 lines each, written in S. Y. 1967 no. 1465. Hansavijaya's Bhandār at Baroda. (4) With the omission of the last four verses इति श्रीविवेकविलास समाप्तम् ॥—New incorrect ms. no. 304 Śri Bhaktivijaya's collection with Śri Jaina Ātmānada Sabhā, Bhāvanagar.]

९ पद्त्रिंशिकावृत्ति (ईर्यापथिकी)-

[No copy was accessible to me hence its beginning and ending portions could not be cited.]

सिद्धिचन्द्रकृत-यनथ-प्रशस्तादि।

१ काद्म्वरी-उत्तरार्ध-टीका।

आदौ — मेरः स्नात्रभवैः सकुङ्कमपयःपूरैः परीतोऽभवत् , पीतस्तेन सुवर्णपर्वत इति ख्यातिं जगाम क्षितौ । देवीनृत्यविशीर्णहारमणिभिस्तारो गतस्तारका-धारोऽसाविति यज्जनिव्यतिकरः सोऽव्याद् वृपाङ्कः प्रभुः ॥ १ ॥

श्रीमाञ्ज्ञान्तिः प्रभुरवतु वो गाढसर्वाङ्गवाधा, यं राजश्रीः कुभगमभजत् किं तु यस्य प्रभोनं । तद्वागेऽन्तःकरणमविश्च प्रस्वेष्ठाविशिष्टं, वार्धिस्यन्दस्तटमिव विपं भोगिचू डामणीवत् ॥ २ ॥ जाम्रज्योतिरकव्वरक्षितिपतेरभ्यणमातिस्थवान्, सिद्धाद्वेः करमोचनादिसुरुतं योऽकारयव्छाहिना । जीवानामभयप्रदानमपि यः सर्वत्र देशे स्पुटं, श्रीमत्पाठकपुङ्गवः स जयताच्छ्री भानुचन्द्राभिधः ॥ ३ ॥ तच्छिष्यः सुरुतेकभूमेतिमतामन्नेसरः केसरी, शाहिस्यान्तविनोद्देनैकरिकः श्रीसिद्धिचन्द्राभिधः । पूर्वं श्रीविमलाद्विचैत्यरचनां दूरीकृतां शाहिना, विज्ञाप्येव मुद्धमुंहुस्तमिथपं योऽकारयत् तां पुनः ॥ ४ ॥ यावन्या किल भाषया प्रगुणितान् मन्धानशेषांश्च तान्, विज्ञाप प्रतिभागुणैस्तमिवकं योऽध्यापयच्छाहिराद् । दृष्ट्वाऽनेकविधानवैभवकलां चेतश्चमत्कारिणीं, चके खुस्फहमेति सर्वविदितं गोत्रं यदीयं पुनः ॥ ५ ॥ प्रोचैः पश्चसहस्रतुङ्गतुरगाञ्छ्रीसिन्धुरान् दुर्धरान्, दस्वा प्राग्भवसम्भवप्रणयतो धृत्वा करे यं जगौ । शाहिश्रीमद्कव्वरिक्षितिपतिस्त्यक्त्वा वतं दुष्करं, श्रीमत्संयमयामिनीश वसुधाधीशोऽधुना त्वं भव ॥ ६ ॥

साक्षात्कन्दर्परूपः क्षितितलविदितो वाचकवातराकः, स्मृत्वा वाक्यं गुरूणां गुरुवचनरतो भक्तिपर्यानगर्वात् । धीमान् षद्शास्त्रावेत्ता रचयति रुचिरां सज्जनैः श्राधनीयां, टीकां काद्म्वरीयां निजगुरुघटितां किंचिद्नस्थितां सः ॥ ७ ॥

अन्ते — इति श्री पादशाह श्री अकब्बर जलालदीन सूर्यसहस्रनामाध्यापक श्री शातुंजयतीर्थकरमोचनावनेक सुकृतविधापक महोपाध्याय श्री भानुचन्द्रगणिस्विष्ण्याष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुदितपादशाह श्री अकब्बर पदत्त खुष्फहमा-पराभिधान महोपाध्याय श्री सिद्धिचन्द्रगणि विरचितायां काद्रस्वरीटीकायामुत्तरखण्डटीका समाप्ता॥

२ शोभनस्त्रतिटीका।

आदौ — राश्वत्क्षीरपयोधिजा मधुकरीसंसेव्यमानकमाम्भोजन्मद्वितयः शिवं स दिशतु श्रीपार्श्वचिन्तामणिः।
कस्तूरिकृतपत्रविद्विद्दया यत्कीर्त्तिकान्ता किमु
द्रष्टुं विश्वमितस्ततः शशितनुः कौतृहलाद् भ्राम्यति॥१॥

अस्ति श्रीमद्खण्डपाठकगणप्राप्तप्रतिष्ठोन्नतिर्भूपालावलिवन्द्यमानचरणः श्रीभानुचन्द्रो गुरुः । यत्कीर्त्तिर्भुवनाङ्गणे गुणगणच्छन्ने न मान्ती पुनर्द्धातुः कर्णगतौऽकरोदभिनवब्रह्माण्डयाच्यामिव ॥ २ ॥

यदुपदेशवशेन मुदं दथ(वह)न् , निखिलमण्डलवासिजने निजे । मृतधनं च करं च स जीजिआऽभिधमकब्दरभूपतिरत्यजत् ॥ ३ ॥ तस्यान्तेनिलयी विधेयजगतीलोकसरो मूर्तिमान्, विद्वद्वन्दगजेन्द्रतर्जनहरिः श्री सिद्धिचन्द्रोऽस्ति सः। यत्कीर्त्तिभुजगाङ्गनावलिभिरुद्रीतां समाकर्णयन्, आनन्दामृतपूर्णकर्णकुहरः शेषः सुखं खेलति ॥ ४ ॥

१ पाठान्तरेण-जीयात् श्रीमदखंडवाचकगणप्राप्तप्रतिष्ठोन्नति. २ स्थूलगता as quoted in the author's gloss on Bhaktāmara-stotra.

परेपां यदूरे हृदयसरणेरस्ति तदिदं, विधानानामष्टोत्तरशतकमालोक्य मुदितः । महाराजः श्रीमानकवरनृपो यस्य सहसा, भुवि ख्यातामाख्यां सपदि विदधे खुष्फद्दमिति ॥ ५ ॥ बालबोधकृते तेन परोपकारशालिना । संक्षिप्ता क्रियते वृत्तिः शोभना शोभनस्तुतेः ॥ ६ ॥

अन्ते — इति श्री महाराजाधिराज पादशाह श्री अकव्यर सूर्यसहस्रनामाध्यापक श्री दात्रुंजयतीर्थंकरमोचनाद्यनेक-सुकृतविधापक महोपाध्याय श्री भानुचन्द्रगणिशिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुदित पातिसाह श्री अकव्यर जल्लालदीन प्रदच 'सुरफहमा'पराभिधान महोपाध्याय श्री सिद्धिचन्द्रगणिविरचितायां द्योभनाचार्यनाम्ना विहितायाः द्योभनस्तुतेः टीकायाः श्री महावीरतीर्थंकरस्ययं स्तुतिवृत्तिः । तत्समाप्तौ च समाप्ता श्री द्योभनस्तुतिवृत्तिः ॥

३ वृद्धप्रस्तावोक्तिरत्नाकर ।

[No MS. of this work has been available to me. Its 29 verses are quoted by the author in its Bhaktāmara-stotra-Vṛṭṭti in the words 'अस्मकृत — असिक्रिंग — वृद्यस्तावोक्ति-रसाकराज्, some of them for instance are extracted here:—]

उत्कूजन्तु वटे वटे वत बकाः काका वराका अपि, क्रां कुर्वन्तु सदा निनादपटवस्ते पिष्पले पिष्पले । सोऽन्यः कोऽपि रसालपल्लवलवयासोल्लसत्पाटवः, क्रीडत्कोकिलकण्ठकूजनकलालीलाविलासक्रमः ॥ भक्तामरस्तोत्रस्य ६ श्लोकवृत्तौ (सुभाषितरत्नभाण्डागारेऽपि, पृ. २३६)

मत्तेभकुम्भद्रलने भुवि सन्ति शूराः केचित् प्रचण्डमृगराजवधेऽपि शक्ताः। किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसद्य, कन्दर्पद्र्पद्रलने विरला मनुष्याः॥ तत्रैव, १७ श्लोककृतौ।

कोशान् गेहेष्वमुञ्चन् पथि करितुरगान् बान्धवानर्द्धमार्गे-दुर्गेष्वन्तःपुराणि प्रतिरवचिकताः पर्वतेभ्यो निवृत्ताः । यस्योद्योगे भ्रमन्तः समसमयसमारम्भगम्भीरमेरी-भाङ्गाराकीर्णकर्णज्वरभरतरलप्रेक्षिताशाः क्षितीशाः ॥

तत्रैव, ३८ श्लोकवृत्ती।

दधन्मुक्तापंक्ति हृदि रुचिरकर्पूरविशदां, मुखेन्दुप्रोत्फुल्लामिव कुमुदराजीं किमथवा। सुधाधारामन्तःप्रणयजलधेरुद्गतवती, युवा वृन्दारण्ये शिथिलयति धैर्यं मृगदशाम्॥ तत्रैव, ४१ श्लोकवृत्तौ।

> वारां राशिरसा प्रभूय भवतीं रत्नाकरत्वं गतो लक्ष्मी ! त्वत्पतिभावमेत्य मुरजिज्ञातस्त्रिलोकीपतिः । कन्दर्पो जनचित्तरञ्जन इति त्वन्नन्दनत्वादभूत् सर्वत्र त्वदनुग्रहप्रणयिनी मन्ये महत्त्वस्थितिः॥

> > तत्रैव, अन्तिम ४४ श्लोकवृत्तौ ।

४ भानुचन्द्रचरित । [The present work.]

५ भक्तामरस्तोत्रवृत्ति ।

आदौ — श्रेयःश्रिये प्रभुभूयात् स वो नाभिनन्दनः । खर्गवी च मदीया गौः सुरसार्थमपृषयत् ॥ १ ॥ कत्तां शतावधानानां विजेतोन्मत्तवादिनाम् । वेत्ता षडिप शास्त्राणामध्येता फारसीमिप ॥ २ ॥ अकन्यर सुरत्राणहृदयाम्बुजयद्पदः । दधानः 'खुश्फह'मिति बिरुदं शाहिनार्पितम् ॥ ३ ॥ तेन वाचकचन्द्रेण सिद्धिचन्द्रेण तन्यते । भक्तामरस्य वाळानां वृत्तिर्व्युत्पत्तिहेतवे ॥ ४ ॥

अन्ते — इति पादशाह श्री अकःवर जल्लालुदीन सूर्यसहस्रनामाध्यापक श्री शत्रुंजयतीर्थकरमोचन-गोवधनिवर्त्तना-धनेकसुकृतविनिर्मापक महोपाध्याय श्री भानुचन्द्रगणिशिष्य युगपदष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुदितपातशाह श्री अकन्वर ब्रह्मालुदीन पावशाह श्री नूरदीन जिद्वांगीर पदत्त 'खुष्फहम' 'नादिरजमां' द्वितीयाभिधान महोपाध्याय श्री सिद्धिचन्द्रगणि विरिचिता भक्तामरस्तोत्रवृक्तिः समाप्ता ।

[Published by Shā Bhimśi Mānek, Bombay.]

६ तर्कभाषाटीका।

[The work was not available. Hence its first and last portions could not be cited. Its copy is in the Vimala Gaccha's Bhandār at Ahmedābād.]

७ सप्तपदार्थीटीका । [as stated above in no. 6]

८ जिनशतकटीका ।

भादौ — प्रणम्य नम्रामरपूर्वदेवं श्रीनाभिराजाङ्गजमादिदेवम् । श्री सिद्धिचन्द्राभिधवाचकेन्द्रः सुखावबोधां विद्धाति वृत्तिम् ॥ १ ॥

दुर्बोधं जिनशतर्कं व्याख्यातुं केन शक्यते । मुद्यतीय मितर्यत्र विशदाऽपि विपश्चिताम् ॥ २ ॥ अभ्युद्यतोऽस्मि तस्यापि वृत्तिं कर्त्तुं गतत्रपः । तद् बालचापलं मत्वा क्षन्तव्यं धिषणाधनैः ॥ ३ ॥ क वृत्तिः जिनशतिका क मेऽल्पविषया च धीः । दुस्तरं स्वभुजाभ्यां तत् तितीर्धुरस्मि सागरम् ॥ ४ ॥ विशेषार्थो विशेषार्थैर्कातव्यः पश्चिकादितः । मया योजनिका मात्रं बालानामिद्द दुर्शते ॥ ५ ॥

अन्ते — इति पातशाह श्री अकब्बर जल्लालुदीन श्री सूर्यसहस्रनामाध्यापक श्री शात्रुंजयतीर्थकरमोचनिवशेषदेश-गोवधिनवर्चनाचनेकसुकृतविनिर्मापक महोपाध्याय श्री भानुचन्द्रगणिशिष्य युगपदद्योत्तरशतावधानसाधनप्रमुदितपातशाह श्री अकब्बर जल्लालदीन पातशाह श्री जिहांगीर नूरदीनाभ्यां प्रदत्त 'षु(खु)स्फद्दम' 'जिहांगीर पसंद' अभिधान महोपाध्याय श्री सिद्धिचन्द्र गणिविरिचतायां जिनशतकटीकायां चन्द्रचन्द्रिकाभिधानायां पदवर्णनः प्रथमपरिच्छेदः समाप्तः॥

> संवति विद्या-मुनि-शशि-प्रमिते वर्षे च फाल्गुने मासि। सुगमा वृत्तिविंहिता वाचकवरसिद्धिचन्द्रमुनीन्द्रेण॥१॥

इति पातसाह श्री अकबर प्रदत्त षु(खु)इफहमाभिधानेन पातिशाह श्री नूरदीन जिहांगीर प्रदत्त जिहांगीर पसंदाभिधानेन च महोपाध्याय श्री सिद्धिचन्द्रगणिना विरचितायां चन्द्रचन्द्रिकाभिधानायां श्री जिनशतकटीकायां इस्तवर्णनो नाम द्वितीयः परिच्छेदः समासः ॥

इति [as above] पातसाह श्री अकबर जल्लालदीन प्रदत्त 'षु(खु)इफहम' अपराभिधानेन नूरदीन पातशाह श्री जिहांगीर प्रदत्त 'नादिरज्जमां' नाम्ना च महोपाध्याय श्री सिद्धिचन्द्रगणिना विरिचतायां चन्द्रचिन्द्रिकाभिधानायां जिनदातकटीकायां मुखवर्णनो नाम तृतीयः परिच्छेदः ॥

श्री विद्यापुरसंनिधिवर्त्तिश्रीसंघपुरिश्यतेनेषा वृत्तिः (?)। वृत्तिर्विहिता वाचकचन्द्रेण सिद्धिचन्द्रमुनीन्द्रेण॥१॥

अन्ते — श्रीअकबरधरणीधरहृदयाम्बुजरमणरसिकमधुपेन । श्रीसिद्धिचन्द्रवाचकशिरोवतंसेन निर्मिता वृत्तिः ॥ १ ॥ कृपया विलोक्यमाना विभाव्यमाना च कोविदैः कुरालैः । नन्दतु शरत्सहस्रं वृत्तिरियं चन्द्रचिन्द्रका नाम्नी ॥ २ ॥ स्विस्तितं मन्द्रमितित्वात् किंचिदशुद्धं यदत्र तच्छोध्यम् । मदुपरि विधाय महतीं करुणां करुणापरः सुजनैः ॥ ३ ॥

इति [as above] पातसाह श्री अकबर जल्लालदीन पदत्त 'षु(खु)श्फहमा'पराभिधानेन पातसाह श्री नूरदीन

¹ In the margin of the MS. it is stated... 'विलासपडंहितुल्येन' प्रसन्तरे पाठान्तरं।

जिहांगीर प्रदत्त 'नादिरजम्मां' नाम्ना च महोपाध्याय श्री सिद्धिचन्द्रगणिविरचितायां जिनशतकटीकायां चन्द्र-चन्द्रिकामिधानायां वाग्वर्णनो नाम चतुर्थः परिच्छेदः समाप्तः ॥ संवत् १७१४ वर्षे वैशास ग्रुदि ३ दिने श्री संघपुर प्रामे । [Folios 34 of 22 lines each in the box no. I, in the Vimala Gaccha's Bhandara, Doshivada, Vijapur in Gujarat.]

९ वासवदत्ताटीका।

आहौ - जयश्चियं यच्छतु मारुदेवः पूर्षोहितामानत पूर्व्यद्वेतवः (१)। यो नाभिजन्मापि वृषध्वजोभूत तद्भुतं कस्य जनस्य न स्यात्॥१॥ सारङ्गलक्ष्माऽभिनवः स शान्तिः शान्त्यै सतां निर्मितविघ्नशान्तिः। निरन्तरं मङ्गलधामगोऽपि न नीचतामञ्जति योऽत्र चित्रम् ॥ २ ॥ जगत्रयात्यद्भतकेलिधाम तं नेमिनामप्रभुमानमामः। आजन्मभावादभवोऽपि योऽर्हन् कन्दर्पदर्पं निधनं निनाय ॥ ३॥ पद्मावतीपार्श्वनिषेव्यपार्श्वः श्रीपार्श्वदेवः स सदा मुदेव । यन्मूर्भि दीपा इव सप्त सप्तद्वीपप्रकाशाय फणा विभानित ॥ ४॥ सुक्षश्रियं श्रीत्रिशलातनृजः पद्मातनृजप्रतिमस्तनोतु । शची यदंद्योर्नेखभां निमाल्य निजं करं कुङ्कमकाम्ययाऽधात ॥ ५ ॥ भीमत्व-कान्तत्वगुणैर्यदीयैन्य्नीकृतौ द्वाविष भानु-चन्द्रौ । अतो यथार्थोऽजनि भानुचन्द्रेः श्रीवाचकश्चन्द्रकुलान्धिचन्द्रः ॥ ६ ॥ अकब्बराह्वानमहीमहेन्द्रं योऽपीपठत् पाठकसार्वभौमः । सहस्रनामानि सहस्ररइमेः सौत्रणेसिंहासनसंस्थितः सन्॥ ७॥ शत्रुंजयक्षोणिघरप्रचण्डदण्डादिमुक्तिस्फुटघर्मकर्मा । यशो यदीयं कुमुदेन्दुजैत्रमद्यापि जागर्ति जगन्नयेऽपि ॥ ८॥ तत्पद्रपाधोनिधिवृद्धिचन्द्रः श्री सिद्धिचन्द्राभिधवाचकेन्द्रः। बाल्येऽपि यं वीक्य मनोश्ररूपमकब्बरः पुत्रपदं प्रपेदे ॥ ९ ॥ पुनर्जिह्यांगीरनरेन्द्रचन्द्रः प्रदीयमानामपि कामिनीं यः। हरेन नोरीकृतवान् युवापि प्रत्यक्षमेतत् खलु चित्रमत्र ॥ १० ॥ तेनेयमत्यद्भृतबुद्धिशालिनां मेधाविनां चित्तचमत्कृतेः कृते । परोपकारेण परेण वृत्तिर्विधीयते वासवदत्तिकाख्या ॥ ११ ॥

अन्ते — इति श्री महाकविसुबन्धुविरचिता वासवद्त्ता आख्यायिका समाप्ता॥ इति पादशाह श्री अकवर सूर्यसहस्त्रनामाध्यापक श्री शातुंजयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृतविधापक महोपाध्याय श्री भातुचन्द्रगणिशिष्याद्योत्तर- शतावधानसाधनप्रमुदित पादशाह श्री अकब्बर जिहांगीर शाहि प्रदत्त 'षु(खु)स्फह्म' 'नादिरज्जुमां' द्वितीयाभिधान महोपाध्याय श्री सिद्धिचन्द्रगणिविरचितं वासवदत्ताचंपूविवरणं समाप्तमिति। इति श्री वासवदत्ताक्यानरूपं चंपू तद्दीका समाप्तिति॥ संवत् १७२२ वर्षे लेखिता श्रीरस्तु। श्री प्रंथाग्रं ३१५० श्लोकसंख्ययाक्षरगणनया. [Folios 64 correct good copy in the box no. 1, in Vimala Gaccha's Bhandāra, Dośivādā, Vijāpur in Gujarāt. (२) श्रीरस्तु ग्रुमं भूयात् लेखकपाठकयोश्च सूत्रवृत्तिमिलने ग्रंथसंख्या ३०१५ Folios 46 no. 781 of 1886–92 Government Collection with Bhandārkar Oriental Research Institute, Poona.]

१० काव्यप्रकाशखण्डन ।

आदौ — महोपाष्यायश्रीभानुचन्द्रगणिगुरुभ्यो नमः । श्रेयःश्रियं तनुमतां तनुतां स शंभुः, श्रीअश्वसेनघरणीरमणाङ्गजन्मा । उत्कण्डिता त्रिपथगा विततस्त्रिमूर्त्तिवर्षालोकते त्रिजगतीमिव यस कीर्तिः ॥ १ ॥ जीयात् श्रीमदुदारवाचकसभालंकारहारोपमो, लोके संप्रति हेमस्रिसदशः श्री भानुचन्द्रश्चिरम् । श्री दार्वुजयतीर्थशुल्कनिवहप्रत्याजनोद्यद्याः, साहिश्रीमदकब्बरार्ष्पित 'महोपाध्याय' दृष्यत्पदः ॥ २ ॥

> शाहेरकव्वर्धराधिपमोलिमोलेश्चेतःसरोरुहविलासषडंहितुस्यः । विद्वचमत्कृतकृते वुधसिद्धिचन्द्रः काव्यप्रकाशविवृतिं कुरुतेऽस्य शिष्यः ॥ ३ ॥

ब्राह्याः कापि गिरो गुरोरिह परं दूष्यं परेषां वचो, वृन्दं मन्द्धियां वृथा विल्पितं नासाभिरृहंकितम् । अत्र स्तीयविभावनैकविदितं यत्कत्पितं कातुकाद्, वादिव्यूहविमोहनं कृतिधियां तत्प्रीतये करपताम् ॥ ४ ॥

> पररचितकाव्यकण्टकशतखण्डनताण्डवं कुर्माः । कचयो चदुर्द्रुद्धाः (१) स्वैरं खेळन्तु काव्यगहनेषु ॥ ५ ॥

तन्नादावनुवादपूर्वकं काव्यप्रकादाखण्डनमाख्यातनियतिकृतनियमरहितामाव्हादैकमयीमनन्यपरतन्नां....।

अन्ते — कवेगिरां यद् यदवादि दूपणं पुरातनेर्गडुरिकाप्रवाहतः ।
इदं सुवर्णं कृतमस्य खण्डनं मया वृधानां हृदयस्य भूषणम् ॥ १ ॥
प्रतापकृद् भानुरिवाहितानामानन्दकृष्णन्द इवेतरेषाम् ।
युक्तं तवेतत् किल वाचकेन्द्रश्रीभानुचन्द्रान्वयसंभवस्य ॥ २ ॥
भानुः प्रतापं न च दक्प्रमोदं दग्मोदमिन्दुनं पुनः प्रतापम् ।
तनोषि चैतद् द्वयमप्यधीश तस्माद्मूभ्यामधिकोऽसि नूनम् ॥ ३ ॥
कथं प्रभोऽपाकुरुषे प्रतापयशःप्रभाभिवतं भानुचन्द्रौ ।
त्वं भानुचन्द्रानुचरोत्तमोऽपि यद् वा चरित्रं महतामचर्च्यम् ॥ ४ ॥
स्वस्यापरेषामपि कार्यसिद्धं विधानतः सिद्धपद्मतिष्ठा ।
जगज्जनानन्दविधायकत्वाद् यदाह्रये चन्द्रपद्व्यवस्था ॥ ५ ॥

.....प्रश्चापितः स्विविषयात् पादशाह श्री अकब्यर सूर्यसहस्रनामाध्यापक श्री शात्रुंजयतीर्धकरमोचनाद्यनेकसुकृत-विधापक महोपाध्याय श्री भानुचन्द्रगणिविष्याष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुदितपादशाह श्री अकब्बर प्रदत्त पु(खु)स्फुहमा-पराभिधान महोपाध्याय श्री सिद्धचन्द्रगणिविरचिते काव्यप्रकाशखण्डने दशम उल्लासः समाप्तः। श्रीरस्तु शुभमस्तु संवत् १७२२ वर्षे पोसवदि १० गुरौ लिखितं श्री पार्श्वनाथप्रसादात्. [Folios 62, in the box no. 3, Vimala Gaccha's Bhandāra, Dośivādā, Vijāpur in Gujarāt.]

११ अनेकार्थोपसर्गवृत्ति ।

आदौ — ऐं नमः । महोपाध्याय श्री ५ भानुचन्द्रगिणगुरुभ्यो नमः । मूलम्—प्रणम्य श्रीमदर्हन्तं सिद्धिचन्द्रेण धीमता । अमरप्रोक्तनानार्थः पृथक्रुत्य विलिख्यते ॥ १ ॥ टीका—महोपाध्याय श्री ५ भानुचन्द्रगिणगुरुभ्यो नमः ।

श्चेयःश्चीर्श्वमरीव पङ्कज्ञवनं सौदामिनीवाम्बुदं गङ्गेवाम्बुनिधि सुधेव शिश्वनं गौरीव गौरीश्वरम् । छायेवाम्बुजमित्रमाश्चितवती यत्पादपाथोरुहं स श्रीमान् प्रथमप्रभुः प्रतिदिनं पुष्णातु पुण्यश्चियम् ॥ १ ॥ अस्ति श्रीमद्खण्डपाठकगणप्राप्तप्रतिष्ठोन्नतिर्भूपालावलिवन्द्यमानचरणः श्री भाजुचन्द्रो गुरुः । यत्कीर्त्तिर्भुवनाङ्गणे गुणगणच्छन्ने न मान्ती पुनर्द्वातुः कर्णगताऽक्तरोदमिनवब्रह्माण्डयाच्यामिव ॥ २ ॥

अकवरनृपतेः करस्थमुद्राङ्कितवहुशासनपत्रपत्रिणा यः।

करमिखलमनाशयत् प्रजानां करिनकरैरिय भागुरन्धकारम् ॥ ३ ॥ तस्यास्त सविधे विधेयजगतीलोकसारो मूर्त्तिमान् , विद्वद्वृन्दगजेन्द्रतर्ज्जनहरिः श्रीसिद्धिचन्द्राभिधः । यन्कीर्त्तिभुजगाङ्गनावलिभिरुद्गीतां समाकर्णयन् , आनन्दामृतपूर्णकर्णकुद्दरः शेषः सुखं खेलति ॥ ४ ॥

परेषां यद् दूरे हृदयसरणेरिस्त तदिदं, विधानानामष्टोत्तरशतकमालोक्य मुदितः । महाराजश्रीमानकवरनृपो यस्य सहसा, भुवि ख्यातामाख्यां सपदि खुष्फहमेति विद्धे ॥ ५ ॥

नानार्थस्यामरकृतेर्वीक्ष्य कोषाननेकद्याः । तेन स्वरोमुषीवृद्ध्ये व्याख्या काचिद् विधीयते ॥ ६ ॥

अन्ते — श्री भानुचन्द्रशिष्येण सिद्धिचन्द्रेण धीमता। अनेकार्थोपसर्गाणां वृत्तिरेषा विनिर्मिता॥१॥

इति पातिशाह श्री अकन्वर जल्लालदीन सूर्यसहस्रनामाध्यापक श्री शत्रुंजयतीर्थकरमोचनावनेकसुकृतविधापक महोपाध्याय श्री भानुचन्द्रगणिशिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुदितपातिसाह श्री अकवर जल्लालदीन नूरदीन जिहांगीर प्रदत्त 'षु (खु) व्यहम' 'नादिरजुमां' द्वितीयाभिधान महोपाध्याय श्री सिद्धिचन्द्रगणि-रचिता अनेकार्थोपसर्ग- मृत्तिः समासा ॥ [55 folios in the box no. 2, in Vimala Gaccha's Bhandāra, Dosivādā, Vijāpur in Gujarāt.]

१२ धातुमंजरी । १३ आख्यातवाद टीका ।

१४ प्राकृतसुभाषितसङ्ग्रह ।

आदौ - महोपाध्याय श्री भानुचन्द्रगणिगुरुभ्यो नमः।

पढमं चिर पढमजिणस्स नमह नहमणिमऊइ रमणिजं।

अन्ते — इति पादशाह श्री अकब्बर सूर्यसहस्रनामाध्यापक श्री शात्रुंजयतीर्थकरमोचनाचनेकसुकृतविधापक महोपाध्याय श्री ५ भानुचन्द्रगणिशिष्याष्ट्रोत्तरशतावधानसाधनप्रसुदितपादशाह श्री अकब्बर जङ्खाळदीन प्रदत्त श्रु(खु)सफहमापराभिधान महोपाध्याय श्री सिद्धिचन्द्रगणिविरचितः प्राकृतसुभाषितसंग्रहः समाप्तः॥ [Folios 25 in the box no. 3, in Vimala Gaccha's Bhandāra, Dosivādā, Vijāpur in Gujarāt.]

१५ सूक्तिरत्नाकर।

[The first 5 folios of the only MS. of this work containing verses relating to बसन्त season are wanting. Different poets including the author and different works of which verses are culled herein are mentioned here with their numbers from its 6th folio:—]

ग्रीष्मवर्णनम्—१५४ स्किक्ल्पलतातः, १५५ श्रीपालकवेः, १५६ भोजदेवस, १५७ भीमस, १५८ कस्यापि, १५९ श्रीपालकवेः, १६० श्री भोजदेवस, १६१ होमेन्द्रस्य, १६२ कस्यापि, १६३ राजशेखरस्य, १६४-५-६ एते स्किक्ल्पलतातः, १६०-८ शर्वदा[स]स्थेतौ, १६९ स्किक्ल्पलतातः, १७० कस्यापि, १७१ भर्नृहरेः, १७२-३-४ एते अमरचन्द्रकवेः, १७५-१८२ एते स्किसुधातः, १८३ कस्यापि ॥ अथ ग्रीष्मवायवः—१८४ भट्ट बाणस्य, १८५ कस्यापि, १८६ स्किसुधातः, १८७ स्किसुधातः, १८८-१९१ भट्ट बाणस्येते ॥ [Further two verses numbered again 187 and 188 are further written in the margin] अथ प्रपापालिकाः—१९२-४ केषामप्येते, १९५ सिद्धिचन्द्रस्य १९६ स्किसुधातः। अथ जलकेलिः—१९७ अमरकस्य, १९८ कलशस्य, १९९ गोइ धोइ कविराजयोः, २०० कुलपतेः, २०१-४ एते स्किक्लपलतातः, २०५ भारवेः, २०६-२१२ एते अमरचन्द्र कवेः, २१३-२१७ सिद्धिचन्द्रस्य, २१८-२२० स्किसुधातः।

अथ प्रावृद्वर्णनम्—२०१-२ एतौ स्किक्ल्पलतातः, २०३ अमरचन्द्रकवेः, २०४ कस्यापि, २०५ कस्यापि, २०६ कस्यापि, २०८ त्रिविकमस्य, २०९ विजिकायाः, २१० स्किसहस्रात्, २११ पाणिनेः, २१२ कस्यापि, २१३-१६ केषामप्येते, २१७-२२० केषामप्येते, २२१ कस्यापि, २२२ कस्यापि, २२३-४ सिद्धिचन्द्रस्य, २२५ गांधिक भञ्जूकस्य, २२६ कस्यापि, २२७ स्किक्ल्पलतातः, २२८ रघुपतेः, २२९ भोजदेवस्य, २३० कस्यापि, २३१ कस्यापि (= शर्षदासत्य) २३२ कस्यापि, २३३ कस्यापि, २३४ भाजुकरस्य, २३५-६ एतौ स्किक्ल्पलतातः, २३७-२४४ केषामप्येते, २४५ भाजुकरस्य [in the margin one verse is added], २४६ लोलिम्बकवेः, २४७ हरिहरकोकाङ्गजपण्चारामजिष्णोः, २४८-९ भर्तृहरेरेतौ, २५०-१ भर्तृहरेरेतौ, २५२-५ सदस्य] while in the margin no. 255 is repeated stating लोलिम्बकवेरेतौ] ॥ अथ विद्युत्—२५६-९ सिद्धिचन्द्रस्य, २६० कुमारदासस्य, २६१ कस्यापि, २६२-९ स्किसुधातः ।

अथ प्रावृद्पथिक:---२७०-१ सिद्धिचन्द्रस्पेतौ, २७२ काव्यप्रकाशात्, २७३ कस्यापि, २७४ कस्यापि, २७५ कस्यापि, २७६ भट्टबाणस्य, २७७ कस्यापि, २७८ भर्नुहरेः, २७९ रुद्रस्य, २८० लोलिम्बराजस्य, २८१ भर्नुहरेः, २८२ कस्यापि, २८३-४ कयोरप्येता, २८५ सूक्तिकल्पलतातः, २८६-७ मेघाभ्युदयात्, २८८ भर्नृहरेः, २८९ कालिदासस्य, २९० सिद्धि-चन्द्रस्य, २९१ सूक्तिकल्पलतातः, २९२ कस्यापि, २९३ लोलिम्यकवेः, २९४ मर्तृहरेः, २९५ कस्यापि, २९६ कस्यापि, २९७ भर्तृहरेः, २९८-९ (in the margin विजाकायाः) ३०० केषामप्येते ३०१-२ कयोरप्येतौ, ३०३ सिद्धिचन्द्रस्य, ३०४ कस्यापि, ३०५ कस्यापि, ३०६-७ रुद्रस्थेतो, ३०८ सिद्धिचन्द्रस्य, ३०९ कस्यापि, ३१० कस्यापि, ३११ (in the margin इत्युक्तं ३०१-६ सिद्धिचन्द्रस्य, ३०७-८ स्किकल्पलतातः), ३१२-३ स्किसुधातः ॥ अथ दोलाकेलिः— ३१४-५ सूक्तिसुधातः, ३१६-९ एते अमरचन्द्रकवेः, ३२०-१ नाथकुमारस्य, ३२२ बिल्हणस्य, ३२३ कस्यापि, ३२४ कस्यापि, ३२५ स्किकल्पलतातः ॥ अथ चर्पाचाययः—३२५ (doubled)—३२९ कृष्णक्रीडितकाव्यादेते (in the margin ३२४ स्किक्ष्पलतातः), ३३० स्किक्ष्पलतातः, ३३१ वैद्यभानुपण्डितस्य (in the margin one verse is quoted and numbered ३३१ अमरचन्द्रकवेः), ३३२ कस्यापि, ३३३ यागेश्वरस्य, ३३४ कस्यापि, ३३५-६ एतौ सुक्तिकल्पलतातः, ३३७ स्किसुधातः, ३३८ (in the margin it is stated पुंढला पानानी षोटी छे), ३३९ रुद्रटस्य, ३३९ (doubled) ३४० लोलिम्बकवेरेतौ, ३४१-३ केपामप्येते, ३४४ भर्तृहरेः, ३४५-६ श्रीहर्षस्येतौ, ३४७ कस्यापि, ३४८ सूक्तिसहस्रात्, ३४९ व्यासस्य, ३५० भटिस्वामिनः, ३५१ कस्यापि, ३५२ सिद्धिचन्द्रस्य (in the margin ३५२ सोमेश्वरस्येतौ), ३५३ कस्यापि, ३५४-९ श्रुतिधररामस्य, ३६० मदनस्य, ३६१ विल्हणस्य, ३६२ सूक्तिकल्पलतातः, ३६३-८ एते सून्ति.सुधातः, ३६९ कस्यापि ॥

अथ रारचन्द्रं प्रति विरहिण्युपालम्भाः—३००-१ कयोरप्येतौ, ३०२ काव्यप्रकाशात्, (4 verses given in the margin ३०३-४ भर्नृहरेः)। अथ भ्रमरीक्रीडा—३०३ स्किसुधातः, ३०४ कस्यापि। अथ रारद्वायवः— ३०५ वैद्य मानुपण्डितस्य, ३०६ स्किक्त्यलतातः, ३०० कस्यापि, ३०८ मदनस्य, ३०९ राजशेखरस्य। अथ रारत्पथिकः— ३८० कस्यापि, ३८१ विज्ञाकायाः, ३८२-३ मधुसूदनसरस्वत्याः॥

अथ हेमन्तः—३८४-५ शर्यदासस्य, ३८६ शर्यदासस्य, ३८७ कालिदासस्य, ३८८-३९० बिल्हणसेती, ३९१-३९१ (doubled)—३९६ एते सूक्तिकंल्पलतातः, ३९७ कस्यापि, ३९८-९ सिद्धिचन्द्रोपाध्यायस्य, ४०० रघुपतेः, ४०१ भगीरथस्य, ४०२ कस्यापि, ४०६ स्क्तिकल्पलतातः, ४०७ लक्ष्मीधरस्य, ४०८ कस्यापि (in the margin सूक्तिसुधातः), ४०९ स्क्तिसहस्रात्, ४१० विल्हणस्य, ४११ अमरुकस्य, ४१२ कस्यापि, ४१३ अमरुवन्द्रकेः, ४१४ (blank), ४१५-६ भर्नृहरेरेतौ, ४१० लोलिम्बकवेः, ४१८ भर्नृहरेः, ४१९-२१ केषामप्येते, ३२२ कस्यापि, ३२३-२६ एते सूक्तिसुधातः (in the margin ४२३ भानुभद्दस्य, ४२४-५ एतौ अमरचन्द्रकवेः), ४२७ कस्यापि । अथ हेमन्तपथिकः—४२८ कस्यापि, ४२९ श्रीभोजस्य, ४३० वाणभद्दस्य, ४३१ कस्यापि, ४३२-३ एतौ स्क्तिसुधातः । अथ कन्दुकलीला—४३४-६ एते सूक्तिसुधातः, ४३७ राजशेखरस्य, ४३८-९ कयोरप्येतौ, ४४० सूक्तिसहस्रात्, ४४१ दण्डिनः, ४४२ भारवेः, ४४३ कालिदासस्य, ४४४ सूक्तिकल्पलतातः ॥

अथ शिशिरः — ४४५-९ एते सूक्तिसुधातः, ४५० अमृतवर्धनस्य, ४५१ कस्यापि, ४५२ कस्यापि, (in the margin राजशेखरस्य), ४५३ थिटहणस्य, ४५४ महामनुष्यस्य, ४५५-६ बालभारतकर्तुरमरचन्द्रकवेरेती, ४५७ कस्यापि, ४५८ कस्यापि, ४५९ स्क्लिसहस्रात्, ४६० कस्यापि, ४६१ स्क्लिक्यलतातः, ४६२-५ केपामप्येते । अथ दिगमलनिकया— ४६६ स्क्लिसुधातः, ४६७ कयोरप्येते । अथ शिमलनिकया— ४६९-७० वंकलावर्त्तस्यतो, ४७१ (in the margin बिव्हणस्य) । अथ शिशिरपथकः—४०२ स्क्लिसुधातः, ४७३ कस्यापि, ४७४ बाणस्य, ४७५ मयूरस्य । अथ ऋतुसन्धः—४७६-७ भानुकरस्य ॥

इति पादशाह श्री अकवर जल्लालदीन सूर्यसहस्रनामाध्यापक श्री शात्रुंजयतीर्थकरमोचनायनेकसुकृतविधापक महोपाध्याय श्री भानुचन्द्रगणिशिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुदितपातिशाह श्री अकवर जल्लालदीन पानशाह श्री नृरदीन जिहांगीर प्रदत्त 'खुस्प्तहम' 'जिहांगीर पसंद' दितीयाभिधान महोपाध्याय श्री सिद्धिचन्द्रगणिविरित्तेत स्किरलाकरे पड्ऋतुवर्णनं समाप्तं॥ [16 folios whereof the first five are wanting, each having 22 lines on its each side. No. 1613 in Pravartaka Kāntivijaya's Bhandāra at Baroda.]

१६ मङ्गलवाद् ।

आदौ —ॐ ऐं नमः। इांखेश्वरपुराधीशं श्रेयोवछीवनाम्बुरम्। विद्रौधमत्तमातङ्गपञ्चास्यं श्रीजिनं भजे ॥ अथ मंगलवादः प्रारम्यते......। अन्ते-इति महोपाध्यायश्रीभानुचन्द्रगणिशिष्यमहोपाध्यायश्रीसिद्धिचन्द्रगणावरिवतो मंगळवादः समाप्तः॥

[A note is added by a later scribe—संवत् १९६७ वर्षे कार्तिक ग्रुक्ठपक्षे तिथौ पूर्णिमायां छी॰ बारोट नारायण नत्थुजी। श्री चल्लिभ नगरे। 5 folios no. 2089 Pravartaka Kāntivijaya's Bhandāra at Baroda.]

१७ सप्तस्मरणवृत्ति ।

आदौ-श्रीनाभेयः श्रियं दद्यात् सुरासुरनमस्कृतः । विद्वानेकपपञ्चास्यो दधत् विश्वजनीनताम् ॥ १ ॥ अक्वर सुरत्राणहृदयाम्बुजषद्पदः । भानुचन्द्रश्चिरं जीयाद् गुरुमें वाचकाग्रणीः ॥ २ ॥ अष्टोत्तरश्चानां योऽवधानानां विधायकः । दधानः '(खु)स्फह्दमे'ति विरुदं शाहिनार्पितम् ॥ २ ॥ तेन वाचकचन्द्रेण सिद्धिचन्द्रेण सर्वदा । बुद्धिवृद्ध्यै वितन्द्रेण बालानामल्पमेधसाम् ॥ ४ ॥ (श्रिभिर्विशेषकम्)

दाश्वत् सप्तसरणानां वृत्तिरेषा विधीयते । तत्र तावन्नमस्कार एव व्याख्यायते मया ॥ ५ ॥

- (१).....नमस्कारार्थः ॥ अथ पंचाशीत्यधिकशताक्षरमानस्य उपसर्गहरस्तोत्रसेयमाधां गायामाइ-।
- (२).....इति पातशाह श्री अकन्वर जल्लालदीन श्री सूर्यसहस्रनामाध्यापक श्री शात्रुंज्ञयतीर्थंकरमोचनसर्वत्र-गोवधनिवर्तनायनेकसुकृतनिर्मापकमहोपाध्याय श्री भाजुचन्द्रगणिशिष्ययुगपदष्टोत्तरशतावधानचमस्कृतपादशाह श्री अकन्वर जल्लालदीन पादशाह श्री नूरदीन जिद्दांगीरप्रदत्त 'यु(खु)श्फहम' 'नादिरज्जमां' द्वितीयाभिधान—महोपाध्यायश्रीसिद्धिचन्द्र-गणिविरचितायां सप्तस्ररणटीकायां उपसर्गहरस्तोत्रटीका समाप्ता ॥
 - (३).....सप्तस्यधिकदातजिनस्तोत्र (तिजयपहुत्त) वृत्तिः संपूर्ण समजिन ॥
- (४).....भयहरस्तोत्र (निमञ्जण) वृत्तिः संपूर्णा समजनि॥ संवत् १७९२ आषाढादि एवं असाढ शुद्धि १३ शनौ श्री पृत्तन नगरे लिखिता ॥ छ॥ [13 folios No. 885 of 1892–95 A. D. Government Collection with Bhandarkar O. R. Institute, Poona.]
 - (५) अजितशान्तिस्तोत्रवृत्तिः-

विश्वसृद् वृषभस्वामी कामितार्थप्रदोऽस्तु नः। नाभिजातोऽपि यश्वित्रमभिजातिहारोमिणः॥१॥ वाचकश्रेणिमुख्येन सिद्धिचन्द्रेण तन्यते। अजितशान्तिस्तोत्रस्य वृत्तिर्वाळाववोधिका॥२॥

[Gloss upto 2 gāthās of this stotra over and above that on the above four hymns. 17 folios bundle no. 40 MS. no. 141, Dehlā Upāśraya's Bhandāra, Ahmedābād.]

(६) छघुशान्तिस्तोत्रवृत्तिः-

प्रणम्य श्रीमद्ईतं लघुशिष्यहिते मया। लघुशान्तिस्तोत्रस्यैषा लघुवृत्तिर्विधीयते ॥ १ ॥

अन्ते — लघुशान्तिस्तववृत्तिविहिता श्रीसिद्धिचन्द्रमुनिराजैः। पठनाय चारबुद्धेः कपूरचन्द्राभिधानशिष्यस्य (?)॥

इति पातशाह [as above] विनिर्मापक पादशाह प्रदापित रूप्यद् 'उपाध्याय' पदधारक महोपाध्याय श्री मानुचन्द्र [as above] शतावधानसाधनप्रमुदितपादशाह श्री अकब्बर जल्लालदीन प्रदत्त षु(सु)स्फ्हमिति द्वितीयाभिधानेन महोपाध्याय श्री सिद्धिचन्द्रगणिविरचिता लघुशान्तिस्तवटीका संपूर्णा समजनि ॥

(७) बृहत् शान्तिस्तोत्रवृत्तिः-

श्रीशान्तिसामिनं नत्या शिवतातिं जिनेश्वरम् । वृत्तिरेषा वृहच्छान्तेः सिद्धिचन्द्रेण लिख्यते ॥ १ ॥

[The last page wanting; folios from 17 to 30 also numbered 1 to 14 containing gloss of the above 6th and 7th hymns in full. Bundle 41 MS. no. 140, in Dehlā Upāśraya's Bhandāra, Ahmedābād.]

१८ लेखलिखनपद्धति ।

अन्ते — इति महाराजाधिराज पादशाह श्री अकब्बर जल्लालदीन सूर्यसहस्रनामाध्यापक श्री शात्रुंजयतीर्थकरिवमोचन॰ गोवधनिवर्त्तनाद्यनेकसुकृतविनिर्मापक महोपाध्याय श्री भाजुचन्द्रगणिशिष्य युगपदश्चेत्तरशतावधानसाधनप्रमुदितपादणाह श्री अकब्बर जल्लालदीन पादशाह श्री जिहांगीर नूरदीन प्रदत्त 'पु(ख़)श्रवहम' 'नादिरजमां' द्वितीयाभिधान महोपाध्याय श्री सिद्धिचन्द्रगणिविरचिता लेखलिखनपद्धतिः समाप्ता। लिखितेयं विद्यापुरे सं० १७११ वर्षे। [The MS refered to in Atmānanda IV, no. 8, p. 22; as in the collection of the late Muni Vicakṣaṇavijaya.]

१९ संक्षिप्त कादंबरी कथानक [गूजराती गद्यमय]।

ॐ ॥ महोपाध्याय श्री ५ भानुचन्द्रगणिगुरुभ्यो नमः ॥

श्री सर्वेक्नं नत्वा भक्त्या स्वीयं च सहुरुं स्मृत्वा। कादंवर्युद्धारो विधीयते सिद्धिचन्द्रेण॥

विदशा नगरी वेत्रवती नदीनिं तहिं। त्यहां राजा शौद्रक राज्य कारें। एक सिमं दक्षिणदेशथी एक चांडाली परमसुंदरी, शुक एक लेई राजद्वारि आवी।

अन्ते — पूर्वे चृद्धभोज इं बाणपंडितपासिं कादंवरीनी कथा नवनवरससंयुक्त करावी। ते कथा घणुं कठिन छइ। ते माटइ मंदबुद्धिनई प्रीच्छवानइ अर्थि संक्षेपइं लोकभाषाइं ये प्रबंध कीधो छि।

पातशाह श्री अकब्बर जल्लालदीन श्री सूर्यसहस्रनामाध्यापक, श्री शात्रुंजयतीर्थकरमोचनाद्यनेकसुकृतविधापक महोपाध्याय श्री ५ भानुचन्द्रगणिशिष्याष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुदितपातशाह श्री अकब्बर जल्लालदीन प्रदत्त खुष्फहमापराभिधान महोपाध्याय श्री सिद्धिचन्द्रगणिविनिर्मितं संक्षिप्त कादंबरीकथानकं समाप्तं ॥ छ ॥ संवत १७४७ वर्षे पौष वदि १३ शनौ दिने लिखतं पत्न नगरे ॥ [8 folios in Dāyara Upāśraya Bhandāra at Pālanpur, published by Jinavijaya Muni in Purātatva vol. V, no. 4, pp. 244 to 256.]

कामंद्कीयो नीतिसारः—प्रौढप्रत्यर्थिमत्तमातंगकंठकंठीरवायमान-सकलजगजीवजीवनौषधायमान-पातिशाह श्री अकब्बर प्रदापितोपाध्यायपदधारक-श्रीशत्रुंजयकरमोचनाद्यनेकसुकृतकारक-महोपाध्याय श्री भानुचन्द्रगणीनां शिष्येण अष्टोत्तरशतावधानसाधनप्रमुद्दितपातिशाह श्री अकब्बर प्रदत्त 'प्रसुफहमा'पराभिधानेन महोपाध्याय श्री सिद्धिचन्द्रगणिना लिखापिता प्रतिरियं. [39 folios in bundle no. 2 Vimala Gaccha's Bhandāra, Vijāpur.]

मूलग्रन्थ तथा परिशिष्टान्तर्गत विशेषनामानुक्रमणिका

अकबर,-°व्बर [साहि, जलालदीन, बाद-शाह] २, ४, १२, १७, २१, ३०, ३१, ३८, ३९, ५३, ५५, ५७-५९, ६१-६३, ६५, ६६ अखयराज 🏻 [नृप] ५४ अक्षयराज ∫ अजीजकोका १७, ३७ भजयराज [सा०] ३७ अञ्चलगच्छ ५४ अनेकार्थीपसर्गवृत्ति [ग्रन्थ] ६२, ६३ अवलफजल होस [मन्नी] ६ अमर [कोशकार] ६२, ६३ अमरचन्द्र [कवि] ६३, ६४ अमरुक [कवि] ६३ अमृतवर्द्धन [कवि] ६४ अर्बुदाद्रि [तीर्थ] ५४ अहम्मदावाद [नगर] ८, ३९, ४१ आख्यातवादटीका [प्रन्थ] ६३ आईतशासन [दर्शन] २ आसेर [दुर्ग] ३६ उग्रसेनपुर ३, ३५, ३७, ४१, ५० उपसर्गहरस्तोत्रटीका [प्रन्थ] ६५ ऊना [ग्राम] ३४ औल्लुक्य [दर्शन] ३० कपूरचन्द्र [मुनि] ६५ कर्मचन्द्र [मन्त्री] २० कलश [किव] ६३ कल्याणविजय [वाचक] ५७ कश्मीर [देश] २३ कंसारपाटक [स्थान] ३७ कादंबरीकथानक [ग्रन्थ] ६६ कादम्बरीटीकावृत्ति [प्रन्थ] २,५५,५८ कामंदकीय नीतिसार [ग्रन्थ] ६६ कालिदास [कवि] ६४ कालिन्दी [नदी] ३ काब्यप्रकाश [प्रनथ] ३३, ६४ कान्यप्रकाशखण्डन [प्रन्थ] ६१, ६२, काब्यप्रकाशवृत्ति,-विवृत्ति [ग्रन्थ] २, ५५ कुमारदास [कवि] ६३ कुमारपालदेव [नृप] ५६ कुलपति [किव] १३ कृष्णकीडित [काब्य] ६४

क्षेमेन्द्र [प्रन्थकार] ५५, ६३ क्षेमेन्द्रटीका [ग्रन्थ] ५५ क्षेमेन्द्रीवृत्ति [प्रन्थ] ५५ खरतर [गच्छ] २०, २४, २५, ३५, ४०, ४१ खानाजम [खान-आजम] २५ 🕠 खुरम [अजीजकोका पुत्र] ३७ खुइफहम, खुप्फहम, खुस्फहम [बिरुद] २९, ५३, ५८–६०, ६४, ६५ खेनावृत्ति [ग्रन्थ] २ गन्धार बन्दिर [नगर] ८, ४१ गङ्गा [नदी] ३ गांधिकभल्लक [कवि] ६३ गूर्जर, गूर्जरत्रा [मण्डल देश] २, ६-८, १०, १४, १८, ३२, ३३, ३८ गोइ [किव] ६३ गोपाचल [दुर्ग] ३५ गौरी [श्राविका] ३७ चिन्तामणि [चैत्य] ३५ चिन्तामणी [प्रन्थ] ३३ चन्द्रचन्द्रिका [प्रनथ] ६०, ६१ जगद्गुरु [बिरुद] ५७ जम्बूद्वीप [क्षेत्र] ३ जयविजय [मुनि] ५७ जाम [नृप] १७ जिनदत्तसूरि ५७ जिनराज [वाचक] ५४ जिनशतकटीका [प्रन्थ] ६०, ६१ जिहांगीर [नूरदीन, बादशाह] २, ३९, ४१, ४६, ६०, ६१, ६६ जिहांगीर कुलीखान [देशाधिप] ८१ जिहांगीर पसंद [बिरुद] ६०, ६४ जैनलङ्का [सरोवर] २५, २६ तपगच्छ, तपःपक्ष, तपागच्छ, तपागण, ११, १२, ३५, ५५, ५६ तर्कभाषाटीका [प्रन्थ] ६० त्रम्बावती [नगरी] ३९ त्रिविकम [कवि] ६३ थानसिंह [सा०] १९, २० दण्डी [कवि] ६४ दाक्षिणात्य [नृप] ३५, ३६ दानशाह [शाहिपुत्र] ६ दिल्ली [नगरी] १३

दिलीपति [बादशाह] ५३ दुर्जनशल्य [सा०] २८, ३७ देवविजय [मुनि] ५७ दौलतीय [शिष्यनाम] ५३ द्वीप [बन्दिर-नगर] ३३ धनराजजी [वाचक] ५८ धातुमंजरी [**प्रन्थ**] ६३ धोइ [कवि] ६३ नन्दिवजय [मुनि] २९, ३२, ३३ नन्दिषेण [मुनि] ३२ नाथकुमार [कवि] ६४ नादिरजमां [बिरुद] ६०, ६१, ६३ नाममाला [प्रन्थ] ५६ नामश्रेणि वृत्ति [प्रन्थ] २, ५५ नामसङ्घह [प्रन्थ] ५६ नृरदीन जिहांगीर ६०, ६३–६५ न्रमहल्ल [बेगम] ४४ नैषध [ग्रन्थ] ३३ प (पा)तिसाह [बादशाह] ५६ पत्तन [नगर] ३९, ४१, ६५ पस्न (पत्तन) [नगर] ६६ पक्षिका [प्रन्थ] ६० पण्ड्यारामजिष्णु [कवि] ६३ पीरपञ्जाल [पर्वत] २५, ३४ पाणिनि [वैयाकरण] ६३ पारसी [भाषा] ३३, ३४ पाहडी [शाहिपुत्र] ६ पुण्डरीक [तीर्थ] २४ प्राकृतसुभाषितसङ्ग्रह [प्रन्थ] ६३ फत्तेपुर [नगर] ९ फलवर्द्धि [नगर] ४१ वर्षरवंश २७ बर्हानपुर [नगर] ३६ बलक्ष[नृप] ४५ बाणभद्द (भद्दबाण) [कवि] ६३, ६६ बाण पंडित वालभारत [प्रन्थ] ६४ बिल्हण [किव] ६४ भक्तामरमहास्त्रोत्र [ग्रन्थ] २० भक्तामरस्तोत्रवृत्ति [प्रन्थ] ५९, ६० भगीरथ [कवि] ६४ भद्रवाण (बाणभट्ट) [कवि] ६३, ६४ भद्दाचार्य २९, ३०

भट्टिस्बामी [कवि] ६४ भन्भर [ग्राम] २४ भरताई [देश] ३ भर्तृहरि [किव] ६३, ६४ भानुकर [कवि] ६३, ६४ भानुचन्द्र [उपा०, गणि, मुनि, वा०] २, १२, २५, २८, ३१, ३२, ३५, ४१, ५३–५८, ६०–६६ भानु भट्ट [कवि] ६४ भारवि [कवि] ६३ भावचन्द्र [मुनि] ३१, ३२, ५६ भीडिभक्षनपार्श्व [प्रासाद] ३७ भीम [प्रन्थकार] ६३ भोज,-भोजदेव [प्रन्थकार] ६३, ६४ मङ्गलवाद [प्रन्थ] ६४, ६५ मदन [किव] ६४ मधुसूदनसरस्वती [कवि] ६४ मध्यमण्डल [देश] ३ मयूर [किवि] ६४ महामनुष्य [कवि] ६४ महाभाष्य [ब्याकरण] ३३ महीशानपुर [नगर] ३९ माधवदास [अङ्गरक्षक] ४१ मालपुर [नगर] ४९, ५३ मीर्यासादुहा [देशाधिप] ४० मेघाभ्युदय [प्रन्थ] ६४ मेदिनीद्रङ्ग [नगर] ४१ यागेश्वर [कवि] ६४ रघुपति [कवि] ६३, ६४ रङ्गचन्द्र [मुनि] ३४ रत्नपञ्जाल [पर्वत] २५ रत्नपालकथानक [प्रन्थ] ५३ रत्नविजय गणि ५३ रत्ना [मुनि] ५३ राजदङ्ग राजनगर [नगर] ८, ४१ राजधन्यपुर [नगर] २२ राजदोखर [किच] ६३, ६४ रामदास [महाराज] २९, ४१ रा [आ?] मेर [नगर] ३७ रिखु [सा०] ३७ रुद्ध [कवि] ६३, ६४ रुद्रट [कवि] ६४ रोहितास [दुर्ग] २७ लक्ष्मीधर [कवि] ६४ लघुशान्तिस्तवटीका [प्रन्थ] ६५

लाभपुर [नगर] १०, १३, १८, २७, २८, ३२, ३४ लाभविजय [मुनि, वाचक] ५७ **लुम्पाक** [मत] ११ लाली [श्राविका] ४० लेखलिखनपद्धति [ग्रन्थ] ६६ लोलिम्ब, लोलिम्बराज [किव] ६३, ६४ चटपद्ग [नगर] ४१ वर्द्धमानविद्या ३१ वसन्तराजविवृत्ति [ग्रन्थ] २, ५४ वंकलावर्ते [कवि] ६४ वासवदत्ताचंपू,-विवरण [प्रनथ] ६९ वायट [गच्छ] ५७ विक्रमार्क [देशाधिप] ३९ विजयतिलकसूरि ५५, ५७ विजयदेवसूरि ४० विजयसेनसूरि २८, ३७, ५५, ५६, ५७ विजयानन्दसूरि ५७ विजिका [कवयित्री] ६३, ६४ विद(दि)शा [नगरी] ६६ विद्यापुर [नगर] ६०, ६६ विमलाचल-°चलादि [महातीर्थ] २४, ३५ ३७, ५३, ५८ विविक्तनामसंग्रह [ग्रन्थ] ५६ विवेकविलासटीका,-वृत्ति [प्रन्थ] २,५७ वृद्धप्रस्तावोक्तिरताकर [प्रन्थ] ५९ वृद्धभोज [नृपति] ६६ वेत्रवती [नदी] ६६ वेदान्ती [दर्शनी] ३० वैद्यभानुपण्डित ६४ न्यास [महर्षि] ६४ दात्रञ्जय [महातीर्थ] २, २५, ३८, ५३–५८, ६०, ६२ शर्वदास [ग्रन्थकार] ६३, ६४ शंखेश्वरपुर [तीर्थ] ६४ शाकटायन [वैयाकरण] ५६ शान्तिचन्द्र, [उपाध्याय] १०, १२, १४ शाहि [अकब्बर] ९, १०, १४−१७, १९-२२, २५-३०, ३२-३५, ३८, ४१, ४३, ४७, ४९ शाहिजात [शाहिपुत्र] २०, २१, शाहि मुराद ७ शाहि सलेम ३८ होख (भवलफजल) [मन्नी] ६, १३, १४,२१,२२,२४-२६,२८-३१,३५ | हेमसूरि ५३, ६२

होखूजी–होपूजी [शाहिपुत्र] ६, १९, २० श्रोभनस्तुतिटीका [प्रन्थ] ५९ शोभनाचार्य [सूरि] ५९ इयामपुरी [नगरी] ५६ श्रीनगर [नगर] २५, ३४ श्रीमाल [कुल] ३७ श्रीपाल [कवि] ६३ श्रीहर्ष [कवि] ६४ श्चितिधरराम [किव] ६४ पद्रत्रिंशिका वृत्ति [ग्रन्थ] ५७ पु (खु) इफहम-°टफहम-°स्फहम [विरुद] ५४, ५५, ६१–६३, ६५, ६६ सक्लचन्द्र [उपा०,–वाचक] ११, ५५ संघपुर [ग्राम] ६० सप्तपदार्थीटीका [ग्रन्थ] ६० सप्तस्मरणटीका,-वृत्ति [ग्रन्थ] ६५ समस्दीन २५ सलेमशाहि ३९ साङ्क्य [दर्शन] ३० सादुहा (मीर्या) [देशाधिप] ४० सारणेश्वर [तीर्थ] ५४ सारस्वतब्याकरणवृत्ति [प्रन्थ] २, ५५ साहिबखान [देशाधिप] ८ सिद्धादि [महातीर्थ] ५३, ५७, ५८ सिद्धिचन्द्र [गणि, उपा०, वाचक] २, **३**२–४२, ४४, ४९, ५३**–**५७–६६ सीरोही [नगर] ५४ सुबन्धु [कवि] ६१ सुरत्राण [बादशाह] १८, २८, २९, ४७, ४९, सूक्तिकल्पलता [प्रन्थ] ६३, ६४ सुक्तिरताकर [ग्रन्थ] ६३ ६४ सुक्तिसहस्र [ग्रन्थ] ६३, ६४ सुक्तिसुधा [ब्रन्थ] ६३,६४ सूरचन्द्र [मुनि, उपाध्याय] १२, ५४-५६ सुरति बंदर [नगर] ५३ सूर्यसहस्रनाम,-°स्तोत्र [मन्थ] ५३, ५५, ५८, ६०, ६१–६६ सोमेश्वर [कवि] ६४ सौराष्ट्र [देश] १७, १८, २५, ३३, ३५ स्थानसिंह [सा०] ९, २०, ३१ हानर्षि [मुनि] ११, ५५, ५६ हीरसूरि, हीरविजयसूरि ७-९, १२, २१, २२, २५, २७, २८, ३१-३३-५५, ५७ हीराणंदजी [वाचक] ५४

